संस्कृत व्याकरण

बाबूराम त्रिपाठी

263

9047

Sans 92

संस्कृत-व्याकरण
(एम० ए० संस्कृत परीक्षा पाठ्यक्रमानुसार)

संस्कृत-व्याकरणम्

(एम० ए० संस्कृत परीक्षा पाठचक्रम में निर्धारित)

श्री भट्टोजिदीक्षित प्रणीत सिद्धान्त कौमुदी के कारक प्रकरण

तथा

श्री वरदराजाचार्यकृत लघु कौमुदी के कृदन्त, तद्धित,

समास, स्त्री प्रत्यय, तिङन्त प्रक्रिया

प्रकरणों सहित।

डा० बाबूराम त्रिपाठी

शास्त्री, एम' शब्द कुछ दिनों तक पी-एच० डी०

ई प्रक्रिया भाग से भी ाग

कि बिना

सैण्टजोन्स कॉलेज, आगरा

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

प्रकाशक
विनोद पुस्तक मन्दिर
कार्यालय : रांगेय राघव मार्ग, आगरा-२
बिक्री केन्द्र : हॉस्पिटल रोड, आगरा-३

प्रथम

कम्पोजिंग : माया कम्पोजिंग हाउस, आगरा
मुद्रण : रघुनाथ प्रिंटिंग प्रेस, आगरा
[३११२६९१५]

प्राक्कथन

व्याकरण की यह पुस्तक एम० ए० संस्कृत के छात्रों के लाभ की दृष्टि से लिखी गई है। इसमें 'वैयाकरण सिद्धान्त-कौमुदी' एवं 'लघु-सिद्धान्त कौमुदी' का वह अंश संकलित किया गया है जो आगरा विश्वविद्यालय के 'एम० ए० संस्कृत' के पाठ्यक्रम में निर्धारित है। प्रस्तुत पुस्तक में इन संकलित अंशों की सरल हिन्दी भाषा में सोदाहरण व्याख्या की गई है। प्रारम्भ में व्याकरण-शास्त्र का संक्षिप्त परिचय, इसका वैशिष्टच, एवं इसमें प्रयुक्त विविध प्रणालियों, पारिभाषिक शब्दों, विशिष्ट नियमों आदि का विवरण दिया गया है।

विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में 'सिद्धान्त कौमुदी' का 'कारक प्रकरण'; 'लघु सिद्धान्त कौमुदी' के 'कृदन्त', 'तद्धित', 'समास'; 'स्त्री प्रत्यय' एवं 'तिङन्त प्रक्रिया' भाग निर्धारित हैं। 'तिङन्त प्रक्रिया' शब्द कुछ दिनों तक अस्पष्ट बना रहा, फलतः परीक्षा में सम्पूर्ण तिङन्त एवं ण्यन्तादि प्रक्रिया भाग से भी प्रश्न पूछे जाते रहे हैं। सम्भवतः विद्वानों की यह धारणा रही है कि बिना तिङन्त प्रकरण के ज्ञान के प्रक्रिया भाग समझ में आ ही नहीं सकता, क्योंकि प्रायः वे सभी सूत्र, जो कि सामान्यतः प्रक्रिया भाग में काम करते हैं, तिङन्त प्रकरण के ही हैं, अतः प्रक्रिया भाग के अध्ययन के पूर्व तिङन्त का अध्ययन परमावश्यक है। विद्वानों की यह धारणा सर्वथा ठीक ही है, वस्तुतः प्रक्रिया भाग तिङन्त का परिशिष्ट भाग ही है, बिना तिङन्त का अध्ययन किये ण्यन्तादि प्रक्रिया समझ में नहीं आ सकतीं, बिना समझे बूझे रट लेने की बात दूसरी है। इसी बात को और छात्रों की इस महती आवश्यकता को ध्यान में रखकर मैंने प्रस्तुत पुस्तक में 'तिङन्त प्रकरण' भी संक्षिप्त रूप में बढ़ा दिया है। इसमें भ्वादिगण की सभी धातुओं के सभी रूपों की सिद्धि-प्रकार को सूत्र निर्देश पूर्वक समझाया गया है, शेष गणों में यद्यपि सभी धातु रूपों का सिद्धि-प्रकार सूत्र निर्देश पूर्वक ही किया गया है तथापि इन गणों में संक्षिप्तता की ओर विशेष ध्यान रखा गया है। प्रयोगों के पूर्ण सिद्धि-प्रकार के साथ-साथ सभी सूत्रों का अर्थ और उनका उदाहरणों में यथोचित समन्वय भी दिखलाया गया है। जहाँ कहीं आवश्यक समझा गया है वहाँ निर्धारित उदाहरणों के अतिरिक्त अन्य उदाहरण भी दिये गये हैं। इसका कारण यह है कि कभी-कभी प्रश्नपत्रों में ऐसे भी उदाहरण, सिद्धि के लिए पूँछे जाते हैं जो कि निर्धारित पुस्तक में नहीं होते हैं। और यह परीक्षार्थियों के ज्ञान सम्बर्द्धन की दृष्टि

से अत्यावश्यक भी है। प्रायः सभी प्रकरणों में यह ध्यान रखा गया है और इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी दिये गये हैं। 'तिङन्त प्रकरण' के अतिरिक्त कारक आदि अन्य सभी प्रकरणों में प्रायः प्रत्येक उदाहरण की सिद्धि का प्रकार, सूत्र, सूत्रार्थ और उसका समन्वय भी दिखलाया गया है। आवश्यकतानुसार अन्य उदाहरणों द्वारा उनकी पुष्टि भी की गई है।

सूत्रों के अर्थ निर्देश में तथा उसके उदाहरण के साथ समन्वय में भाषा की स्पष्टता एवं सरलता का ध्यान रखा गया है। मूल पाठ के मूलानुवर्ती अनुवाद की अपेक्षा विषय की विशद व्याख्या की ओर ही विशेष ध्यान रखा गया है जिससे कि विषय सरलता से हृदयङ्गम हो सके। जहाँ कहीं आवश्यक समझा गया है वहाँ पाद टिप्पणी द्वारा विषय को या पारिभाषिक शब्दों को मतान्तर सहित स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार की विस्तृत व्याख्यात्मक पद्धति को अपनाते हुए भी, अनावश्यक विस्तार के संकोचन की दृष्टि से पूर्व प्रयोगों में अपनायी गई प्रक्रिया को प्रायः अग्रिम उदाहरणों में नहीं दुहराया गया है अपितु ऐसे स्थलों पर संकेतों से ही काम लिया गया है। संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत पुस्तक में पाणिनीय व्याकरण की पद्धति को सुरक्षित रखते हुए भी उसे नवीन एवं सरल ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में जो सूत्रों के अर्थ तथा उदाहरणों की सिद्धि का प्रकार आदि हिन्दी भाषा के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है, वही केवल अपना है, शेष सब कुछ उन ग्रन्थों का ही है जिनसे इन प्रकरणों को अविकलरूप में उद्धृत किया गया है, इसमें भी जो दोष या अशुद्धियाँ रह गई हैं वे लेखक के ही बुद्धि-भ्रम या बुद्धि-दोष के कारण हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में जिन ग्रन्थों या जिन महानुभावों से कुछ सहायता ली गई है उनका यत्र-तत्र संकेत करते हुए भी उनके प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ। श्री शिवराम आप्टे, श्रीरामचन्द्र काले, श्री श्रीधरानन्द शास्त्री एवं श्री बाबूराम सक्सेना आदि विद्वान् इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं।

इस पुस्तक को, इस रूप में, इतने थोड़े समय में तैयार करने का श्रेय वस्तुतः कुमारी मीरा अग्रवाल एम० ए० को ही है जिन्होंने मेरे निर्देशानुसार, अपने शोध कार्य में व्यस्त रहते हुए भी, बड़ी लगन, रुचि एवं परिश्रम से इस कार्य को सम्पन्न किया है। यतः व्याकरण विषय में उनकी अपने अध्ययन काल से ही विशेष अभिरुचि रही है, अतएव इस कार्य में मुझे उनका पूर्ण सहयोग मिल सका है, और उन्हें भी अपने अधीत विषय को इस रूप में देखकर प्रसन्नता का ही अनुभव हुआ है। आशा है कि उनकी इस प्रकार की रुचि इस क्षेत्र को और अधिक प्रशस्त कर सकेगी।

इस पुस्तक के प्रकाशन आदि का भार, श्री भोलानाथ जी अग्रवाल, संचालक विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा ने ग्रहण किया है, अतः वे भी साधुवाद के भाजन हैं ।

'मुद्रण कार्य में अशुद्धियाँ न रह जायँ" इसका पर्याप्त ध्यान रखा गया है, फिर भी त्रुटियाँ रह सकती हैं, अतः पुस्तक में संशोधन आदि के जो सुझाव विद्वज्जन भेजेंगे उनका कृतज्ञता के साथ स्वागत किया जायेगा ।

गणतंत्र दिवस
२६ जनवरी १९७०

—बाबूराम त्रिपाठी

विषय-प्रवेश

संस्कृत व्याकरण का संक्षिप्त परिचय

यह सर्वविदित है कि संस्कृत भाषा के सम्यक् अध्ययन के लिए संस्कृत व्याकरण का ज्ञान अनिवार्य है। अनिवार्य इसलिए कि बिना व्याकरण-ज्ञान के संस्कृत भाषा का सुचारु रूप से एवं सफलतापूर्वक अध्ययन हो ही नहीं सकता। व्याकरण ही, संस्कृत के कठिन एवं दुरूह शब्द-स्तोम में प्रवेश करने का एकमात्र साधन है, और यही कारण है कि अन्य भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत भाषा में व्याकरण का इतना महत्त्व है और इसीलिए प्रायः समस्त संस्कृत परीक्षाओं में संस्कृत साहित्य के साथ-साथ व्याकरण को पृथक् रूप से एवं अनिवार्य रूप से स्थान दिया गया है। इसकी इसी अनिवार्यता एवं उपयोगिता को दृष्टिगत रखकर ही अनेक व्याकरण ग्रन्थों की रचना विविध पद्धतियों में होती रही है और हो रही है।

व्याकरण-शास्त्र का इतिहास अति प्राचीन है "तैत्तिरीय संहिता में ऐन्द्र-व्याकरण को सर्वप्रथम व्याकरण बताया गया है। इसके अतिरिक्त आचार्य पाणिनि के पूर्व अन्य भी कई प्रसिद्ध वैयाकरण हुए हैं, जैसे—आपि शलि, काशकृत्स्न, शाकल्य भागुरि, शाकटायन आदि। स्वयं आचार्य पाणिनि ने इनका उल्लेख किया है। आचार्य पाणिनि के पूर्व इनके द्वारा रचित व्याकरण-ग्रन्थ अवश्य प्रचलित रहे होंगे। पर आचार्य पाणिनि के द्वारा रचित 'अष्टाध्यायी' नामक ग्रन्थ के उदित होने पर इन उक्त वैयाकरणों के ग्रन्थ नाममात्र को ही शेष रह सके, अर्थात् पाणिनि व्याकरण के सर्वोत्तम एवं सर्वातिशायी वैशिष्ट्य के आगे ये ग्रन्थ टिक न सके और इनका अध्ययनाध्यापन प्रायः अवरुद्ध हो गया। यद्यपि पाणिनि व्याकरण की जटिलता की प्रतिक्रिया स्वरूप कुछ नवीन एवं सरल पद्धति को लेकर लिखे गये, 'कातन्त्र व्याकरण' 'चान्द्र व्याकरण' आदि व्याकरण ग्रन्थ भी प्रकाश में आये, तथापि वे भी पाणिनि व्याकरण के समक्ष अध्ययनाध्यापन में विशेष आदर न पा सके। मध्ययुग में अपनी सरल, संक्षिप्त, एवं नवीन पद्धति के कारण, यद्यपि "मुग्ध बोध व्याकरण" तथा "सारस्वत व्याकरण" भी प्रचलित हुए, तथापि उन्हें सर्वत्र व्यापक रूप न मिल सका, कुछ ही प्रदेशों में इन्हें स्थान मिला और वे कुछ समय तक चलते रहे, आजकल भी यत्र-तत्र "सारस्वत व्याकरण" को पढ़ने वाले एक दो विद्वान् मिल जाते हैं।

इस प्रकार समय-समय पर प्रचलित हुई भी व्याकरण की अनेक पद्धतियों में पाणिनि व्याकरण का ही स्थान सर्वोपरि माना गया है। इसमें सन्देह नहीं, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, पाणिनि-रचित अष्टाध्यायी एक जटिल एवं अतिदुरूह ग्रन्थ है' अतएव इसके प्रकाश में आते ही इस पर टीका ग्रन्थ तथा आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे जाने लगे। इस प्रकार पाणिनि-व्याकरण उत्तरोत्तर विकसित होता गया और आज वह सर्वश्रेष्ठ व्याकरण ग्रन्थ माना जाता है।

वस्तुतः आचार्य पाणिनि—(लगभग ५०० ई० पू०) रचित अष्टाध्यायी-व्याकरण-ग्रन्थ संस्कृत भाषा का एक अनुपम रत्न है। विश्व की किसी भी भाषा का कोई भी व्याकरण ग्रन्थ इसकी समता नहीं कर सकता, अतएव विदेशी विद्वानों ने भी इस व्याकरण ग्रन्थ की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। अष्टाध्यायी में जैसा कि इसके नाम से ही विदित है। आठ अध्याय हैं, जो कि चार-चार पादों में विभक्त हैं, इस प्रकार इस ग्रन्थ में लगभग ४००० सूत्र हैं। पाणिनि की शैली, संक्षिप्त, सांकेतित एवं संयत होते हुए भी वैज्ञानिक है। इसमें क्रमशः संज्ञा, समास, विभक्ति, कृदन्त, स्त्री प्रत्यय, तद्धित, तिङन्त आदि शब्दों पर विवेचनात्मक यथा क्रम सूत्र हैं। अष्टाध्यायी के अतिरिक्त पाणिनि शिक्षा, धातु-पाठ, गण-पाठ भी पाणिनि-कृतियाँ हैं। वस्तुतः "सभी शब्द धातुज होते हैं" इस सिद्धान्त का प्रतिपादन, पाणिनि से भी पूर्व यास्काचार्य कर चुके थे, आचार्य पाणिनि ने इसी का अनुमोदन करते हुए सर्वप्रथम लगभग २००० धातुओं (मूल शब्दांशों) की उद्भावना की थी। इन्हीं धातुओं को आज व्याकरण ग्रन्थों में दश गणों में विभक्त किया गया है। संक्षिप्तता की दृष्टि से आचार्य पाणिनि ने गण-पाठ की भी रचना की थी। जहाँ उन्होंने अनेक शब्दों के विषय में, उनकी सिद्धि के लिए, कोई एक ही प्रकार (प्रत्यय-विधान आदि) बताना चाहा है, वहाँ उन सभी शब्दों का परिगणन न कर उन सभी शब्दों को एक समूह या गण में रखकर किसी एक शब्द को आदि में रखकर एक 'गण' बना दिया है, जैसे 'प्रज्ञादि, शकन्ध्वादि, गण। इस प्रकार संक्षिप्तता की दृष्टि से पाणिनि का गण-पाठ बड़ा ही उपयोगी है।

पाणिनि के वाद लगभग ३०० ई० पू० में कात्यायनि मुनि हुए, जो कि पाणिनि सूत्रों पर 'वार्तिक' लिखने के कारण 'वार्तिककार' नाम से प्रसिद्ध हैं। वार्तिककार वस्तुतः पाणिनि सूत्रों के समालोचक थे, अपनी दृष्टि से जहाँ कहीं भी उन्होंने सूत्रों में कमी देखी वहाँ ही अपना एक नया वार्तिक बना दिया है। यद्यपि इनके उत्तरवर्ती भगवान् पतञ्जलि ने इनके कितने ही वार्तिकों का खण्डन कर सूत्रों को ही मण्डित किया है, फिर भी वार्तिककार की पाणिनि व्याकरण को यह अत्युपयोगी देन है।

भगवान् पतञ्जलि (लगभग २०० ई० पू०) ने पाणिनि व्याकरण पर महाभाष्य लिखा है, जिसमें उन्होंने मुख्य-मुख्य सूत्रों एवं वार्तिकों की व्याख्या एवं विवेचना करते हुए अत्यन्त प्रवाहमयी, सरल, सुबोध एवं अतिरोचक शैली में पाणिनि-

व्याकरण के सूक्ष्म एवं दुर्बोध तत्वों का विश्लेषण किया है। व्याकरण-शास्त्र का यह सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है। पतञ्जलि के इस महाभाष्य के साथ ही पाणिनि-व्याकरण का प्रथम युग समाप्त होता है। स्पष्ट है कि इन तीनों ही के द्वारा व्याकरण-शास्त्र का यह उदात्त, प्रशस्त एवं समृद्ध कलेवर प्रस्तुत हुआ है, अतएव व्याकरण-शास्त्र में ये तीनों 'मुनित्रय' के नाम से विख्यात हैं और विवाद-स्थलों में यथोत्तर मुनि का वचन हो प्रमाण माना जाता है।

व्याकरण-शास्त्र के द्वितीय युग को, जो कि लगभग सप्तम शतक से आरम्भ होता है, टीका युग कहा जा सकता है। इस युग में पाणिनि व्याकरण पर अनेक टीका ग्रन्थ लिखे गये हैं। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध प्रथम टीका वामन और जयादित्य की (६६० ई०) अष्टाध्यायी पर 'काशिकावृत्ति' नामक टीका है। भर्तृहरि (६५० ई०) ने अपने वाक्यपदीय नामक ग्रन्थ में पाणिनि व्याकरण का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया है। काशिकावृत्ति पर भी जिनेन्द्र बुद्धि ने 'न्यास' नामक और हरदत्त ने 'पदमञ्जरी' नामक व्याख्यापरक ग्रन्थ लिखे हैं। महाभाष्य पर भी कैयट ने 'प्रदीप' नामक अति उत्तम टीका लिखकर इस ग्रन्थ को और अधिक सरल बना दिया है।

इसके वाद भी टीका युग यद्यपि चलता ही रहा है, पर इस काल में अब व्याकरण के अध्ययन की पद्धति में कुछ परिवर्तन आ गया है। अब तक तो पाणिनि के सूत्रों के क्रम के अनुसार ही उनकी टीकायें लिखी जाती थीं पर अब विषय विभाग के अनुसार अष्टाध्यायी के सूत्रों को रखकर उनकी वृत्ति, व्याख्या एवं उदाहरण-योजना की जाने लगी थी। कारण, कि इस समय सूत्रों की विवेचना या व्याख्या अथवा समालोचना पर विशेष बल न देकर शब्द सिद्धि की प्रक्रिया पर ही अधिक ध्यान दिया जाने लगा था, अतः विषय विभागानुसार सूत्रों की व्यवस्था करना उपयोगी ही था। इस नई पद्धति को लेकर विमल सरस्वती (१३५० ई०) ने 'रूपमाला' नामक ग्रन्थ की तथा रामचन्द्र (लगभग १५वीं शती। ने 'प्रक्रिया कौमुदी' नामक ग्रन्थों की रचना की थी। पर इस प्रक्रिया युग में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'भट्टोजि दीक्षित' ने लिखा था जो कि आज 'वैयाकरण-सिद्धान्त-कौमुदी' के नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ अपने अपूर्व वैशिष्ट्य के कारण इतना प्रचलित एवं विद्वज्जन-मान्य हुआ कि व्याकरण-शास्त्र के अध्ययन की प्राचीन पद्धति ही लुप्तप्राय हो गई और इसी के साथ ही साथ 'मुग्धबोध' आदि की व्याकरण पद्धति भी। इस सर्वोत्तम ग्रन्थ पर भी अनेक टीकायें लिखी गई हैं। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध टीका 'प्रौढ़ मनोरमा' है। व्याकरण के दार्शनिक विवेचन सम्बन्धी ग्रन्थों में 'वैयाकरण भूषण' उल्लेखनीय है। अष्टाध्यायी पर 'शब्दकौस्तुभ' भी एक उच्चकोटि की रचना है। इस युग को शास्त्रार्थ की ओर ले जाने का सबसे बड़ा श्रेय नागेश भट्ट को है। वास्तव में नागेश एक अद्भुत प्रतिभाशाली विद्वान् थे जिनका अनेक विषयों पर पूर्ण अधिकार था। इन्होंने अनेक मौलिक एवं व्याख्यात्मक ग्रन्थों की रचना की है जिनका

अपना निजी महत्त्व है जैसे—वैयाकरण सिद्धान्त मञ्जूषा, लघुमञ्जूषा, शब्दरत्न, शब्देन्दुशेखर, परिभाषेन्दुशेखर आदि । 'सिद्धान्त कौमुदी, की सबसे अधिक प्रचलित एवं सुबोध टीका परिव्राजकाचार्य ज्ञानेन्द्र सरस्वती की 'तत्त्वबोधिनी' नाम की टीका है ।

'वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी' एक विशाल ग्रन्थ है और वर्षों में अध्येतव्य है । अतः बालकों को व्याकरण-शास्त्र में प्रवेश कराने की दृष्टि से भट्टोजिदीक्षित के शिष्य वरदराजाचार्य ने कुछ अधिक उपयोगी और सरल सूत्रों को लेकर 'लघु सिद्धान्त कौमुदी' और 'मध्य कौमुदी' नामक ग्रन्थों की रचना की है । ये दोनों ग्रन्थ यद्यपि सिद्धान्त कौमुदी के ही संक्षिप्त रूप हैं, फिर भी थोड़े समय में व्याकरण का ज्ञान प्राप्त करने में पूर्ण सहायक हैं ।

पाणिनीय व्याकरण का वैशिष्टच

पाणिनि व्याकरण की अन्य विशेषताओं के साथ-साथ 'संक्षिप्तता' इसकी सबसे बड़ी विशेषता है । आचार्य पाणिनि का ध्यान सदा संक्षेप की ओर ही रहा है । वे व्याकरण के प्रत्येक नियम को सूत्र रूप में ही अति संक्षिप्त करके प्रस्तुत करना चाहते थे । संस्कृत भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था, अतः उनके लिए यह कार्य कठिन भी न था । भाषा की ऐसी समाहार शक्ति स्यात् ही कहीं देखने को मिल सके ।

इसमें सन्देह नहीं कि इन सभी नियमों को अति संक्षिप्त करने में पाणिनि को अनेक विधियों का आश्रय लेना पड़ा है, जिनमें के कुछ का निर्देश नीचे किया जा रहा है ।

(१) प्रत्याहार विधि

प्रत्याहार का प्रथम अक्षर न तो हल होता है और न इत्संज्ञक, पर दूसरा अक्षर अवश्य ही हल् होता है । इन सभी प्रकार के प्रत्याहारों का निर्माण निम्नलिखित १४ माहेश्वर सूत्रों से होता है ।

१. अइउण्, २. ऋलृक्, ३. एओङ् ४. ऐऔच् ५. हयवरट्, ६. लण्, ७. ञमङणनम्, ८. झभञ्, ९. घढधष्, १०. जबगडदश्, ११. खफछठथचटतव्, १२. कपय् १३. शष सर, १४. हल् ।

प्रत्याहार के लिए इन सूत्रों में से किसी सूत्र के अक्षर से अन्तिम हल वर्ण तक के बीच के सभी अक्षर तथा वह प्रथम अक्षर भी प्रत्याहार के अन्तर्गत आते हैं, जैसे—अच् प्रत्याहार के अन्तर्गत 'अइउण्' सूत्र के प्रथम अक्षर 'अ' से लेकर 'ऐ औच्' सूत्र के 'च्' वर्ण तक के सभी वर्ण परिगणित किये जायेंगे अर्थात्, 'अच्' प्रत्याहार में "अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ" इतने वर्ण आयेंगे । इसी प्रकार अन्य अक्, अण्, झल्, आदि प्रत्याहार बनेंगे । इन माहेश्वर सूत्रों के आधार पर बनने वाले प्रत्याहारों की कुल संख्या ४२ है, जिसको आगे लिखी तालिका में देखा जा सकता है—

१ अक्	८ अश्	१५ ऐच्	२२ जश्	२९ भष्	३६ रल्
२ अच्	९ इक्	१६ खय्	२३ झय्	३० मय्	३७ बल्
३ अट्	१० इच्	१७ खर्	२४ झर्	३१ यञ्	३८ वश्
४ अण्	११ इण्	१८ ङम्	२५ झल्	३२ यण्	३९ शर्
५ अण्	१२ उक्	१९ चय्	२६ झश्	३३ यम्	४० शल्
६ अम्	१३ एङ्	२० चर्	२७ झष्	३४ यय्	४१ हल्
७ अल्	१४ एच्	२१ छव्	२८ बश्	३५ यर्	४२ हश्

(२) गणपाठ

जहाँ आचार्य पाणिनि को ऐसे अनेक शब्दों का उल्लेख करने की आवश्यकता हुई, जिनमें केवल एक ही नियम-प्रत्यय विधान आदि—काम करता हो, वहाँ उन्होंने उन सभी शब्दों का उल्लेख न कर उन सबका एक 'गण' बनाकर 'गण' के आदि में आने वाले एक ही शब्द को लेकर सूत्र बना दिया है और इस गण पाठ को अन्त में दे दिया है, जैसे—'गर्गादिभ्यो यञ्' सर्वादीनि सर्वनामानि" आदि। इन सूत्रों में केवल गर्ग और सर्व शब्द पठित हैं, पर वे अपने गण के क्रमशः १०८ और ३५ शब्दों के बोधक हैं।

(३) अनुबन्ध

अष्टाध्यायी में नीचे लिखे वर्णों की इत्संज्ञा की गई है—

१. अन्तिम हल् वर्ण

२. उपदेश में अनुनासिक अच्।

(धातु, आगम, प्रत्यय, आदेश के मूल रूप में स्थित अनुनासिक स्वर)

३. धातु के आदि के ञि टु डु

४. प्रत्यय के पूर्व आने वाले चवर्ग, टवर्ग, षकार

५. तद्धित प्रत्ययों को छोड़कर अन्य प्रत्ययों के आरम्भ में आने वाले ल् श् तथा कवर्ग।

---

१ हलन्त्यम् १।३।३।

२ उपदेशेऽजनुनासिक इत् १।३।२।

३ आदि ञिटुडवः १।३।५।

४ चुटू १।३।७। तथा षः प्रत्ययस्य १।३।६।

५ लशक्वतद्धिते १।३।८।

धातु सूत्र गणोणादि वाक्य लिङ्गानुशासनम्।
आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः॥

यद्यपि इन इत्संज्ञक वर्णों का लोप अवश्य हो जाता है, पर इनके कारण कभी-कभी गुण, वृद्धि, आगम, आदेश आदि भी होते हैं।

(४) अनुवृत्ति

पूर्व सूत्रों से उत्तरवर्ती सूत्रों में किसी पद के अनुवर्तन को अनुवृत्ति कहा गया है। सूत्रों के विस्तार को संक्षिप्त करने की दृष्टि से जहाँ कहीं आवश्यक हुआ है, पूर्व सूत्र पठित शब्द का उत्तरवर्त्ती सूत्र में अनुवर्तन कर उसका उस सूत्र के पदों के साथ अन्वय करके सूत्र का अर्थ पूर्ण कर लिया गया है। इस प्रकार पूर्व सूत्र पठित शब्दों को उत्तरवर्ती सूत्रों में दुहराना नहीं पड़ा है। प्रायः यह अनुवृत्ति निकटवर्ती सूत्रों में ही की गई है पर कभी-कभी मण्डूकप्लुति न्याय से दूरवर्ती सूत्रों में भी की गई है।

(५) संज्ञाएँ और परिभाषाएँ

विस्तार कम करने में संज्ञाएँ तथा परिभाषाएँ बड़ी ही उपयोगी सिद्ध हुई हैं, इनमें से कुछ तो पाणिनि के पूर्व ही बन चुकी थीं और कुछ स्वयं पाणिनि द्वारा ही निर्मिति हुई हैं, उदाहरणार्थ इनमें से कुछ का विवरण नीचे दिया जा रहा है—

(१) गुण—अ, ए, ओ की गुण संज्ञा होती है। (अदेङ् गुणः १।१।२।)

(२) वृद्धि—आ, ऐ, औ की वृद्धि संज्ञा होती है। (वृद्धिरादैच् १।१।१।)

(३) संयोग—दो या दो से अधिक व्यञ्जनों के मेल की संयोग संज्ञा की गई है। (हलोऽनन्तराः संयोगः १।१।७।)

(४) सम्प्रसारण—य् व् र् ल् के स्थान पर आने वाले क्रमशः इ, उ, ऋ, ऌ वर्णों की सम्प्रसारण संज्ञा होती है। (इग्यणः सम्प्रसारणम् १।१।४५।)

(५) लोप—प्रत्यय आदि का अपने स्थान पर न रहना ही प्रकारान्तर से लोप कहा गया है। (अदर्शनं लोपः १।१।६०।)

इसी लोप को स्थान भेद से लुक्, श्लु, लुप् नाम भी दिया गया है। कहीं-कहीं तो प्रत्यय आदि का सम्पूर्ण लोप नहीं होता अपितु उसके किसी एक अनावश्यक अंश का ही लोप होता है।

(६) उपधा

अन्तिम वर्ण से ठीक पहिले वाले वर्ण की उपधा संज्ञा होती है। (अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा १।१।६५।)

(७) पद

सुप् या तिङ् प्रत्ययों से युक्त शब्द की पद संज्ञा होती है, (सुप्तिङन्तं पदम् १।४।१४।) प्रातिपादिक में लगने वाले प्रत्ययों को सुप् तथा धातु में लगने वाले प्रत्ययों को तिङ् कहते हैं। इसके अतिरिक्त सर्वनाम स्थान को छोड़कर 'सु' से लेकर

'कप्' तक के प्रत्ययों में अन्य प्रत्ययों के जुड़ने पर पूर्व शब्द की भी पद संज्ञा होती है। (स्वादिष्व सर्वनामस्थाने १।४।१७।)

(८) प्रातिपदिक

धातु प्रत्यय और प्रत्ययान्त के अतिरिक्त कोई भी अर्थवान् शब्द प्रातिपदिक कहलाता है। (अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १।२।४५।) इनके अतिरिक्त कृदन्त, तद्धितान्त तथा समासान्त पदों की भी प्रातिपदिक संज्ञा होती है। (कृत्तद्धित समासाश्च १।२।४६।)

(९) सर्वनाम स्थान

पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग प्रातिपदिक शब्दों के आगे आने वाले सु, औ, जस्, अम्, औट, ये (विभक्ति) प्रत्यय सर्वनाम स्थान कहे जाते हैं।

(१०) विभाषा

जहाँ पर विकल्प से किसी विधि के होने और न होने की सम्भावना रहती है, वहाँ विभाषा संज्ञा होती है। (न वेति विभाषा १।१।४४।)

(११) निष्ठा

क्त और क्तवतु प्रत्ययों की निष्ठा संज्ञा होती है। (क्तक्तवतू निष्ठा।१।१।२६।)

(१२) संहिता

वर्णों की अति समीपता की संहिता संज्ञा होती है। (परः सन्निकर्षः संहिता १।४।१०९।)

(१३) प्रगृह्य

ईकारान्त, ऊकारान्त, एकारान्त द्विवचन (सुवन्त अथवा तिङन्त) पदों की प्रगृह्य संज्ञा होती है। (ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् १।१।११।)

(१४) सार्वधातुक

तिङ् तथा शित् (जिनमें श् की इत् संज्ञा हो जाती है) प्रत्ययों की सार्वधातुक संज्ञा होती है (तिङ् शित् सार्वधातुकम् ३।४।११३।) इनके अतिरिक्त शेष प्रत्यय आर्धधातुक कहे जाते हैं। (आर्धधातुकं शेषः ३।४।११४।)

(१५) भ संज्ञा

यकारादि और स्वरादि प्रत्ययों के जुड़ने पर पूर्व शब्द की पद संज्ञा न होकर 'भ' संज्ञा होती है (यचिभम् १।४।१८।)

(१६) घु संज्ञा

दाप् और दैप् धातुओं को छोड़कर दा और धा स्वरूप वाली धातुओं की घु संज्ञा होती है (दाधाघ्वदाप् १।१।२०।)

(१७) घ संज्ञा

तरप् और तमप् प्रत्ययों की 'घ' संज्ञा होती है (तरप्तमपौ घः १।१।२३।)

(१८) टि संज्ञा

किसी शब्द के अन्तिम स्वर और यदि उसके वाद कोई व्यञ्जन भी हो तो उस समुदाय की टि संज्ञा होती है। (अचोऽन्त्यादिटि १।१।६४।)

(१९) सवर्ण संज्ञा

जिन वर्णों के तालु आदि उच्चारण स्थान तथा आभ्यन्तर प्रयत्न समान या एक हों वे सवर्ण संज्ञक होते हैं (तुल्यास्य प्रयत्नं सवर्णम् १।१।९।)

(२०) सत् संज्ञा

शतृ और शानच् प्रत्ययों की सत् संज्ञा है (तौ सत् ३।२।१२७।)

(२१) कुछ पारिभाषिक शब्द

संक्षिप्तता की दृष्टि से कुछ पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग किया गया है—

प्रकृति भाव १—जहाँ वर्णों में कोई प्राप्त विकार नहीं होता और वे अपनी पूर्वस्थिति में ही बने रहते हैं, वहाँ प्रकृति भाव कहा जाता है, यथा—गो+अयम्= गो अयम्, हरी एतौ।

एकादेश २—जहाँ दो वर्ण मिलकर एक रूप हो जाते हैं, वहाँ एकादेश कहा जाता है। यथा—गुण वृद्धि आदि रूप एकादेश—रमा+ईशः=रमेशः, एका+एव= एकैव, कार्यालयः।

पूर्वरूप ३—जहाँ पूर्व और पर वर्ण के मिलने पर केवल पूर्ववर्ण ही रह जाता है, पर वर्ण नष्ट हो जाता है, यथा—हरे+अयम्=हरेऽयम्।

पररूप ४—जहाँ पर और पूर्व वर्णों के मिलने पर केवल पर वर्ण ही रह जाता है, पूर्व वर्ण नहीं रहता; यथा—प्र+एजते=प्रेजते।

आगम ५—जहाँ पूर्वतः वर्तमान वर्ण तो बना ही रहता है और अन्य वर्ण का भी आगमन हो जाता है, वहाँ 'आगम' कहा जाता है, यह मित्रवत् होता है।

आदेश ६—जहाँ एक वर्ण के स्थान पर दूसरा वर्ण आकर पूर्व वर्ण का नाश कर देता है, वहाँ 'आदेश' कहा जाता है। यह शत्रुवत् होता है।

संक्षिप्तता की इन कुछ विधियों के अतिरिक्त कुछ अन्य विधियाँ भी हैं, जिनका निर्देश पुस्तक में यथास्थान किया गया है। जैसे—योग विभाग, नियम सूत्र, अपवाद सूत्रादि, पर इस स्थल पर यह भी विचारणीय हो जाता है कि आचार्य पाणिनि ने ऐसी संक्षिप्त विधि क्यों अपनायी और फलतः उनकी अष्टाध्यायी इतनी दुरूह बन गई, इसके सम्भवतः निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

(१) **स्मरण रखने की सुविधा**—विस्तृत व्याख्यात्मक ढंग से कही हुई बात का याद रखना जितना कठिन होता है, सूत्र रूप में कही हुई बात उतनी ही सरल होती है। यदि इन विधियों का उपयोग न किया गया होता तो पाठकों को अधिक शब्द और नियम स्मरण करने पड़ते, फलतः उनके शीघ्र विस्तृत हो जाने की भी सम्भावना रहती। संक्षिप्त नियमों को याद रखने में समय की भी बचत होती है तथा इनकी आवृत्ति करने में भी कम समय लगता है और परिश्रम भी कम होता है।

लेखन सामग्री आदि का अभाव—पाणिनिकाल में लेखन सामग्री तथा मुद्रण यन्त्रादि की भी यही सुविधा न थी जो आज है, अतः अध्ययनाध्यापन प्रायः मौखिक ही चलता था, यह कार्य संक्षेप में ही अधिक सुविधाजनक हो सकता था। दूसरी बात यह भी थी कि इसमें समय, धन, शक्ति आदि की भी बचत थी, इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर यह विधि अपनाई गई होगी।

यद्यपि इस संक्षिप्तता से लाभ तो अवश्य हुआ जैसा कि अभी बताया गया है, पर 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' इस कथन के अनुसार पाणिनि-अष्टाध्यायी में संक्षिप्त नियमों में संक्षेप की अति हो गई जो कि न होनी चाहिए थी, फलतः यह ग्रन्थ इतना दुरूह हो गया कि बिना व्युत्पन्न गुरू की कृपा और सहायता के, यह साधारण पाठकों की पहुँच से बाहर हो गया। पाणिनि व्याकरण के सम्यक् अध्ययन के लिए जहाँ उच्चकोटि के वैयाकरण गुरू की आवश्यकता है वहाँ पाठक के लिए घोर परिश्रम एवं समय की भी अपेक्षा है, बिना इसके व्याकरण-शास्त्र का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः व्याकरण-शास्त्र के अध्ययन की विधि के विषय में नीचे लिखी कुछ बातों पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए—

पाणिनीय व्याकरण में प्रयुक्त संज्ञाओं, परिभाषाओं, पारिभाषिक शब्दों तथा नियमों का एवं संक्षेप करने वाली प्रणालियों का सर्वप्रथम ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए, तदनन्तर ही इसके अध्ययन में प्रवृत्त होना चाहिए।

इन संक्षिप्तीकरण की विधियों को समझने लिये व्युत्पन्न गुरू की कृपा और सहायता प्राप्त करनी चाहिए।

इस स्थल पर संक्षिप्तीकरण की कुछ ही विधियों की चर्चा मात्र की गई है, पाणिनीय व्याकरण सागर के अन्दर प्रवेश करने पर अनेक ऐसी विधियाँ दृष्टिगत होंगी जो कि बड़ी ही जटिल दुरूह, परिश्रम-साध्य एवं समय-साध्य हैं। यथा स्थान इनका ज्ञान भी परमावश्यक है, जैसे—योग विभाग आदि।

कभी-कभी कुछ ऐसे भी प्रयोग मिलते हैं जिनकी सिद्धि यथोपलब्ध सूत्र नियमों से नहीं हो सकती, कुछ प्रत्यय विधान आदि के विषय में भी यही बात देखी जाती है। ऐसे प्रयोगों के साधन के लिए भगवान् पतञ्जलि ने कई सूत्रों में योग विभाग की विधि का निर्देश किया है अर्थात् एक सूत्र के दो भाग करके शब्द सिद्धि का निर्देश किया है।

कभी-कभी कुछ उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जिनकी सिद्धि यथोपलब्ध नियमों के अनुसार नहीं हो पाती, ऐसे प्रयोगों की सिद्धि प्रायः ज्ञापकों द्वारा की गई है अर्थात् पाणिनि आदि आचार्यों के द्वारा किये गये उस प्रयोग रूप ज्ञापक के आधार पर उस प्रयोग को सिद्ध मान लिया गया है। ऐसे अनेक ज्ञापकों का निर्देश व्याकरण-शास्त्र में मिलता है। इसी प्रकार कुत्रचित् इष्टियों से भी काम लिया गया है। जहाँ कहीं कोई बात पाणिनि सूत्रों के नियमों से प्रकट नहीं हो पाती और वह भाष्यकार को अभीष्ट होती है वहाँ वह बात इसीलिए प्रामाणिक मान ली गई है, क्योंकि वह भाष्यकार को अभीष्ट है। कई स्थलों पर इस प्रकार की भाष्येष्टियाँ भी देखी जाती हैं।

व्याकरण-शास्त्र के अध्येता को इन सब बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। इन तथा इसी प्रकार की व्याकरण-शास्त्र में प्रयुक्त अन्य विधियों एवं पारिभाषिक शब्दों का ध्यान रखकर अध्ययन करने पर इस शास्त्र का अल्प समय में ही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। पाठक इससे लाभान्वित होंगे, ऐसी आशा है।

संस्कृत व्याकरणस्थ विषय-सूची

संस्कृत-व्याकरणम्

अथ कारक प्रकरणम्

हिन्दी में जिन शब्दों के आगे, कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान आदि सम्बन्ध दिखाने के लिये, ने, को, से, के लिये आदि कारक चिन्ह जोड़े जाते हैं, उन्हें प्रातिपदिक कहते हैं। ये प्रातिपदिक दो प्रकार के होते हैं :—

१—अव्युत्पन्न प्रातिपदिक।

२—व्युत्पन्न प्रातिपदिक।

वे सार्थक शब्द जिनका किसी धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त से सम्बन्ध नहीं रहता, अव्युत्पन्न प्रातिपदिक कहे जाते हैं और कृत्प्रत्ययान्त, तद्धित प्रत्ययान्त एवं समास प्रत्ययान्त आदि शब्द व्युत्पन्न प्रातिपदिक कहे जाते हैं। इन सभी प्रकार के प्रातिपदिक शब्दों के आगे विविध कारक सम्बन्धों को प्रकट करने के लिये हिन्दी में ने, को, आदि और संस्कृत में सु औ जस्, आदि प्रत्यय जोड़े जाते हैं। इस प्रकार एक ही शब्द के विभिन्न कारकों व वचनों की दृष्टि से कई रूप हो जाते हैं। कर्त्ता कर्म आदि कारकों के ही अर्थ में संस्कृत में प्रथमा द्वितीया आदि विभक्तियों का प्रयोग होता है। विभक्ति शब्द का अर्थ है विभाग अर्थात् कारक सम्बन्धों का विभाग। प्रथमा द्वितीया आदि सात विभक्तियाँ है। इनका प्रयोग किन-किन अर्थों में होता है, यही इस प्रकरण में बतलाया जायेगा।

कारक* उस वस्तु को कहा जाता है जिसका अन्वय (सम्वन्ध) साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप से, वाक्य की क्रिया से हो अर्थात् क्रिया के सम्पादन में जिसका उप-

---

* "क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्" क्रिया से जिसका सम्वन्ध हो उसे कारक कहते हैं। क्रिया का सम्पादन करने वाला कर्त्ता कहलाता है, ऊपर लिखे वाक्य में क्रिया सम्पादक होने से राम, कर्त्ता है। क्रिया का प्रभाव जिस पर पड़ता है वह 'कर्म' कहा जाता है। 'मारना' क्रिया का प्रभाव 'रावण' पर पड़ता है, अतः वह 'कर्म' है। क्रिया के साधन में अत्यधिक सहायक 'करण' कहलाता है, यहाँ 'वाण' करण है। सीता के लिये 'रावण' मारा गया था। अतः 'सीता' सम्प्रदान, 'वन' 'अपादान' लंका में क्रिया पूर्ण हुई थी। अतः लंका अधिकरण कारक है।

योग हो। जैसे, "वन से आकर राम ने सीता के लिए, लंका में रावण को वाण से मारा था"। इस वाक्य में वन, राम, सीता, लंका, रावण, वाण, इन सभी शब्दों का मारना-क्रिया के सम्पादन में साक्षात् या असाक्षात् रूप से उपयोग है, अतः ये सभी कारक कहे जायेंगे। इस प्रकार क्रिया के सम्पादन में ये छः सम्बन्ध होते हैं इन्हीं सम्बन्धों को प्रकट करने के लिये कारकों का प्रयोग होता है। और इन्हीं अर्थों में प्रथमा आदि विभक्तियाँ प्रयुक्त होती हैं।

क्रिया से जिसका सम्बन्ध नहीं होता उसे कारक नहीं कहा जाता है, जैसे:, राम के भाई ने गोपाल को एक पुस्तक दी" इस वाक्य में भाई, गोपाल तथा पुस्तक इन शब्दों का तो देना क्रिया के साथ सम्बन्ध है, परन्तु 'राम' का क्रिया के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः 'राम' को कारक नहीं कहा जा सकता, उसका सम्बन्ध केवल 'भाई' से है क्रिया से नहीं। इसीलिये सम्बन्ध को कारक नहीं कहा जाता। संस्कृत में भी सम्बन्ध मात्र में की जाने वाली षष्ठी विभक्ति कारक विभक्ति नहीं कही जाती, उसका सम्बन्ध किसी अन्य पद से रहता है। अतएव उसे उपपद विभिक्त कहा जाता है, शेष विभक्तियाँ कारक कहलाती हैं। जैसा कि कहा गया है :—

कर्त्ता कर्म च करणं, सम्प्रदानं तथैव च।
अपादानाधिकरणे, इत्याहुः कारकाणि षट्॥

इसी प्रकार 'सम्बोधन' भी कारक नहीं होता, क्योंकि उसका भी सम्बन्ध किसी क्रिया के साथ नहीं रहता।

प्रथमा विभक्तिः

प्रतिपदिकार्थं लिंगपरिमाणवचन मात्रेप्रथमा २।३।४६

नियतो पस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः, मात्र शब्दस्य प्रत्येकं योगः ।

प्रातिपदिकार्थ मात्रे लिंग मात्राधिक्ये परिमाणमात्रे संख्यामात्रे च प्रथमा स्यात् ।

उच्चैः, नीचैः, कृष्णः, श्री, ज्ञानम् ।

प्रातिपदिकार्थेति—सूत्र में पठित मात्र शब्द का प्रत्येक के साथ सम्वन्ध है। अतः केवल प्रातिपदिक अवस्था में किसी शब्द का नियत अर्थ बताने के लिये, अथवा केवल लिङ्ग मात्र का बोध कराने के लिये, अथवा परिमाणमात्र वताने के लिये, अथवा वचन मात्र वताने के लिये प्रथमा विभक्ति का प्रयोग किया जाता है।

नियतेति—'यस्मिन् प्रातिपदिके उच्चारिते यस्यार्थस्य नियमेनोप स्थितिः सोऽत्र प्रातिपदिकार्थो विवक्षित इत्यर्थः। अर्थात् जिस प्रातिपादिक के उच्चारण करने पर जिस अर्थ की नियमतः उपस्थिति होती है, उसे ही प्रातिपदिकार्थ कहते हैं, इसी केवल प्रातिपादिकार्थ के बोधनार्थ प्रथमा विभक्ति का प्रयोग किया जाता है।

वस्तुतः प्रातिपदिक का अर्थ है—सार्थक शब्द, जिसे Base या शब्द की Crude form कह सकते हैं। प्रत्येक सार्थक शब्द स्वभावतः अपना कुछ निश्चित अर्थ अवश्य रखता है जो कि प्रादिपदिकार्थ कहलाता है। पर इस नियत अर्थ को भी प्रकट करने के लिये उस सार्थक शब्द (प्रातिपदिक) के आगे प्रथमा विभिक्त का प्रयोग करना पड़ता है। क्योंकि संस्कृत वैयाकरणों की मान्यता के अनुसार कोई भी सार्थक शब्द (प्रतिपदिक) तब तक प्रयोगार्ह नहीं बन सकता जब तक कि उसके आगे कोई न कोई विभक्ति, प्रत्यय न लगा दिया जाय अर्थात् कोई सार्थक भी शब्द तब तक अपना अर्थ बोध नहीं करा सकता जब तक कि उसके आगे सुप् या तिङ् प्रत्यय जोड़कर उसे पद न बना लिया जाय। केवल शब्द मात्र का प्रयोग संस्कृत वैयाकरणों की दृष्टि में निरर्थक है, उसका प्रयोग न करना चाहिये "अपदं न प्रयुञ्जीत"।

अलिंगा नियत लिंगाश्च प्रातिपदिकार्थमात्र इत्यस्योदाहरणम् ।

अनियतलिंगास्तु लिंगमात्राधिक्यस्य । तटः, तटी, तटम् । परिमाणामात्रे, द्रोणो व्रीहिः । द्रोण रूपं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरित्यर्थः । प्रत्ययार्थे परि-

---

उदाहरणार्थं यदि केवल 'कृष्ण' कहें तो वैयाकरणों की दृष्टि में यह निरर्थक होगा 'कृष्णः' यही सार्थक प्रयोगार्ह् और अर्थ बोधक्षम कहा जायेगा । इसीलिये केवल शब्द का नियत अर्थ बोध कराने के लिये प्रथमा विभक्ति का प्रयोग किया जाता है। यही कारण है कि संस्कृत वैयाकरणों ने अव्यय शब्दों में भी विभक्ति कल्पना कर उसका लोप किया है.। उच्चैः नीचैः आदि अव्ययों में भी इसी कारण विभक्ति कल्पना कर फिर 'अव्ययादाप्सुपः सूत्र से उसका लोप किया है । अन्यथा अव्यय भी निरर्थक ही होते ।

अलिंगा इतिः—केवल प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा विभक्ति के वे ही उदाहरण हो सकते हैं जो कि अलिङ्ग हों अर्थात् जिनसे किसी विशेष लिङ्ग का बोध न होता हो, जैसे—अव्यय—उच्चैः नीचैः आदि । तथा वे शब्द भी प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा विभक्ति के उदाहरण होते हैं जो नियत (निश्चित) लिङ्ग हों अर्थात् जिनके अर्थ के साथ ही किसी न किसी लिङ्ग का नियत रूप से बोध होता है, जैसे 'कृष्णः' यह शब्द केवल पुल्लिङ्ग है (यद्यपि नीलद्रव्य अर्थ में यह शब्द भी अनियत लिङ्ग है तथापि वासुदेव भगवान् अर्थ में नित्य पुल्लिङ्ग होने से नियतलिङ्ग है) 'श्रीः' नित्य स्त्री लिङ्ग तथा 'ज्ञानम्' नित्य नपुंसक लिङ्ग वाची है । इसी प्रकार रामः लक्ष्मीः फलम् आदि शब्द नियत लिङ्ग होने से प्रातिपदिकार्थ मात्र के उदाहरण हैं । "उच्चैः नीचैः" ये दोनों अलिङ्ग अव्यय हैं । इनकी प्रकृति है 'उच्चैस् नीचैस्' (प्रातिपदिक) पर इनके अर्थ ज्ञान के लिये इनके आगे प्रथमा विभक्ति के 'सु' प्रत्यय लगाने पड़ेगे और फिर उच्चैस्+सु, नीचैस्+सु ऐसी स्थिति होने पर 'सु' प्रत्यय का लोप कर इन को पद बनाया जायेगा । पद बनाने का फल यह होता है कि इनके आगे 'स्' के स्थान में रुत्व विसर्ग हो जाते हैं और तब इनका 'उच्चैः नीचैः' इस रूप में वाक्य में प्रयोग होता है । 'कृष्णः श्रीः ज्ञानम्' नियत लिङ्ग के उदाहरण हैं, क्योंकि इनसे अपने लिङ्ग का बोध नियत रूप से होता है अतः इनके अर्थ बोधनार्थ इनके आगे प्रथमा विभक्ति का प्रयोग किया गया है ।

अनियतलिंगास्तु इति—प्रातिपदिकार्थ के अतिरिक्त लिङ्गमात्र का बोध कराने के लिये भी प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होता है । इसके उदाहरण वे शब्द हैं जो कि अनियत लिङ्ग है । अर्थात् जिन शब्दों का कोई विशेष लिङ्ग निश्चित नहीं है, जैसे तटः, तटी, तटम् अर्थात् तट शब्द का प्रयोग अनियमित रूप से तीनों लिङ्गों में हो सकता है । 'लिङ्गमात्राधिक्यस्य' का तात्पर्य है कि ऐसे अनियतलिङ्ग शब्दों से प्रातिपदिक के अर्थ के बिना केवल लिङ्गमात्र की प्रतीति तो हो नहीं सकती । अतः लिङ्ग मात्र का अर्थ 'लिङ्ग मात्र का अधिक बोध कराना' समझना चाहिये । अतः 'तटः

माणे प्रकृत्यर्थोऽभेदेन संसर्गेण विशेषणम् । प्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्य परिच्छेदकभावेन व्रीहौ विशेषणमिति विवेकः ।

वचनं संख्या । एकः द्वौ वहवः । इहोक्तार्थत्वाद्विभक्तेरप्राप्तौ वचनम् ।

तटी तटम्' ये शब्द अपना नियत अर्थ 'किनारा' का वोध कराने के साथ-साथ पुल्लिङ्ग आदि अधिक अर्थ का भी वोध कराते हैं। यदि सूत्र में लिङ्ग मात्र के अर्थ के अधिक वोध कराने के लिये 'लिङ्ग' शब्द का प्रयोग न किया गया होता तव तो ऐसे शब्दों से केवल प्रातिपदिक (तट) का ही 'किनारा' यह अर्थ वोधित होता क्योंकि ये शब्द तो अनियत लिंग हैं। इनका नियत लिंग एक तो हो नहीं सकता। अतः केवल अधिक लिंग का बोध कराने के लिये इनसे प्रथमा विभक्ति का प्रयोग किया जाता है।

परिमाण मात्र इति—इसी प्रकार उक्त रीति से परिमाण मात्र अधिक अर्थ बोधन के लिये भी प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होता है जैसे "द्रोणो व्रीहिः"। यहाँ द्रोण का अर्थ है, द्रोण परिमाण। द्रोण-एक विशेष तौल का नाम है जो कि एक सेर के बरावर होता है अतः 'द्रोणो व्रीहिः का अर्थ है—एक सेर बरावर तौल से तुला हुआ चावल। यहाँ द्रोण शब्द के आगे प्रयुक्त प्रथमा विभक्ति सामान्य परिमाण (तौल) अर्थ वोधन के लिये है। द्रोण शब्द का प्रातिपदिकार्थ तो परिमाण विशेष (एक सेर) है। अतएव यहाँ द्रोण (प्रकृति) का अर्थ (परिमाण विशेष), प्रथमा विभक्ति के 'सु' प्रत्यय का अर्थ (सामान्य परिमाण) के साथ अभेद सम्बन्ध से अन्वित होकर फिर व्रीहि के साथ परिच्छेद्य परिच्छेदक भाव सम्बन्ध से अन्वय प्राप्त करता है और तब 'द्रोणो व्रीहि' का अर्थ होता है—द्रोण रूप परिमाण विशेष से तुला हुआ चावल। तात्पर्य यह कि यहाँ पहिले द्रोण विशेष (प्रकृत्यर्थ) और परिमाण सामान्य (प्रत्ययार्थ) का अभेदान्वय होता है तदनन्तर द्रोण रूप परिमाण का व्रीहि के साथ परिच्छेद्य परिच्छेदक भाव से अन्वय होता है। इस प्रकार यहाँ सामान्य परिमाण रूप अधिक परिमाण वोधनार्थ प्रथमा विभक्ति का प्रयोग हुआ।

वचन मिति—इसी प्रकार वचन (संख्या) मात्र अर्थ को वोध कराने के लिये प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होता है। जैसे, एकः द्वौ वहवः। यहाँ संख्या मात्र वोधनार्थ प्रथमा विभिक्त का प्रयोग होता है। यदि सूत्र में (वचन) शब्द का ग्रहण न करते तो इन शब्दों के आगे प्रथमा विभक्ति नहीं आ सकती थी। क्योंकि क्रमशः एकत्व द्वित्व वहुत्व जो इन शब्दों का नियत अर्थ है जिसके वोधनार्थ प्रथमा विभक्ति का प्रयोग किया जाता है वह तो इन शब्दों का ही अर्थ है और जब इन शब्दों से ही संख्या अर्थ, प्रकट हो जाता है तो फिर "उक्तार्थानाम प्रयोगः" (उक्त अर्थों का पुनः प्रयोग नहीं होता) इस न्याय से प्रथमा विभक्ति का प्रयोग नहीं होना चाहिये था।

सम्बोधने च । २।३।४७

इह प्रथमा स्यात् । हे राम । इति प्रथमा ।

इसीलिए सूत्र में 'वचन' शब्द का ग्रहण लिया गया है जिससे कि संख्या वाचक शब्दों के आगे भी प्रथमा विभक्ति आ सके ।*

सम्बोधने चेति—सम्बोधन में भी प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होता है जैसे हे राम, यहाँ प्रथमा विभक्ति का प्रत्यय सु आता है सम्बोधन में सु का लोप होने पर 'हे राम' यह प्रयोग होता है । सम्बोधन का अर्थ है, अच्छी तरह समझाना, जब वक्ता अपनी बात सुनने के लिये श्रोता को बुलाकर अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है उसी समय श्रोता वक्ता की ओर सावधान होकर सुनता है । इस प्रकार प्रथमा विभक्ति विधान के ये दो ही सूत्र पाणिनि व्याकरण में उपलब्ध होते हैं ।

(यहाँ यह शंका, कि प्रथमा विभक्ति के तो उपर्युक्त केवल दो ही सूत्र हैं पर इनसे भिन्न स्थलों में जैसे कर्तृवाच्य वाक्यों में कर्त्ता में तथा कर्मवाच्य वाक्यों में कर्म में जो प्रथमा विभक्ति होती है उसका विधान किस सूत्र से होगा, न होना चाहिये क्योंकि संस्कृत भाषा में वाक्य से प्रधानता क्रिया पद की होती है, इस क्रिया से सम्बन्ध रखने वाला ही कारक कहलाता है अतः इस क्रिया के साथ जिस शब्द का जैसा अन्वय होगा वह शब्द वैसा कारक अपने आप समझ लिया जायगा । वाक्य में प्रयुक्त क्रिया, काम का करने वाला या जिससे वह काम होगा अपने आप कर्त्ता समझ लिया जायगा और क्रिया के अनुसार ही उसमें प्रथमा विभक्ति या कर्मवाच्य वाक्यों में कर्म में प्रथमा विभक्ति समझ ली जायगी । अतः इसका अलग विधान नहीं किया गया है ।

* यद्यपि वैयाकरणों के "पञ्चकं प्रातिपदिकार्थः" इस वचन के अनुसार जाति, व्यक्ति, लिंग, वचन और कारक ये पाँच अर्थ प्रातिपदिक के होते हैं । तथापि यहाँ प्रातिपदिकार्थ से जाति व व्यक्ति का ही ग्रहण है, क्योंकि सूत्र में लिंग व संख्याअर्थ में प्रथमा विभक्ति का पृथक विधान किया गया है । अतः यहाँ प्रातिपदिकार्थ से केवल जाति व व्यक्ति का ही ग्रहण किया जायगा । वास्तव में प्रातिपदिक के उच्चारण से इन्हीं दो (जाति व व्यक्ति) की उपस्थिति नियत रूप से होती है, लिंग आदि की प्रतीति तो अनिश्चित रहनी है कहीं पुल्लिग की प्रतीति, कहीं स्त्री लिंग, और कहीं नपुंसक लिंग की प्रतीति होती है । इसी प्रकार संख्या व कारकों की भी प्रतीति निश्चित नहीं रहती, एक ही शब्द से कहीं एकत्व की, कहीं द्वित्वादि की प्रतीति होती है, इसी प्रकार कहीं कर्त्ता की कहीं कर्मादि की प्रतीति होती है । इसीलिये प्रातिपदिकार्थ से केवल जाति व व्यक्ति का ही ग्रहण किया गया है ।

वस्तुतः केवल लिंग की प्रतीति नहीं हो सकती है, क्योंकि सभी शब्दों में लिंग के पहले जाति और व्यक्ति की प्रतीति अवश्य ही रहती है। अतः एक लिंग मात्र में प्रथमा विभक्ति विधान से यह तात्पर्य है कि जहाँ जाति और व्यक्ति अर्थ से अधिक यदि किसी की प्रतीति हो तो वह लिंगमात्र की हो, इसी लिंग मात्राधिक्य में प्रथमा विभक्ति का विधान किया गया है।

इति प्रथमा

द्वितीया विभक्ति

कारके १।४।२३।। इत्यधिकृत्य ।

कर्तुरीप्सिततमं कर्म १।४।४६।।

कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्म संज्ञं स्यात् ।

कर्तुः किम्—माषेष्वश्वं वध्नाति । कर्मणः ईप्सिता माषा न तु कर्तुः ।

कारके इति—इस सूत्र द्वारा 'कारक' का अधिकार कर (आगे के सूत्रों द्वारा कारकों की कर्म आदि संज्ञायें की गई हैं ।

कर्तुरितिः—वाक्य में प्रयुक्त क्रिया द्वारा कर्त्ता जिस पदार्थ को सबसे अधिक चाहता है, उसकी कर्म* संज्ञा होती है, अर्थात् वाक्य में प्रयुक्त पदार्थों में से कर्त्ता अपनी क्रिया के द्वारा जिस पदार्थ की सब से अधिक इच्छा करता है उसे ही कर्म कहते हैं । तात्पर्य यह कि कर्त्ता जिस क्रियान्वित पदार्थ को अपने व्यापार द्वारा प्राप्त करने के लिये सबसे अधिक चाहता है उसे कर्म कहते हैं । यथाः—कृष्णः गोपालस्य ग्रामात् अश्वम् आनयति" वाक्य में कर्त्ता व क्रिया के अतिरिक्त गोपाल ग्राम और अश्व में तीन पदार्थ हैं परन्तु कर्त्ता (कृष्णः) को आनयन क्रिया द्वारा अश्व ही अभीष्टतम है, अन्य नहीं, अतः अश्व की ही कर्म संज्ञा होगी ।

कर्तुः किमिति—यदि वाक्यगत कोई पदार्थ कर्त्ता को इष्टतम न होकर किसी

---

* कर्म का सामान्य लक्षण होता है कि "जिस वस्तु या व्यक्ति पर क्रिया का फल समाप्त हो, उसे कर्म कहते हैं" किन्तु वह घर जाता है, इस वाक्य में यद्यपि जाना क्रिया का फल 'घर' पर समाप्त होता है, तथापि वह साधारणतः कर्म नहीं माना जाता और न 'जाना क्रिया' सकर्मक ही है, अतः ऐसे 'घर' आदि शब्दों को, जो साधारण नियमानुसार कर्म नहीं बन सकते, कर्म बनाने के लिये विशेष नियमों का विधान किया गया है । अर्थात् गम् विश् आदि क्रियाओं के योग में कर्म विधान के लिये विशेष नियमों का निर्देश किया गया है ।

तमब्‌ ग्रहणं किम्‌—पयसा ओदनं भुङ्क्ते। कर्मेत्यनुवृत्तौ पुनः कर्मग्रहण माधारनिवृत्त्यर्थम्‌, अन्यथा गेहं प्रविशतीत्यत्रैव स्यात्‌।

अनभिहिते २।३।१।। इत्यधिकृत्य।

कर्मणि द्वितीया २।३।७।।

अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात्‌। हरिं भजति। अभिहिते तु कर्मणि प्रातिपदिकार्थमात्र इति प्रथमैव। अभिधानं तु प्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैः। तिङ्—हरिः सेव्यते। कृत्—लक्ष्म्या सेवितः। तद्धितः—शतेन क्रीतः शत्यः। समासः—प्राप्त आनन्दो यं स प्राप्तानन्दः।

अन्य कर्म आदि को इष्टतम होगा तो उसकी कर्म संज्ञा न होगी, जैसे, "माषेष्वश्वं-बध्नाति—उड़दों में (उरद के खेतों में) अश्व को बाँधता है। इस वाक्य में माष और अश्व दो पदार्थ हैं पर कर्त्ता को इष्टतम पदार्थ बन्धन क्रिया के द्वारा अश्व ही है जिसे वह बाँधना चाहता है न कि माष। माष अश्व को भले ही इष्ट हों पर कर्म संज्ञा तो कर्त्ता द्वारा इष्टतम पदार्थ की ही होगी, न कि कर्म आदि के इष्टतम पदार्थ की। अतः यहाँ अश्व की ही कर्म संज्ञा होगी, माष की नहीं। कर्म निर्धारण में कर्त्ता की इच्छा का ही प्राधान्य देखा जाता है कर्म आदि की इच्छा का नहीं।

तमबिति—सूत्र में ईप्सित शब्द के आगे तमप् प्रत्यय के प्रयोग करने का प्रयोजन यह है कि जो वस्तु कर्त्ता को अधिक प्रिय होगी इसी की कर्म संज्ञा होगी अन्य की नहीं, जैसे, "पयसा ओदनं भुङ्क्ते" (दूध के साथ चावल खाता है) इस वाक्य में कर्त्ता को इष्टतम पदार्थ ओदन ही है, इसीलिये ओदन की ही कर्म संज्ञा होगी पयस् की नहीं, क्योंकि यद्यपि पयस् भी कर्त्ता को इष्ट है पर इष्टतम नहीं। दूध पेय पदार्थ है, भोज्य नहीं, यह तो भोजन क्रिया का साधन मात्र है।

कर्मेत्यनु वृत्ताविति—जब कि "अधिशीङ्स्थासां कर्म" इस सूत्र से 'कर्म' इस शब्द की अनुवृत्ति (आवश्यकतानुसार दूसरे पूर्ववर्ती सूत्रों से अन्य पदों को ले आना) हो ही सकती थी, तो फिर उक्त सूत्र में कर्म ग्रहण का प्रयोजन है कि उक्त सूत्र से कर्म के साथ-साथ आधार की भी, जिसकी कि वहाँ कर्म संज्ञा होती है, आवृत्ति न चली आवे। यदि ऐसा होगा, तब तो आधार की ही कर्म संज्ञा होने से 'गेहं प्रविशति' इत्यादि वाक्यों में 'गेहम्' इत्यादि आधारभूत शब्दों की ही कर्म संज्ञा हो सकेगी, पर 'हरिम् भजति' इत्यादि वाक्यों में 'हरिम्' आदि में कर्म संज्ञा न हो सकेगी। क्योंकि 'हरिम्' तो आधार नहीं, अतएव सूत्र में 'कर्म' ग्रहण किया गया है जिससे कि "हरिम् भजति" जैसे वाक्यों में भी कर्म संज्ञा हो सके।

अनभिहिते इति—अनभिहित (अनुक्त-अकथित) अर्थ में, इसका अधिकार कर अर्थात् आगे के सूत्रों में इसका अधिकार मानकर—

कर्मणीति—अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। अर्थात् तिङ् आदि प्रत्ययों के द्वारा अकथित कर्म में द्वितीया होती है। कर्तृवाच्य वाक्यों में कर्म सदा

क्वचिन्निपातेनाभिधानम्, यथा विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् । साम्प्रतमित्यस्य हि युज्यत इत्यर्थः ।

तथायुक्तं चानीप्सितम् ।१।४।५७ ।

ईप्सिततमवत्क्रियया युक्तम नीप्सितमपि कारकं कर्म संज्ञं स्यात् । ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति । ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते ।

अनुक्त रहता है अतः उसमें द्वितीया विभक्ति होती है । "हरि भजति" इस वाक्य में भजन क्रिया द्वारा कर्त्ता (भक्त) को इष्टतम कारक है 'हरि' अतः उसकी कर्म संज्ञा होकर प्रस्तुत सूत्र से उसमें द्वितीया विभक्ति हुई है और उक्त कर्त्ता में प्रातिपदिकार्थ इत्यादि नियम से प्रथमा ही होगी ।

अभिधानमिति—प्रायः तिङ्, कृत्, तद्धित और समास से कर्म आदि कारक उक्त होते हैं । 'हरिः सेव्यते' यहाँ कर्म वाच्य में तिङ् (ते) से कर्म के उक्त हो जाने से (हरिः) में प्रथमा विभक्ति है । 'लक्ष्म्या सेवितः' यहाँ कर्मवाच्य में 'सेव्' धातु से क्त प्रत्यय के द्वारा कर्म के उक्त होने से 'हरिः' में प्रथमा विभक्ति है ।

शतेन क्रीतः शत्यः (सौ से खरीदा हुआ) 'शत्यः' इसमें क्रीतार्थक तद्धित यत् प्रत्यय द्वारा कर्म के उक्त हो जाने से प्रथमा विभक्ति है । प्राप्तः आनन्दः यं स प्राप्तानन्दः । इस उदाहरण में प्राप्त और आनन्द पदों में द्वितीयार्थ में बहुव्रीहि समास है अतः यहाँ अन्य पदार्थ (जन मनुष्य आदि) कर्म के समास द्वारा उक्त हो जाने से (प्राप्तानन्दः) इस समासान्त पद में प्रथमा विभक्ति हुई है ।

क्वचिदिति—कहीं-कहीं निपात (च वा आदि की निपात संज्ञा है ।) के द्वारा भी कर्म के उक्त हो जाने से उसके योग में प्रथमा विभक्ति होती है । यहाँ 'साम्प्रतम्' यह एक निपात है । जिसका अर्थ है उचित । असाम्प्रतम्—अनुचित । यद्यपि विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्—"विषवृक्ष को भी बढ़ाकर स्वयं काटना उचित नहीं" इस वाक्य में सम्वर्ध्य क्रिया का कर्म विष वृक्ष है तथापि यह 'असाम्प्रतम्' इस निपात द्वारा उक्त हो गया है अतः यहाँ विष वृक्ष के आगे प्रथमा विभक्ति हुई है ।

तथायुक्तमिति—उन पदार्थों की भी जो कर्त्ता द्वारा अनीप्सित (न चाहे हुए) भी होकर कर्त्ता के इष्टतम पदार्थ की तरह ही क्रिया से जुड़े रहते हैं, कर्म संज्ञा होती है । "ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति" गाँव को जाता हुआ तिनके को स्पर्श करता है । इस वाक्य में तृण उपेक्ष्य (जिसके प्रति कर्त्ता उदासीन हो) अनीप्सित है, तथापि वह स्पृश् क्रिया से उसी भाँति जुड़ा हुआ है जिस भाँति कर्त्ता का इष्टतम पदार्थ ग्राम, अतएव उसकी भी ग्राम के समान ही कर्मसंज्ञा उक्त सूत्र से होती है और 'कर्मणि द्वितीया' सूत्र से दोनों में द्वितीया विभक्ति भी होती है । इसी प्रकार "ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते" "चावल खाता हुआ विष खाता है" इस वाक्य में भोजन क्रिया द्वारा कर्त्ता का इष्टतम पदार्थ ओदन है पर ओदन के समान ही विष भी (कर्ता द्वारा अनीप्सित होता हुआ भी) भोजन क्रिया के साथ सम्बद्ध है अतः ओदन के

अकथितं च । १।४।५१

अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् ।

दुह्याच् पच् दण्ड् रुधि प्रच्छिचिब्रूशासुजिमथमुषाम् ।

कर्ममुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम् ॥

दुहादीनां द्वादशानां तथा नीप्रभृतीनां चतुर्णां कर्मणा यद्युज्यते तदेवाकथितं कर्मेति परिगणनं कर्तव्यमित्यर्थः । गां दोग्धि पयः ।

समान ही विष शब्द की भी कर्म संज्ञा है । अतः दोनों में 'कर्मणि द्वितीया' सूत्र से द्वितीया विभक्ति हुई है ।

(अनीप्सित पदार्थ दो प्रकार का हो सकता है, उपेक्ष्य एवं द्वेष्य । उक्त उदाहरणों में 'तृण' उपेक्ष्य रूप अनीप्सित है और 'विष' द्वेष्य रूप अनीप्सित है । अतः अनीप्सित पदार्थ चाहे उपेक्ष्य, चाहे द्वेष्य हो, क्रिया से सम्बद्ध होने पर उनमें द्वितीया विभक्ति होती है ।)

अकथितं चेति—अपादान आदि के द्वारा अविवक्षित (जो कहने के लिए इष्ट न हो) कारक अकथित* कहलाता है और उसकी भी कर्म संज्ञा होती है । पर यह नियम निम्नलिखित कारिका में परिगणित धातुओं के लिए ही है :—

"दुह्याच् पच् दण्ड् रुधि प्रच्छ चिब्रूशासुजिमथ्मुषाम् ।
कर्ममुक् स्यादकथितं च तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम् ।

दुहादीनामितिः—अर्थात् दुह, (दुहना) याच् (मांगना) पच् (पकाना) दण्ड् (दण्ड देना) रुध् (रोकना) प्रच्छ् (पूँछना) चिञ् (चुनना) ब्रू (कहना) शास् (शासन करना) जि (जीतना) मथ् (मथना) मुष् (ठगना) नी (ले जाना) हृ (चुराना) कृष् (खींचना) वह् (ले जाना या ढोना) इस प्रकार दुह आदि १२ और नी आदि चार इन १६ धातुओं के कर्म से जिस पदार्थ का सम्बन्ध होता है, वह अकथित (अविवक्षित) कहा जाता है

---

* जहाँ किसी पदार्थ (शब्द) से अपादान आदि कारकों का अर्थ प्रकट होता भी हो, पर वक्ता उसका प्रयोग नहीं करना चाहता हो, तो वह कारक अविवक्षित कहलाता है और इस अविवक्षित कारक की भी कर्म संज्ञा होती हैं । 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' सूत्र से जिस शब्द में कर्म संज्ञा का विधान किया जाता है वह प्रधान कर्म कहलाता है पर अविवक्षित कारक में जहाँ 'अकथितं च' सूत्र से कर्म संज्ञा का विधान किया जाता है वह गौण (अप्रधान) कर्म कहलाता है । वस्तुतः कई एक ऐसी क्रियायें हैं जिनके मुख्य कर्मों के साथ कुछ अन्य पदार्थ भी सम्वद्ध होते हैं जो कर्म के अतिरिक्त अन्य कारकों का अर्थ द्योतित करते हैं । ऐसे ही पदार्थ गौण कर्म मान लिये गये हैं और उनमें प्रधान कर्म की भाँति द्वितीया विभक्ति का विधान किया गया है ।

बलिं याचते वसुधाम् । तण्डुलानोदनं पचति । गर्गान् शतं दण्डयति । व्रजमव् रुणद्धि गाम् । माणवकं पन्थानं पृच्छति । वृक्षमव चिनोति फलानि । माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा । शतं जयति देवदत्तम् । सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति । देवदत्तं शतं मुष्णाति ।

और यह अकथित पदार्थ ही इन धातुओं के मुख्य कर्म से सम्बद्ध होने के कारण गौण कर्म कहा जाता है, फलतः प्रधान कर्म की 'कर्तु रीसिततमं कर्म' से कर्म संज्ञा तथा गौण कर्म की 'अकथितं च' सूत्र से कर्म संज्ञा होती है और दोनों ही में 'कर्मणि द्वितीया' सूत्र से द्वितीया विभक्ति' होती है। जैसे—**'गां दोग्धि पयः'** गाय से दूध दुहता है। इस वाक्य में यद्यपि गाय, सामान्य नियम के अनुसार अपादान कारक है, तथापि वह वक्ता द्वारा अविवक्षित है तथा गाय यहाँ अवधिभूत अपादान में नहीं अपितु निमित्त रूप में विवक्षित है। अतः 'अकथितं च' इस सूत्र के नियम के अनुसार 'गाय' की कर्म संज्ञा होकर उसमें द्वितीया विभक्ति होगी। पर यदि अपादान की विवक्षा होगी तो पंचमी विभक्ति होकर 'गोः दोग्धि पयः' ऐसा प्रयोग होगा।

इसी प्रकार निम्नलिखित अन्य उदाहरणों में गौण कर्म में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग है :—

बलिं याचते वसुधाम्—'बलि से पृथिवी मांगता है' यहाँ बलि शब्द में अपादान की अविवक्षा कर गौण कर्म में द्वितीया विभक्ति की गई है। अपादान विवक्षित होने पर 'बलेः याचते वसुधाम्'—प्रयोग होगा। इसी प्रकार 'अविनीतं विनयं याचते' यहाँ चतुर्थी की अविवक्षा की गई है। वस्तुतः यहाँ याच् धातु का मुख्य कर्म ''अविनीत'' है, और 'विनय' शब्द में चतुर्थी की अविवक्षा कर द्वितीया की गई है। सम्प्रदान की विशेष विवक्षा होने पर 'अविनीतं विनयाय याचते" यह प्रयोग भी होगा।

तण्डुलानोदनं पचति—चावलों से (अथवा चावलों का) भात पकाता है, यहाँ तण्डु लशब्द के करण कारक की अविवक्षा कर उसे गौण कर्म मानकर 'तण्डुलान्' में द्वितीया हुई है।

गर्गान् शतं दण्ड यति—गर्गों से सौ रुपया दण्ड लेता है। यहाँ गर्ग शब्द में अपादान की अविवक्षा कर द्वितीया विभक्ति है।

व्रजमव रुणद्धि गाम्—व्रज (वाड़ा) में गाय को रोकता है। यहाँ अधिकरण की अविवक्षा कर 'व्रजम्' में द्वितीया विभक्ति की गई है।

माणवकं पन्थानं पृच्छति—बालक से मार्ग पूँछता है। यहाँ अपादान की अविवक्षा कर 'माणवकम्' में द्वितीया है।

वृक्ष मव चिनोति फलानि—वृक्ष से फलों को चुनता है। यहाँ अपादान की अविवक्षा कर 'वृक्षम्' में द्वितीया विभक्ति है।

ग्राम मजां नयति हरति कर्षति वहति वा। अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा। वलिं भिक्षते वसुधाम्। माणवकं धर्मं भाषते, अभिधत्ते, वक्तीत्यादि। कारकं किम्-माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति।

माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा—बालक के लिये धर्म को कहता अथवा उपदेश करता है। यहाँ 'माणवकम्' में द्वितीया है।

शतं जयति देवदत्तम्—देवदत्त से सौ रुपये जीतता है। यहाँ अपादान की अविवक्षा कर 'देवदत्तम्' में द्वितीया हुई है।

सुधां क्षीर निधिं मथ्नाति—अमृत के लिये क्षीर सागर मथता है। यहाँ सम्प्रदान की अविवक्षा कर 'सुधाम्' में द्वितीया हुई है।

देवदत्तं शतं मुष्णाति—देवदत्त से सौ रुपये ठगता है। यहाँ अपादान की अविवक्षा कर 'देवदत्तम्' में द्वितीया विभक्ति है।

ग्राम मजां नयति हरति कर्षति वहति वा—गाँव में बकरी को ले जाता है, यहाँ अधिकरण की अविवक्षा कर 'ग्रामम्' में द्वितीया है।

अर्थेति—'अकथितं च' इस सूत्र से जो 'दुह' आदि द्विकर्मक धातुओं में अप्रधान कर्म की कर्म संज्ञा का विधान किया जाता है, वह संज्ञा अर्थ के आश्रित है अर्थात् दुह, आदि धातुओं के समान अर्थ वाली अन्य भी द्विकर्मक धातुओं में अपादानादि की अविवक्षा होने पर गौण कर्म की कर्म संज्ञा होती है, फलतः **'वलिं भिक्षते वसुधाम्'** इस उदाहरण में याच् धातु के समानार्थक भिक्ष् धातु के योग में भी, तथा **'माणवकं धर्मं भाषते, अभिधत्ते, वक्ति इत्यादि'** इस उदाहरण में 'ब्रू' धातु के समानार्थक भास्, अभि+धा, आदि के योग में भी 'वलिम्' तथा 'माणवकम्' में अपादान की अविवक्षा कर द्वितीया विभक्ति की गई है।

कारकं किमिति—'अकथितं च' सूत्र द्वारा कारक—क्रियान्वित पदार्थ की ही कर्म संज्ञा की जाती है, अतएव **"माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति"** इस उदाहरण में माणवक शब्द क्रिया से अन्वित न होने के कारण, कारक नहीं है और उसकी कर्म संज्ञा नहीं होती है, अतएव उसमें षष्ठी विभक्ति है।*

---

* पूर्वोक्त दुह आदि १६ धातुओं के योग में कर्तृवाच्य प्रयोग में तो इनके प्रधान व अप्रधान दोनों ही कर्मों में द्वितीया तथा कर्त्ता में प्रथमा विभक्ति होती है, पर यदि इन द्विकर्मक धातुओं से कर्मवाच्य वाक्य बनाना हो तो दुह आदि १२ धातुओं के प्रधान कर्म में द्वितीया, गौण कर्म में प्रथमा तथा कर्त्ता में तृतीया विभक्ति होती है। पर 'नी' आदि शेष ४ धातुओं के योग में प्रधान कर्म में प्रथमा, गौण कर्म में द्वितीया और कर्त्ता में तृतीया विभक्ति होगी, जैसा कि निम्नलिखित कारिका द्वारा स्पष्ट किया गया है :—

(वा) अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्म संज्ञक इति वाच्यम् । कुरून् स्वपिति । मासमास्ते । गो दोह मास्ते । क्रोश मास्ते ।

गतिबुद्धि प्रत्यवसानार्थ शब्द कर्मा कर्मकाणामणि कर्ता स णौ १।४।५२।।

अकर्मकेति—अर्थात्* अकर्मक धातुओं के योग में देश, काल, भाव, तथा गन्तव्य पथ की भी कर्म संज्ञा होती है ।

कुरून् स्वपिति—कुरु देश में सोता है । इस वाक्य में 'स्वपिति' इस अकर्मक क्रिया के योग में भी देश वाचक कुरु शब्द की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई है ।

मासमास्ते—महीने भर रहता है, यहाँ 'आस्ते' इस अकर्मक क्रिया के योग में, काल वाचक 'मास' की कर्म संज्ञा हुई है ।

गोदोह मास्ते—गोदोहन वेला तक अर्थात् जब तक गायें दुहीं जाये तब तक ठहरता है । यहाँ भाव व्यञ्जक गोदोह की अकर्मक क्रिया के योग में कर्म संज्ञा होकर द्वितीया हुई है ।

क्रोश मास्ते—कोस भर में रहता है, यहाँ मार्ग वाचक क्रोश की कर्म संज्ञा हुई है । इसी प्रकार 'क्रोशं प्रतिष्ठते, कतिपय दिवसान् स तत्रावसत्' इत्यादि में भी कर्म संज्ञा होती है ।

गतीति—गत्यर्थक (गम्, या, इण् आदि) बुद्धयर्थक (ज्ञा, विद्, बुध् आदि) प्रत्यवसानार्थक (भक्षणार्थक-भक्ष, भुज् आदि) शब्द कर्मक, और अकर्मक धातुयें (स्था, आस्, शीङ् आदि) धातुओं का अण्यन्तावस्था में (जब कि इन धातुओं

गौणे कर्मणि दुह्यादेः प्रधाने नीहृकृष्वहाम् ।
विभक्तिः प्रथमा ज्ञेया द्वितीया च तदन्यतः ।

कर्तृ वाच्य	**कर्म वाच्य**
कृष्णः गां पयः दोग्धि	कृष्णेन गौः पयः दुह्यते ।
स माणवकं पन्थानं पृच्छति	तेन माणवकः पन्थानं पृच्छ्यते ।
कृष्णः अजां ग्रामं नयति	कृष्णेन अजा ग्रामं नीयते ।

* सकर्मकत्व और अकर्मकत्व प्रायः वक्तृ विवक्षा तथा प्रयोग पर निर्भर हैं तथापि अग्रलिखित अर्थों वाली धातुयें प्रायः अकर्मक होती है—

"लज्जा सत्ता स्थिति जागरणं, वृद्धि क्षय भय जीवित मरणम् । शयन क्रीडा रुचि दीप्त्यर्थं धातु गणन्तमकर्मक माहुः ।

गत्यर्थक धातुओं के योग में स्थान वाची शब्दों की कर्म संज्ञा तो होती ही है, पर इनके अतिरिक्त जहाँ आलंकारिक कर्म होता है उसमें भी कर्म संज्ञा देखी जाती है, यथा—"निद्रां ययौ, मनसा हरिमेति, आनन्दस्य परां कोटिं मध्यगच्छत्"

गत्याद्यर्थानां शब्दकर्मणाम कर्मकाणां चाणौ यः कर्ता स णौ कर्म स्यात् । शत्रूनगमयत्स्वर्गम्, वेदार्थं स्वानवेदयत् । आशयच्चामृतं देवान् । वेदमध्यापयद्विधिम् । आसयत्सलिले पृथ्वीम्, यः स मे श्रीहरिर्गतिः । गतीत्यादि किम्—पाचयत्योदनं देवदत्तेन । अण्यन्तानां किम्-गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तं तमपरः प्रयुङ्क्ते गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः

से प्रेरणार्थक णिच् प्रत्यय न किया गया हो) जो कर्ता हो, वह ण्यन्तास्था में (जब कि इन धातुओं से णिच् प्रत्यय करके इन्हें प्रेरणार्थक* बना लिया गया हो) कर्म संज्ञक हो जाता है और फिर उससे द्वितीया विभक्ति आती है। निम्नलिखित तालिका में दोनों ही अवस्थाओं के प्रयोग हैं—

साधारण या अण्यन्तावस्था	**प्रेरणार्थक या ण्यन्तावस्था**
शत्रवः स्वर्गमगच्छन् (शत्रु स्वर्ग गये)	हरिः शत्रून् स्वर्गम् अगमयत्
स्वे वेदार्थमविदुः	हरिः स्वान् वेदार्थमवेदयत्
देवा अमृतमाश्नन्	हरिः देवान् अमृतमाशयत्
विधिर्वेदमध्यैत	हरिः वेदं विधि मध्यापयत्
पृथ्वी सलिले आस्त	हरिः पृथ्वीं सलिले आसयत्

यहाँ उक्त वाक्यों में रेखाङ्कित पद सभी साधारण अवस्था में कर्त्ता थे पर ण्यन्तावस्था में वे सभी कर्म हो गये हैं। अतः उनके आगे द्वितीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है।

गतीत्यादि किमिति—सूत्र में परिगणित धातुओं के अतिरिक्त यदि अन्य कोई धातु होगी तो उसका साधारणावस्था का कर्त्ता ण्यन्तावस्था में कर्म न होगा प्रत्युत उसमें साधारण नियम के अनुसार तृतीया विभक्ति ही होगी, यथा देवदत्तः

---

* धातु की साधारण अवस्था में कर्ता स्वतंत्रतापूर्वक स्वयं काम करता है जैसे "स गच्छति" वाक्य में पर जब उस कर्ता से कोई अन्य व्यक्ति काम कराता है, उसे काम करने के लिये प्रेरित करता है तब उस अर्थ को प्रेरणार्थक क्रिया द्वारा प्रकट किया जाता है, धातु से इस अर्थ को प्रकट करने के लिये णिच् प्रत्यय जोड़ना पड़ता है, ऐसा करने से धातु के रूप में पर्याप्त अन्तर हो जाता है, जैसे गच्छति का प्रेरणार्थक रूप 'गमयति' होगा। प्रेरणा देने वाले कर्त्ता को प्रयोजक कर्त्ता और जिसको प्रेरणा दी जाती है उसे प्रयोज्य कर्त्ता कहते हैं प्रयोजक कर्त्ता में प्रथमा विभक्ति रहती है पर प्रयोज्य कर्त्ता में तृतीया विभक्ति हो जाती है, कर्म में कोई परिवर्तन नहीं होता अर्थात् द्वितीया ही रहती है। यथा 'स भार्यां त्यजति' का प्रेरणार्थक प्रयोग होगा 'अन्यः तेन भार्यां त्याजयति' इसी प्रकार 'रामः ओदनं पचति (साधारणावस्था) का प्रेरणावस्था में प्रयोग होगा 'देवदत्तः तं प्रेरयति इति देवदत्तः रामेण ओदनं पाचयति।"

(वा) नी वह्योर्न । नाययति वहयति वा भारं भृत्येन ।

(वा) नियन्तृ कर्तृकस्य वहेरनिषेधः । वाहयति रथं वाहान सूतः ।

(वा) आदिखाद्योर्न । आदयति खादयति वान्नं वटुना ।

(वा) भक्षेरहिंसार्थस्य न । भक्षयत्यन्नं वटुना । अहिंसार्थस्य किम्-भक्षयति वलीवर्दान् सस्यम् ।

ओदनं पचति, तं यज्ञदत्तः (प्रयोजक कर्त्ता) प्रेरयति, इति यज्ञदत्तः देवदत्तो (प्रयोज्य कर्त्ता) ओदनं पाचयति ।

अण्यन्तानां किमिति—इसी प्रकार गत्याद्यर्थक धातुओं में भी वही कर्त्ता ण्यन्तावस्था में कर्म संज्ञक हो सकेगा जो अण्यन्तावस्था में उस धातु का कर्त्ता रह चुका होगा । यथा, देवदत्तः यज्ञदत्तं गमयति तं विष्णुमित्रः प्रेरयति, इति विष्णुमित्रः देवदत्तेन यज्ञदत्तं गमयति । यहाँ देवदत्त अण्यन्तावस्था का कर्त्ता न होकर गमयति इस रूप के साथ ण्यन्तावस्था का ही कर्त्ता है अतः वह तृतीया में रखा गया है, द्वितीया में नहीं ।

(वा) नी वह्योर्नेति—अर्थात् नी व वह् धातुओं के प्रेरणार्थक प्रयोग में इनका अण्यन्तावस्था का कर्त्ता ण्यन्तावस्था में कर्म न हो अतएव "नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन" भृत्य से भार ढुलवाता है—यहाँ कर्म संज्ञा का इस वार्तिक से निषेध होने से भृत्यं न होकर भृत्येन ही हुआ ।

(वा)"नियन्तृ कर्तृकस्य वहेरनिषेधः"—अर्थात् उक्त वार्तिक द्वारा कर्म संज्ञा का निषेध वहाँ नहीं होगा जहाँ 'वह' धातु का कर्त्ता नियन्ता (हाँकने वाला) होगा अर्थात् उसकी कर्म संज्ञा हो जायगी । जैसे "वाहयति रथं वाहान् सूतः" सूत घोड़ों से रथ ढुलवाता है—यहाँ वाहान् की कर्म संज्ञा का निषेध न होगा, द्वितीया विभक्ति हो जायगी ।

(वा) आदिखाद्योर्न—अर्थात् अद् और खाद् धातुओं के प्रयोज्य कर्त्ता की कर्म संज्ञा न होगी, यथा—आदयति खादयति वान्नं वटुना—ब्रह्मचारी से अन्न खिलवाता है—यहाँ प्रयोज्य कर्त्ता वटु की कर्म संज्ञा नहीं हुई है । अतः यहाँ तृतीया विभक्ति है ।

(वा) "भक्षेरहिंसार्थस्य न"—जब भक्ष् धातु का अर्थ हिंसा (पीड़ा या हानि पहुँचाना) नहीं होता तब प्रयोज्य कर्ता की कर्म संज्ञा नहीं होती, यथा 'भक्षयति अन्नं वटुना" यहाँ वटु द्वारा अन्न भक्षण में हिंसा का भाव नहीं है । अतः उक्त वार्तिक से कर्म संज्ञा का निषेध हो जायगा, वटु में द्वितीया न होकर तृतीया ही रहेगी, पर जहाँ हिंसा भाव होगा वहाँ यह वार्तिक निषेध न करेगा अर्थात् 'गति बुद्धि' सूत्र से कर्म संज्ञा हो जायगी, यथा "भक्षयति वलीवर्दान् सस्यम्" (बैलों को धान खिलाता है), यहाँ धान भक्षण में हिंसा का भाव है । अतः वलीवर्दान् में कर्म संज्ञा हो जायगी ।

(वा) जल्पति प्रभृतीना मुपसंख्यानम् । जल्पयति भाषयति वा धर्मं पुत्रं देवदत्तः ।

(वा) दृशेश्च । दर्शयति हरिं भक्तान् । सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानामेव ग्रहणं न तु तद्विशेषार्थानामित्यनेन ज्ञाप्यते । तेन स्मरति जिघ्रतीत्यादीनां न । स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन ।

(वा) शब्दायतेर्न । शब्दाययति देवदत्तेन । धात्वर्थसंगृहीतकर्मत्वेनाकर्मकत्वात् प्राप्तिः । येषां देशकालादिभिन्नं कर्म न सम्भवति तेऽत्राकर्मकाः न त्वविवक्षित कर्माणोऽपि, तेन मासमासयति देवदत्तमित्यादौ कर्मत्वं भवत्येव । देवदत्तेन पाचयतीत्यादौ तु न ।

(वा) जल्पतीत्यादि—जल्प् भाष् आदि धातुओं के अण्यन्तावस्था के कर्त्ता ण्यन्तावस्था में कर्म संज्ञक होते हैं ।

'पुत्रं धर्मं जल्पयति भाषयति वा' (पुत्र से धर्म कहलवाता है) यहाँ अण्यन्तावस्था के कर्त्ता पुत्र की ण्यन्तावस्था में कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति है ।

(वा) दृशेश्चेति—दृश् (देखना) धातु का अण्यन्तावस्था का कर्त्ता ण्यन्तावस्था के प्रयोग में कर्म संज्ञक होता है ।

"दर्शयति हरिं भक्तान्" (भक्तों को हरि को दिखलाता है) यहाँ अण्यन्तावस्था के कर्त्ता 'भक्त' की ण्यन्तावस्था में कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई है ।

सूत्र इति—'गतिबुद्धि' सूत्र में बुद्धयर्थक से ज्ञान सामान्यवाची बुध्, ज्ञा, आदि धातुओं का ही ग्रहण हैं, ज्ञान विशेष वाचक स्मृ, घ्रा आदि का नहीं । इसका प्रमाण है "दृशेश्च" इस वार्तिक में दृश् ग्रहण । यदि ज्ञान विशेष वाचक धातुओं का भी ग्रहण होता तब तो बुद्धयर्थक धातुओं द्वारा दृश् का भी ग्रहण हो ही जाता क्योंकि चक्षुरिन्द्रियजन्य ज्ञान ही दर्शन है, 'दृशेश्च' वार्तिक व्यर्थ था । अतः स्मृ, घ्रा, आदि धातुओं का ग्रहण न होने के कारण 'स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन' इस प्रयोग में देवदत्त की कर्मसंज्ञा न होने से द्वितीया विभक्ति न हुई ।

(वा) शब्दायतेर्नेति—शब्दायति धातु के कर्त्ता को ण्यन्तावस्था में कर्म संज्ञा न हो ।

'शब्दाययति देवदत्तेन' (देवदत्त से शब्द करवाता है) प्रस्तुत प्रयोग में धातु के अर्थ में ही शब्दरूपी कर्म के संगृहीत हो जाने से यह धातु अकर्मक है । अतः अकर्मक होने के कारण 'गतिबुद्धि' सूत्र से ण्यन्तावस्था के प्रयोग में साधारण दशा के कर्त्ता 'देवदत्त' को कर्मसंज्ञा प्राप्त थी, इस वार्तिक से उसका निषेध हो जाने से कर्मसंज्ञाभाव में 'देवदत्तेन' में तृतीया विभक्ति हुई है ।

हृक्रोरन्यतरस्याम् । १।४।५३।।

हृक्रोरणौ यः कर्त्ता स णौ वा कर्म स्यात् । हारयति कारयति व भृत्यं भृत्येन वा कटम् ।

येषामिति—सूत्र में अकर्मक धातुओं से तात्पर्य उन्हीं धातुओं से है जिनका देश काल इत्यादि से भिन्न कोई कर्म संभव नहीं हो, उन धातुओं से नहीं, जो सकर्मक होते हुए भी कर्म की अविवक्षा कर देने से अकर्मक बन गई हैं अतएव "मासमास्ते देवदत्तः" इस साधारण वाक्य का ण्यन्तावस्था में प्रयोग करने पर "मासमासयति देवदत्तम्" यह प्रयोग होगा अर्थात् देवदत्त की कर्मसंज्ञा हो जायगी, पर देवदत्तः पचति का ण्यन्तावस्था का प्रयोग "देवदत्तेन पाचयति" होगा न कि "देवदत्तम्" क्योंकि यहाँ पच् धातु के सकर्मक होते हुए भी इसे कर्म की अविवक्षा कर अकर्मक बनाया गया है।

व्याकरण की दृष्टि से क्रियाएँ चार प्रकार से अकर्मक बन जाती हैं।

"धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोप संग्रहात् ।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका: क्रिया: ।।

अर्थात् धातु का अर्थान्तर (अन्य अर्थ में प्रयोग होने से १. जैसे 'वह्' (ले जाना) या (ढोना) धातु स्वतः सकर्मक है "भारं वहति गर्दभः (गदहा बोझ ढोता है) पर यही अर्थान्तर में प्रयुक्त होकर अर्थात् बहने अर्थ में अकर्मक है 'नदी बहति'।

इसी प्रकार जब धातु के अर्थ में उसका कर्म संग्रहीत हो जाता है २. जैसे स जीवति (वह जीता है) यहाँ जीवति का अर्थ है—प्राण धारण करना पर वह इसका प्राण रूप कर्म 'जीव्' धातु के अर्थ में ही संग्रहीत कर लिया गया है अतः धातु अकर्मक बन गया है।

इसी प्रकार कर्म के प्रसिद्ध होने से भी धातु अकर्मक बन जाता है ३. जैसे 'मेघो वर्षति' यहाँ 'वर्षति' बरसता है इस क्रिया में 'जलम्' यह कर्म सर्वप्रसिद्ध है अतः 'जलम् वर्षति' न कहकर केवल 'वर्षति' का प्रयोग होता है। और इस प्रकार धातु अकर्मक बन जाता है।

इसी प्रकार कर्म के न प्रयोग करने की इच्छा से भी सकर्मक धातु अकर्मक बन जाता है ४. जैसे 'हितान्न यः संशृणुते' यहाँ 'संशृणुते' में श्रु धातु सकर्मक है पर इस वाक्य में कर्म का प्रयोग नहीं किया गया है अतः धातु अकर्मक बन गया है।

"हृक्रोरन्यतरस्याम्"—हृ (ले जाना) कृ (करना) धातुओं का साधारणावस्था का कर्त्ता ण्यन्तावस्था में विकल्प से कर्म संज्ञक होता है यथा 'कारयति हारयति वा भृत्यं भृत्येन वा कटम्"—भृत्य से चटाई बनवाता या मँगवाता है। इस वाक्य में

(वा) अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम् । अभिवादयते दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा ।

अधिशीङ्स्थासां कर्म । १।४।४६।।

अधिपूर्वाणा मेषामाधारः कर्म स्यात् । अधिशेते, अधितिष्ठति, अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः ।

अभिनिविशश्च । १।४।४७।।

अभिनीत्येतत् संघातपूर्वस्य विशतेराधारः कर्म स्यात् ।

अभिनिविशते सन्मार्गम् । 'परिक्रयणे सम्प्रदानम्' इति सूत्रादिह मण्डूकप्लुत्याऽन्यतरस्यां ग्रहणमनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषा श्रयणात् क्वचिन्न । पापेऽभिनिवेशः ।

भृत्य की विकल्प से कर्म संज्ञा होगी, कर्मसंज्ञाभाव में तृतीया भी होगी अतः भृत्यं भृत्येन दोनों रूप बनेंगे ।

"अभिवादिदृशोरात्मने पदे वेति वाच्यम्"—अर्थात् अभिपूर्वक वदि धातु और दृश् धातु जब प्रेरणार्थक होने पर आत्मने पद में प्रयुक्त होती है तब उनका भी साधारण अवस्था का कर्त्ता ण्यन्तावस्था में कर्म संज्ञक हो जाता है विकल्प से । जैसे "अभिवादयते दर्शयते वा देवं भक्तं भक्तेन वा"—भक्त से देव को प्रणाम कराता या दिखलाता है—इस प्रयोग में अण्यन्तावस्था के कर्त्ता भक्त की ण्यन्तावस्था में विकल्प से कर्म संज्ञा होती है अतः उसमें द्वितीया एवं तृतीया दोनों विभक्तियों का प्रयोग होगा ।

अधिशीङ्स्थासां कर्म इति—अधि उपसर्गपूर्वक शीङ्, स्था, आस् इन धातुओं का आधार कर्म संज्ञक होता है (आधार—वह स्थल जहाँ इन क्रियाओं का काम होता है) जैसे अधिशेते, अध्यास्ते, अधितिष्ठति वा वैकुण्ठं हरिः"—हरि वैकुण्ठ में शयन करते, बैठते अथवा ठहरते हैं । यहाँ वैकुण्ठ शब्द की कर्म* संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई है । इसी प्रकार सोऽर्धासनमधितिष्ठति, स शिलातलमधिशेते, भवतां भवनमध्यास्य सुखमहमन्वभवम् ।

अभिनिविशश्चेति—एक ही साथ अभि और नि उपसर्गपूर्वक विश् धातु का आधार कर्म संज्ञक होता है '**अभिनिविशते सन्मार्गम्**—सन्मार्ग का अनुसरण करता है । इस वाक्य में मार्ग शब्द की कर्म संज्ञा होती है ।

---

* कर्म संज्ञा विधान का फल है द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होना अतः जिन शब्दों में भी कर्म संज्ञा जिस किसी भी सूत्र से की गई है वहाँ 'कर्मणि द्वितीया' सूत्र से द्वितीया विभक्ति होगी । विस्तार भय से प्रत्येक उदाहरण में द्वितीया विभक्ति का निर्देश नहीं किया गया है । पर छात्रों को कर्म संज्ञा लिखने के बाद द्वितीया विभक्ति अवश्य लिखनी चाहिए ।

उपान्वध्याङ्वसः । १।४।५८।।

उपादि पूर्वस्य वसते राधारः कर्म स्यात् । उपवसति अनुवसति, अधिवसति, आवसति वा वैकुण्ठं हरिः ।

(वा) अभुक्त्यर्थस्य न । वने उपवसति ।

विश् धातु के आधार की कर्म संज्ञा अभि, नि इस संघातपूर्वक होने पर ही होगी, इनमें से किसी एक के पूर्व रहने पर सप्तमी ही होगी जैसे "निविशते सन्मार्गे ।"

उक्त सूत्र में आगे कहे जाने वाले "परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्" इस सूत्र से मण्डूकप्लुति न्याय से (अर्थात् मण्डूक की तरह बीच के सूत्रों को छोड़ते हुए उछलकर) 'अन्यतरस्याम्' (विकल्प) की अनुवृत्ति (अपकर्ष या खींच लिया जाना) होती है और उस 'अन्यतरस्याम्' को व्यवस्थित विभाषा—(कहीं होना और कहीं न होना) मान लिया गया है । अतः "पापेऽभिनिवेशः"—पाप में प्रवृत्ति—इस उदाहरण में अभि, नि इस संघात के पूर्व रहते हुए भी विश् धातु के संयोग में कर्मसंज्ञा उक्त सूत्र से नहीं होती है अतः 'पापे' में सप्तमी विभक्ति है ।

उपान्वध्याङ्वस इति—उप, अनु, अधि, आ पूर्वक वस् धातु के योग में आधार की कर्म संज्ञा होती है । यथा "उपवसति, अनुवसति, अधिवसति, आवसति, वा वैकुण्ठं हरिः"—हरि वैकुण्ठ में रहता है इस वाक्य में वैकुण्ठ शब्द की कर्मसंज्ञा होती है । यदि इन उपसर्गों में से कोई भी उपसर्ग वस् धातु के पहले न लगा हो तो आधार में सप्तमी ही होगी जैसे "हरिः वैकुण्ठे वसति" ।

(वा) अभुक्त्यर्थस्य न इति—जब उपवस् का अर्थ रहना न होकर उपवास करना—व्रत करना होता है, तब भी सप्तमी ही होती है "वने उपवसति"—वन में व्रत करता है ।

(अकर्मक धातु भी जब उपसर्ग आदि वशात् सकर्मक हो जाता है तब उसके कर्म में भी द्वितीया विभक्ति होती है यथा "स्वामिनश्चित्तमेवाहमनुवर्त्ते" मैं स्वामी के चित्त का ही अनुवर्तन करता हूँ—इस प्रयोग में यद्यपि 'वृत' धातु अकर्मक है पर अनु उपसर्ग पूर्वक होने से वह सकर्मक हो जाता है । अतः उसके कर्म 'चित्तम्' में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी हैं जैसे "स सिंहासनमारोहति"—वह सिंहासन पर चढ़ता है, यहाँ आ+रुह धातु सकर्मक हो गया है और उसके कर्म 'आसन' में द्वितीया विभक्ति हुई है ।

"खगा दिवमुत्पतन्ति"—पक्षी आकाश में उड़ते हैं यहाँ उत्+पत् धातु है ।

"वाचमर्थोऽनुधावति"—अर्थ वाणी का अनुसरण करता है यहाँ अनु+धाव् धातु है जो कि सकर्मक हो गया है ।

(वा) उभ सर्वतसोः कार्यां धिगुपर्यादिषु त्रिषु ।
द्वितीया म्र ेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ।।
उभयतः कृष्णं गोपाः । सर्वतः कृष्णम् । धिक् कृष्णाभक्तम् ।
उपर्यु परि लोकं हरिः । अध्यधि लोकम् । अधोऽधो लोकम् ।

उभसर्वतोरितिः—अर्थात् तसिल् प्रत्ययान्त उभ एवं सर्व शब्द (उभयतः सर्वतः) के योग में द्वितीया विभक्ति करनी चाहिये, 'धिक् शब्द के योग में तथा उपरि आदि तीन शब्दों के योग में (उपर्यु परि अध्यधि, अधोऽधः) द्वितीया होती है तथा इनसे अतिरिक्त स्थलों में भी द्वितीया विभक्ति देखी जाती है, क्रमशः इनके उदाहरण—

"उभयतः कृष्णं गोपाः"—कृष्ण के दोनों ओर गोपाल (हैं)—यहाँ तसिल् प्रत्ययान्त 'उभयतः' के योग में 'कृष्णम् में द्वितीया है ।

"सर्वतः कृष्णम्'—कृष्ण के चारों ओर, यहाँ तसिल् प्रत्ययान्त 'सर्वतः के योग में 'कृष्णम्' में द्वितीया है ।

"धिक् कृष्णाभक्तम्"—कृष्ण के अभक्त को धिक्कार (है)—यहाँ 'धिक्' के योग में 'अभक्तम्' में द्वितीया है । धिक् के योग में कभी-कभी प्रथमा भी होती है :—

धिगर्थाः कष्टसंश्रयाः, धिगियं दरिद्रता,
कभी कभी सम्बोधन में भीः—धिङ् मूर्ख ! यदि त्वं नाधीषे ।

"उपर्यु परि लोकं हरिः"—हरि लोक के समीप (ठीक ऊपर) है—यहाँ आम्र ेडित* 'उपर्यु परि' के योग में 'लोकम्' में द्वितीया है ।

इसी प्रकार **"अध्यधि लोकम्"**—संसार के ठीक समीप देश में—और "अधोऽधो लोकम्" संसार के समीप—ठीक नीचे—यहाँ इनके योग में 'लोकम्' में द्वितीया है ।

इनसे अतिरिक्त स्थलों में भी द्वितीया विभक्ति होती है जैसे "न त्वामृते तत्र गन्तुमहमीहे" तुम्हारे विना में वहाँ जाना नहीं चाहता—यहाँ 'ऋते' के योग में द्वितीया विभक्ति है इसी प्रकार 'विना' आदि के योग में भी द्वितीया विभक्ति होती है ।

---

* आम्र ेडित यह पारिभाषिक शब्द है, इसका अर्थ है—द्विरुक्ति—किसी शब्द का दो वार कथन करना । "उपर्यध्यधसः सामीप्ये" ८-१-७ इस पाणिनि सूत्र के अनुसार सामीप्य के अर्थ में उपरि अधि और अधः आम्र ेडित—द्विरुक्त हो जाते हैं अर्थात् उपर्यु परि, अध्यधि, एवं अधोऽधः इस प्रकार प्रयुक्त होने लगते हैं और इनके योग में समीप अर्थ में द्वितीया विभक्ति होती है । पर यदि समीप अर्थ से भिन्न अर्थ में इनका प्रयोग होगा तो द्वितीया न होकर षष्ठी ही होगी यथा उपर्यु परि **सर्वेषामादित्य इव तेजसा"** इस वाक्य में सर्वेषाम् में षष्ठी है ।

(वा) अभितः परितः समयानिकषा हा प्रतियोगेऽपि ।

अभितः कृष्णम् । परितः कृष्णम् । ग्रामं समया । निकषा लंकाम् । हा कृष्णाभक्तम्-तस्य शोच्यते इत्यर्थः । वुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चत् ।

अन्तरान्तरेण युक्ते । २।३।४।।

आभ्यां योगे द्वितीया स्यात् । अन्तरा त्वां मां हरिः । अन्तरेण हरिं न सुखम् ।

कर्म प्रवचनीयाः । १।४।८३।। इत्यधिकृत्य ।

(वा) "अभितः परितः समया निकषा हा प्रति योगेऽपि"—अर्थात् अभितः परितः, समया, निकषा, हा, और प्रति के योग में भी द्वितीया होती है, यथा "अभितः कृष्णम्"—कृष्ण के दोनों ओर "परितः कृष्णम्" कृष्ण के चारों ओर "ग्रामं समया" गाँव के पास "निकषा लङ्काम्"—लङ्का के समीप "हा कृष्णाभक्तम्"* कृष्ण के अभक्त के लिये हाय—शोक । अर्थात् वह शोचनीय है ।

"विभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्"—भूखे को कुछ नहीं सूझता, इन प्रयोगों में "अभितः" आदि के योग में क्रमशः कृष्णम्, ग्रामम्, लङ्काम्, कृष्णाभक्तम्, विभुक्षितम् इन शब्दों में द्वितीया विभक्ति है ।

अन्तरान्तरेण ** **युक्ते इति**—अर्थात् अन्तरा और अन्तरेण के योग में द्वितीया विभक्ति होती है ।

"अन्तरा त्वां मां हरिः"—हरि तुम्हारे और मेरे बीच में है—यहाँ 'अन्तरा के योग में त्वाम्, माम् में द्वितीया है ।

"अन्तरेण हरिम् न सुखम्"—हरि के विना सुख नहीं—यहाँ अन्तरेण के योग में 'हरिम्' में द्वितीया विभक्ति है ।

कर्मप्रवचनीया इति—अर्थात यहाँ से कर्मप्रवचनीय संज्ञा का अधिकार करके—

पाणिनीय व्याकरण में कुछ ऐसे अव्ययों को कर्म प्रवचनीय संज्ञा की गई है जो न तो किसी क्रिया विशेष के द्योतक हों न सम्वन्ध के ही वाचक हों, और न किसी अन्य क्रिया पद को लक्षित ही करायें पर वाक्यान्तर्गत पदों में भेद दर्शक हों अर्थात् विभक्ति विधायक हों । इनके योग में भी प्रायः कर्म कारक का ही विधान होता है । जैसा कि वाक्य पदीयकार ने कहा है—

क्रियाया द्योतको नायं सम्वन्धस्य न वाचकः ।
नापि क्रिया पदापेक्षी सम्वन्धस्य तु भेदकः ।।

---

* हा के योग में सम्बोधन भी होता है "हा हा देवि स्फुटति हृदयम्" भगवति अरुन्धति ।

** भवतः साहाय्यमन्तरेण नाहं प्रभवामि शत्रून् जेतुम् । त्वामन्तरेण न कोऽप्यस्ति मे सहायः । त्वां मां चान्तरा विद्यते भगवान् ।

अनुर्लक्षणे । १।४।८४ ।।

लक्षणे द्योत्येऽनुरुक्त संज्ञः स्यात् । गत्युपसर्ग संज्ञापवादः ।

कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । २।३।८।।

एतेन योगे द्वितीया स्यात् । जपमनु प्रावर्षत् । हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षण-मित्यर्थः । परापि हेताविति तृतीयाऽनेन वाध्यते । 'लक्षणेत्थंभूत' इत्यादिना सिद्धे पुनः संज्ञाविधानसामर्थ्यात् ।

तृतीयार्थे ।। १।४।८५ ।।

अस्मिन् द्योत्येऽनुरुक्त संज्ञः स्यात् । नदीमन्ववसिता सेना नद्या सह सम्वद्धेत्यर्थः । षिञ् बन्धने क्तः ।

अनुर्लक्षणे इति—किसी विशेष लक्षण (हेतु) को द्योतित करने में 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

कर्म प्रवचनीय युक्ते द्वितीया इति—कर्मप्रवचनीय उपसर्गों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है, यथा "जपमनु प्रावर्षत्" लक्षण या हेतु भूत जप से वर्षा हुई, अर्थात् जप करने के पश्चात् वर्षा हुई, जब तक जप नहीं किया गया तब तक वर्षा नहीं हुई, वर्षा का लक्षण या हेतु जप था—यहाँ 'अनु' अव्यय की 'अनुर्लक्षणे' सूत्र से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है और तब उसके योग में इस सूत्र से 'जपम्' में द्वितीया विभक्ति होती है ।

यहाँ 'हेतौ' सूत्र से होने वाली तृतीया विभक्ति यद्यपि इस सूत्र से विधीयमान द्वितीया से परे है,* तथापि उसे बाधकर 'जपमनु' में फिर भी कर्म प्रवचनीय संज्ञा विधान करने के कारण द्वितीया ही होती है । तात्पर्य यह है कि 'जपमनुप्रावर्षत्' इस प्रयोग में "लक्षणेत्थं भूताख्यान" इत्यादि सूत्र से 'अनु' की कर्म प्रवचनीय संज्ञा हो ही जाती, फिर 'अनुर्लक्षणे' सूत्र से जो लक्षण—हेतु में पुनः कर्म प्रवचनीय संज्ञा का विधान किया गया है इससे प्रमाणित होता है कि लक्षण द्योतित करने में 'पर' भी तृतीया विभक्ति को वाधकर द्वितीया ही होती है ।

तृतीयार्थे इति—तृतीया के अर्थ को प्रकट करने वाला 'अनु' कर्म प्रवचनीय संज्ञक होता है । यथा "नदीमन्व वसिता सेना"—सेना नदी के साथ सम्बद्ध है—इस प्रयोग में नदी शब्द के आगे तृतीया विभक्ति होनी चाहिए थी, यहाँ अनु 'तृतीयार्थे' में प्रयुक्त हुआ है जिसकी कि इस सूत्र से कर्म प्रवचनीय संज्ञा हुई है अतः उसके योग

---

* पाणिनीय व्याकरण में 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इस सूत्र के अनुसार यह नियम है कि दो तुल्य कार्यों का आपसी विरोध (एक ही स्थान में दोनों की प्राप्ति रूप विरोध) होने पर जो कार्य पर (अर्थात् अष्टाध्यायी की सूत्र संख्याक्रम के अनुसार वाद में होने वाला कार्य) होता है वही गृहीत होता है पूर्व कार्य रुक जाता है ।

हीने । १।४।८६।।

हीने द्योत्येऽनुः प्राग्ववत् । अनुहरिं सुराः । हरे र्हीना इत्यर्थः ।

उपोऽधिके च । १।४।८७।।

अधिके हीने च द्योत्ये उपेत्यव्ययं प्राक् संज्ञं स्यात् ।

अधिके सप्तमी वक्ष्यते । हीने, उपहरिं सुराः ।

लक्षणेत्थं भूताख्यान भागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः । १।४।९०।।

एष्वर्थेषु विषयभूतेषु प्रत्यादयः उक्त संज्ञाः स्युः । लक्षणे, वृक्षं वृक्षं प्रतिपर्यनु वा विद्योतते विद्युत् । इत्थं भूताख्याने, भक्तो विष्णुं प्रतिपर्यनु वा । भागे, लक्ष्मीर्हरिं प्रतिपर्यनु वा । हरे र्भाग इत्यर्थः । वीप्सायाम्, वृक्षं वृक्षं प्रतिपर्यनु वा सिञ्चति । अत्रोप सर्गत्वा भावान्न षत्वम् । एषु किम्-परिषिञ्चति ।

में 'नदीम्' में द्वितीया विभक्ति होगी तृतीया नहीं । अव पूर्वक षिञ् (बाँधना) धातु से क्त प्रत्यय करके अवसित शब्द बनता है अतः उसका अर्थ "सम्बद्ध" होता है ।

हीने इति—हीनता को द्योतित करने में अनु की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होती है, यथा 'अनु हरिम् सुराः' देवता हरि से हीन हैं—यहाँ हीनता द्योतक 'अनु' की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होने से 'हरिम्' में द्वितीया विभक्ति है ।

उपोऽधिके चेति—अधिक या हीन अर्थ के द्योतक 'उप' की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होती है यथा 'उप हरिम् सुराः' देवता हरि से घटकर हैं—यहाँ हीनतार्थ द्योतक उप की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होने से उसके योग में 'हरिम्' में द्वितीया विभक्ति है जब 'उप' अधिक अर्थ का द्योतक होगा तब सप्तमी विभक्ति होगी, जैसा कि आगे कहा जायगा ।

लक्षणेत्थं भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनव इति—अर्थात् लक्षण (किसी की ओर निर्देश करना) इत्थं भूताख्यान (यह इस प्रकार का है, यह बतलाना) भाग (यह उसके हिस्से में पड़ता है, यह बतलाना) और वीप्सा (द्विरुक्ति दिखलाना) अर्थों में प्रति, परि, तथा अनु की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होती है, यथा, **'वृक्षं वृक्षं प्रति परि, अनु वा विद्योतते विद्युत्'**—वृक्ष की ओर बिजली चमकती है इस प्रयोग में वृक्ष बिजली चमकने को लक्षित कराता है अर्थात् वह ज्ञापक लक्षण है, इस लक्षण को प्रकट करने वाले प्रति, परि, अनु की उक्त नियमानुसार कर्म प्रवचनीय संज्ञा होने से 'वृक्षम्' में द्वितीया विभक्ति हुई है ।

"भक्तो विष्णुं प्रति परि अनु वा"—विष्णु का भक्त है—इस प्रयोग में इत्थं-भूताख्यान (यह इस प्रकार का है ऐसा कथन) अर्थ में प्रति परि अनु की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होने से उनके योग में 'विष्णुम्' में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है ।

"लक्ष्मीर्हरिम् प्रति परि अनु वा"—लक्ष्मी हरि का भाग है—यहाँ 'भाग' अर्थ में प्रयुक्त प्रति, परि, अनु की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होने से उनके योग में 'हरिम्' में द्वितीया विभक्ति हुई है ।

अभिरभागे १।४।६१।।

भागवर्जे लक्षणादावभिरक्त संज्ञः स्यात् । हरिमभि वर्तते ।

भक्तो हरिमभि । देवं देव मभिसिञ्चति । अभागे किम्—यदत्र ममाभिष्यात्तद् दीयताम् ।

अधिपरी अनर्थकौ । १।४।६३।।

उक्तसंज्ञौ स्तः । कुतोऽध्यागच्छति । कुतः पर्यागच्छति । गतिसंज्ञाबाधात् 'गतिर्गतौ' इति निघातो न ।

"वृक्षं वृक्षं प्रति परि अनु वा सिञ्चति"—प्रत्येक वृक्ष को सींचता है—यहाँ वीप्सा (व्याप्तुमिच्छा अर्थात् किसी क्रिया का प्रत्येक वस्तु से सम्बन्ध करने की इच्छा) अर्थ में वर्तमान प्रति परि अनु की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होने से उपसर्ग संज्ञा नहीं रहती (क्योंकि एक को एक ही संज्ञा प्राप्त करने का नियम है) अतः उपसर्गाभाव में "प्रति परि अनु+सिञ्चति" इस स्थिति में "उपसर्गात् सुनोति ८-३-६५ सूत्र से स् को ष् आदेश नहीं होता है। 'वृक्षम् वृक्षम्' में द्वितीया विभक्ति तो कर्म में होती ही है।

प्रति परि तथा अनु की कर्म प्रवचनीय संज्ञा उक्त लक्षण आदि अर्थों में ही होती है, इनसे भिन्न अर्थों में नहीं जैसे प्रति, परि, अनु+सिञ्चति इस प्रयोग में परि की कर्म प्रवचनीय संज्ञा नहीं होगी। अतः उपसर्ग संज्ञा होने से स को ष् आदेश हो जाता है अतः प्रति, परि, अनु षिञ्चति, ऐसा प्रयोग होता है।

अभिरभागे इति—केवल भाग अर्थ को छोड़कर शेष उपर्युक्त तीन अर्थों में वर्तमान अभि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है, यथा **"हरिमभिवर्तते, भक्तो हरिमभि, देवं देवमभि सिञ्चति"** इन प्रयोगों में क्रमशः लक्षण इत्थं भूताख्यान और वीप्सा अर्थ द्योतक अभि की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होने से 'हरिम्' में द्वितीया विभक्ति हुई है।

भाग अर्थ में 'अभि' की कर्म प्रवचनीय संज्ञा न होने से वहाँ उपसर्ग संज्ञा बनी रहती है। फलतः "यदत्र ममाभिष्यात् तद्दीयताम्—यहाँ जो मेरा भाग हो वह दे दो—में अभि के आगे स्यात् के स् को ष् हो जाता है। "उपसर्ग प्रादुर्भ्यामस्तिर्य च परः" यह सूत्र मूर्धन्य ष् आदेश करता है।

"अधिपरी अनर्थकाविति"—अनर्थक अधि और परि की उक्त संज्ञा होती है यथा 'कुतोऽध्यागच्छति' कुतः पर्यागच्छति' इन प्रयोगों में अधि, परि की उक्त संज्ञा हो जाने से, गति* संज्ञा नहीं रहती। अतः "गतिर्गतौ" ८-१-७० सूत्र से सर्वानुदात्त** नहीं होता है।

---

* प्र परा अप् सम् आदि सभी उपसर्ग क्रिया योग में गति संज्ञक हो जाते हैं 'उपसर्गाः क्रिया योगे' इस सूत्र के विधान से।

** किसी शब्द के सभी स्वरों को अनुदात्त हो जाना, सर्वानुदात्त कहलाता है।

सुः पूजायाम् । १।४।६४।।

सुसिक्तम् । सुस्तुतम् । अनुपसर्गत्वान्न षः । पूजायां किम्—सुषिक्तं किं तवात्र, क्षेपोऽयम्

अतिरतिक्रमणे च । १।४।६५।।

अतिक्रमणे पूजायां चातिः कर्म प्रवचनीयसंज्ञः स्यात् । अतिदेवान् कृष्णः ।

अपिः पदार्थ सम्भावनाऽन्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु । १।४।६६।

एषु द्योत्येषु अपिरुक्त संज्ञः स्यात् । सर्पिषोऽपि स्यात् । अनुपसर्गत्वान्न षः । सम्भावनायां लिङ् । तस्या एव विषयभूते भवने कर्तृदौर्लभ्यप्रयुक्तं दौर्लभ्यं द्योतयन्नपि शब्दः स्यादित्यनेन संबध्यते । सर्पिष इति षष्ठी तु अपिशब्दबलेन गम्यमानस्य बिन्दोरवयवावयविभावसम्बन्धे । इयमेव ह्यपिशब्दस्य पदार्थ द्योतकता नाम । द्वितीया तु नेह प्रवर्तते । सर्पिषो बिन्दुना योगो न त्वपिनेत्युक्तत्वात् । अपि स्तुयाद्विष्णुम् । सम्भावनं शक्त्युत्कर्षमाविष्कर्तुमत्युक्तिः । अपि स्तुहि । अन्वव सर्गः कामचारानुज्ञा । धिग्देवदत्त मपि स्तुयाद् वृषलम् । गर्हा—अपि सिञ्च । अपि स्तुहि । समुच्चये ।

"सुः पूजायामिति"—अर्थात् पूजार्थ में वर्तमान सु की उक्त संज्ञा होती है यथा "सुसिक्तम्" अच्छी तरह सींचा गया—यहाँ सु की उक्त संज्ञा होने से उपसर्गाभाव में सिक्तम् के स् को ष् नही होता, इसी प्रकार 'सुस्तुतम्' में भी षत्व नहीं होता । पर पूजार्थ से भिन्न अर्थ के द्योतक सु की उक्त संज्ञा नहीं होती अतः उपसर्ग संज्ञा रहती है जिसका फल होता है कि "सुषिक्तं किं तवात्र"—मैंने सुचारु रूप से सींचा है तुम्हारा इसमें क्या ? यहाँ निन्दा अर्थ है अतः सु के आगे सिक्तम् के स् को ष् हो गया है ।

"अतिरतिक्रमणे चेति"—अर्थात् अतिक्रमण एवं पूजा अर्थ में अति की उक्त संज्ञा होती है यथा "अति देवान् कृष्णः"—कृष्ण देवों से बढ़कर या देवों के पूज्य हैं—यहाँ कर्म प्रवचनीय संज्ञक अति के योग में 'देवान्' में द्वितीया विभक्ति है ।

"अपिः पदार्थ सम्भावनाऽन्वव सर्ग गर्हा समुच्चयेष्विति"—अर्थात् पदार्थ, सम्भावना, अन्ववसर्ग-गर्हा, समुच्चय, इन अर्थों को द्योतित करने मे 'अपि' की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होती है ।

पदार्थ का अर्थ है 'पद का अर्थ 'अर्थात् अप्रयुक्त शब्द के अर्थ को द्योतित करना ही पदार्थ है । "सर्पिषोऽपि स्यात्' इस प्रयोग में 'अपि' अप्रयुक्त बिन्दु का द्योतक है । अतः अपि की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होने से उपसर्ग संज्ञा के अभाव के कारण स्यात् के स् को ष् नहीं हुआ है, क्योंकि वह उपसर्ग के बाद ही हो सकता था ।

सर्पिषोऽपि स्यात् इस प्रयोग में स्यात् शब्द अस् धातु से सम्भावनार्थक लिङ् लकार में बना है । यह सम्भावना किस पदार्थ की ! इस जिज्ञासा में अस् धातु का अर्थ (सत्ता या भवन) 'होना' ही इस सम्भावना का विषय है अर्थात् होने की सम्भावना । इस स्थिति में कर्त्ता (बिन्दु) के अभाव में, 'अपि' उस अप्रयुक्त कर्त्ता (भवन-होने अर्थ का कर्त्ता बिन्दु है जो कि प्रयुक्त नहीं है,) को द्योतित करता है और इस प्रकार कर्त्ता की दुर्लभता द्योतित करता हुआ वह 'अपि क्रिया के साथ सम्बद्ध हो जाता है । तात्पर्य यह है कि इस वाक्य में प्रयुक्त 'अपि' स्यात् क्रिया के कर्त्ता, बिन्दु के अर्थ को द्योतित करने के लिये आया है अतएव वह बिन्दु की तरह ही, स्यात् क्रिया के अर्थ-होने की सम्भावना—को तथा कर्त्ता बिन्दु को भी द्योतित करता है इसीलिये वह बिन्दु की भाँति ही स्यात् क्रिया से सम्बद्ध हो जाता है, यही अपि शब्द की पदार्थ द्योतकता है । सर्पिस् और अपि में अवयवावयविभाव सम्बन्ध होने से यहाँ षष्ठी विभक्ति है द्वितीया विभक्ति तो यहाँ नहीं हो सकती क्योंकि सर्पिस् का बिन्दु के साथ योग है अपि के साथ नहीं ।

सर्पिषोऽपि स्यात्' इस प्रयोग में 'स्यात्' यह क्रिया पद अस् धातु से लिङ् लकार में बनता है, लिङ् लकार सम्भावना अर्थ में होता है, इस सम्भावना का विषय, अस् धातु का अर्थ-होना (सत्ता या भवन) है । अर्थात् स्यात् का अर्थ है—होने की सम्भावना । किसके होने की ? इस जिज्ञासा में कर्त्ता के होने की सम्भावना ही होती है । वह कर्त्ता (बिन्दु) यहाँ प्रयुक्त नही है । अतः 'अपि' यहाँ उसे द्योतित करता है और इस प्रकार 'अपि जिस तरह कर्त्ता (बिन्दु) की दुर्लभता द्योतित करता है और इस प्रकार वह न केवल बिन्दु को ही द्योतित करता है अपितु बिन्दु कर्त्ता की दुर्लभता को प्रकट करता हुआ स्यात् क्रिया जन्य दुर्लभता को भी प्रकट करने के कारण वह स्यात् से सम्बद्ध भी हो जाता है । यहाँ अपि से बिन्दु अर्थ गम्य होता है । सर्पिस् से बिन्दु का अवयवावयवि भाव सम्बन्ध है—बिन्दु "अवयव" सर्पिस् (घृत) 'अवयवी' इस प्रकार अवयवावयविसम्बन्ध होने से (सर्पिषः) में सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति है । यहाँ द्वितीया विभक्ति नहीं हो सकती क्योंकि सर्पिस् का तो बिन्दु से योग है न कि अपि से, अतः बिन्दु के योग के अभाव में द्वितीया नहीं हो सकती । अपि शब्द की यही पदार्थ द्योतकता है । और इसी अर्थ में अपि की उक्त संज्ञा है जिसका फल षत्वाभाव है ।

"अपि स्तुयाद् विष्णुम्"—क्या विष्णु की स्तुति कर सकेगा । यहाँ सम्भावना द्योतनार्थ प्रयुक्त अपि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उपसर्ग संज्ञाभाव के कारण 'स्तुयात्' के स् को ष् नहीं हुआ है । सम्भावना का अर्थ शक्ति के उत्सर्ग को प्रकट करने के लिये अत्युक्ति करना है ।

"अपि स्तुहि"—अच्छा स्तुति करो अथवा नहीं—यहाँ अन्ववसर्ग (इष्ट कार्य करने की अनुमति देना) अर्थ में अपि की उक्त संज्ञा और उसका फल षत्वाभाव है ।

कालाध्वनोरत्यन्त संयोगे । २।३।५।।

इह द्वितीया स्यात् । मासं कल्याणी । मासमधीते । मासं गुडधानाः । क्रोशं कुटिला नदी । क्रोशमधीते । क्रोशं गिरिः । अत्यन्त संयोगे किम्-मासस्य द्विरधीते । क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः । इति द्वितीया ।

"धिक् देवदत्तम् अपि स्तुयाद् वृषलम्"—देवदत्त को धिक्कार है जो कि वह शूद्र की स्तुति करता है—यहाँ गर्हा (निन्दा) अर्थ में अपि की उक्त संज्ञा और उसका फल षत्वाभाव है ।

"अपि सिञ्च अपि स्तुहि"—सींचो भी, स्तुति भी करो—यहाँ समुच्चय अर्थ में अपि की उक्त संज्ञा का फल षत्वाभाव है ।

"कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे"—जब कोई वस्तु भाव या क्रिया लगातार कुछ समय तक या दूर तक चलती रहती है (व्यवधान नहीं होता) तो उन समयवाचक और मार्ग (अध्वन्) वाचक शब्दों से द्वितीया विभक्ति होती है जैसे—

"मासं कल्याणी"—मास भर कल्याणकारिणी—इस प्रयोग में कल्याण रूप गुण मास भर लगातार वना रहता है अतः कालवाचक 'मास' शव्द में द्वितीया विभक्ति है ।

"मासमधीते"—महीने भर लगातार पढ़ता है—यहाँ अध्ययन क्रिया के अत्यन्त संयोग में 'मास' शव्द में द्वितीया है ।

"मासं गुडधाना"—मास भर गुडधान है—यहाँ गुडधान रूप द्रब्य का मास के साथ निरन्तर संयोग होने से द्वितीया है ।

"क्रोशं कुटीला नदी"—कोस भर तक लगातार टेढ़ी नदी—यहाँ नदी के कुटिलत्व गुण के कोस भर तक बरावर टेढ़े रहने पर मार्गवाचक क्रोश शव्द में द्वितीया है ।

"क्रोशमधीते—कोस भर पढ़ता है—यहाँ अध्ययन क्रिया का कोस भर तक लगातार सम्वन्ध है अतः 'क्रोश' शव्द में द्वितीया है ।

"क्रोशं गिरिः"—कोस भर तक (लगातार) पर्वत है—यहाँ 'क्रोशम्' में गिरि का निरन्तर सम्वन्ध रहने से द्वितीया है ।

"अत्यन्तसंयोगे किमिति"—यदि गुण क्रिया या द्रव्य वाचक का कालवाचक या मार्गवाचक से लगातार सम्बन्ध (अत्यन्त संयोग) होता है तो कालवाची या मार्गवाचक शब्द से द्वितीया होती है अन्यथा नहीं ।

"मासस्य द्विरधीते"—(महीने में दो वार पढ़ता है) अध्ययन क्रिया का मास से लगातार सम्बन्ध नहीं है, अतः मास में द्वितीया विभक्ति नहीं होती अपितु सम्बन्ध विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है। इसी प्रकार 'क्रोशस्यैकदेशे पर्वतः' यहाँ पर भी मार्गवाचक शब्द क्रोश से सम्पूर्णतया सम्बन्ध न होने पर द्वितीया न होकर षष्ठी हुई है।

इति द्वितीया

तृतीया विभक्ति

स्वतन्त्रः कर्त्ता । १।४।५४।।

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्त्ता स्यात् ।

साधकतमं करणम् । १।४।४२।।

क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात् । तमव् ग्रहणं किम्—गंगायां घोषः ।

कर्तृकरणयोस्ततीया । २।३।१८।।

अनभिहिते कर्तरि करणे च तृतीया स्यात् । रामेण वाणेन हतो वाली ।

स्वतन्त्रः कर्ता इति—क्रिया का स्वतन्त्रता से विवक्षित पदार्थ कर्त्ता* कहलाता है।

साधकतमं करणमिति—क्रिया की सिद्धि में जो कारक सबसे अधिक सहायक होता है उसे करण** कहते हैं। अर्थात् जिस पदार्थ के व्यापार के अनन्तर क्रिया की सिद्धि हो जाती है वही सबसे अधिक सहायक होता है और उसी की करण संज्ञा होती है।

तमबिति—सूत्र में साधक शब्द के आगे तमप् ग्रहण करने का क्या प्रयोजन है? अर्थात् यह कारक प्रकरण है कारक और साधक पर्यायवाचक शब्द हैं अतः पुनः

---

* "विवक्षातः कारकाणि भवन्ति" नियम के अनुसार प्रत्येक कारक विवक्षाधीन है अतः क्रिया का आश्रय जड़ या चेतन जो भी हो, वह कर्त्ता कहा जायगा।

** रामः जलेन मुखं प्रक्षालयति 'इस वाक्य में यद्यपि जल और राम का हाथ दोनों सहायक हैं तथापि हाथ वाक्य के अन्तर्गत होने से सहायक नहीं कहा जायगा अतः जल ही यहाँ सबसे अधिक सहायक कारक है अतः जल की कारण संज्ञा होगी।

(वा) प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम् । प्रकृत्या चारुः । प्रायेण याज्ञिकः । गोत्रेण गार्ग्यः । समेनैति । विषमेणैति । द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति । सुखेन दुःखेन वा यातीत्यादि ।

साधक ग्रहण से ही प्रकृष्ट साधक यह अर्थ तो हो ही जाता फिर तमप् ग्रहण का क्या प्रयोजन है। इसका उत्तर है कि इस कारक प्रकरण में अन्वर्थ संज्ञा वल से प्राप्त विशेष अर्थ नहीं लिया जाता, साधारण अर्थ ही गृहीत होता है जिसका फल यह होता है कि 'आधारोऽधिकरणम्' इस सूत्र से आधारमात्र की अधिकरण संज्ञा हो जाती है। यदि तमप् ग्रहण वल से यह अर्थ न लिया गया होता तब "गंगायां घोषः" इस वाक्य में अधिकरण-संज्ञा न होती, केवल 'तिलेषु तैलम्' इत्यादि प्रयोगों में ही पूर्णतया व्यापक आधार में ही अधिकरण संज्ञा होती। तमप् ग्रहण के कारण साधारण आधार की भी अधिकरण संज्ञा हो जाती है।

कर्तृकरणयोस्तृतीया इति—अनुक्त कर्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है।

"रामेण वाणेन हतो वाली"—इस प्रयोग में 'हतः' में कर्म-वाच्य में क्त प्रत्यय है। अतः कर्त्ता अनुक्त है और वाण करण है। प्रस्तुत सूत्र से दोनों में तृतीया विभक्ति होती है।

(वा) **"प्रकृत्यादित्य उपसंख्यानम्"**—प्रकृति आदि शब्दों से तृतीया विभक्ति होती है।

"प्रकृत्या चारुः"—स्वभाव से सुन्दर—यहाँ प्रकृति शब्द से तृतीया विभक्ति होती है।

इसी प्रकार—**प्रायेण याज्ञिकः**—प्रायः याज्ञिक है, **गोत्रेण गार्ग्यः**—गोत्र से गार्ग्य है, **समेनैति**—समगति से आता है, **विषमेणैति**—विषम चलता है, आदि में भी तृतीया विभक्ति होती है।

"द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणति—दो-दो द्रोण करके धान्य खरीदता है, **सुखेन दुःखेन वा याति**-सुख अथवा दुःख से चलता है, इन प्रयोगों में उक्त वार्तिक से तृतीया विभक्ति होती है।

इन दोनों ही प्रयोगों में भी उक्त वार्तिक से तृतीया विभक्ति हुई है। प्रथम प्रयोग में तो 'दो द्रोण सम्बन्धी धान्य' ऐसा अर्थ करने से सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति प्राप्त थी और दूसरे प्रयोग में सुख और दुःख दोनों के क्रिया विशेषण होने से द्वितीया प्राप्त थी इस वार्तिक से षष्ठी एवं द्वितीया को रोककर तृतीया हुई है।

प्रकृत्यादिगण आकृति गण है अतः गणपाठ में अपठित शब्दों से भी तृतीया होती है यथा "नाम्ना श्यामः चरितेन दान्तः" इत्यादि प्रयोगों में भी तृतीया विभक्ति होती है।

दिवः कर्म च । १।४।४३॥

दिवः साधकतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्, चात् करण संज्ञम् । अक्षैरक्षान्वा दीव्यति ।

अपवर्गे तृतीया । २।३।६॥

अपवर्गः फलप्राप्तिस्तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तन्तसंयोगे तृतीया स्यात् । अह्ना क्रोशेन वाऽनुवाकोऽधीतः । अपवर्गे किम्—मासमधीतो नायातः ।

सहयुक्तेऽप्रधाने । २।३।१९॥

सहार्थेन युक्ते अप्रधाने तृतीया स्यात् । पुत्रेण सहागतः पिता । एवं साकं सार्धं समं योगेऽपि । विनाऽपि तद्योगं तृतीया । 'वृद्धो यूना' १।२।६५॥ इत्यादि निर्देशात् ।

दिवः कर्म चेतिः—दिव् (खेलना) धातु के साधकतम कारक की कर्म संज्ञा होती है, और चकार ग्रहण से तृतीया भी होती है, यथा "**अक्षैः अक्षान् वा दीव्यति**"—पासों से खेलता है यहाँ तृतीया एवं कर्म संज्ञा होकर द्वितीया भी विभक्ति होती है ।

अपवर्गे तृतीयेति—अपवर्ग का अर्थ फल प्राप्ति है—फल प्राप्ति या कार्यसिद्धि का बोध कराने के लिये कालवाची और मार्गवाची शब्दों से तृतीया विभक्ति होती है, यथा "**अह्ना क्रोशेन वाऽनुवाकोऽधीतः** दिन भर या कोस भर में (लगातार कार्य करके) अनुवाक पढ़ लिया, यहाँ अहन् (कालवाचक) क्रोश (मार्गवाचक) शब्दों से तृतीया विभक्ति है ।

अपवर्ग—फल प्राप्ति का प्रयोजन यह है कि यदि निरन्तर कार्य करते हुए भी फलप्राप्ति नहीं होती तो कालवाचक या मार्गवाचक शब्दों से तृतीया न होकर 'कालाध्वनोरत्यन्त संयोगे' सूत्र से द्वितीया विभक्ति होगी । जैसे "मासमधीतो नायातः" मासभर पढ़ा तो भी आया नहीं—यहाँ द्वितीया ही होती है ।

सहयुक्तेऽप्रधाने इति—सह के अर्थ के योग में अप्रधान (अर्थात् प्रधान कर्त्ता का साथ देने वाले शब्द में तृतीया विभक्ति होगी '**पुत्रेण सहागतः पिता**'—पुत्र के साथ पिता आया—यहाँ प्रधान कर्ता पिता है क्योंकि क्रिया का मुख्य सम्बन्ध पिता के ही साथ है अतः उसमें प्रथमा है और अप्रधान कर्ता 'पुत्रेण' है इसलिये पुत्र शब्द से तृतीया है । इसी प्रकार सह के पर्यायवाची अन्य शब्दों के योग में भी तृतीया विभक्ति होती है 'मया साकं, सार्धम्, समं वा गच्छति ।

यदि कहीं सह आदि का प्रयोग नहीं भी है पर इनका अर्थ प्रतीत होता है तो भी सह आदि के अभाव में भी तृतीया विभक्ति होगी । इसका प्रमाण है "वृद्धो-यूना" इत्यादि पाणिनि सूत्र ही, 'यूना' में सह का योग न रहने पर भी तृतीया विभक्ति की गई है ।

येनाङ्गविकारः । २।३।२०॥

येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततस्तृतीया स्यात् । अक्ष्णा काणः । अक्षिसम्वन्धिकाणत्व विशिष्ट इत्यर्थः । अङ्गविकारः किम्—अक्षिकाण मस्य ।

इत्थं भूतलक्षणे । २।३।२१॥

कञ्चित् प्रकारं प्राप्तस्य लक्षणे तृतीया स्यात् । जटाभिस्तापसः । जटाज्ञाप्यतापसत्व विशिष्ट इयर्थः ।

संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि ।२।३।२२॥

सं पूर्वस्य जानातेः कर्मणि तृतीया वा स्यात् । पित्रा पितरं वा संजानीते ।

येनाङ्गविकार इति—जिस विकृत अंग से अंगी में विकार लक्षित होता है उस अंग वाचक शब्द से भी तृतीया विभक्ति होती है ।

"अक्ष्णा काणः"—आँख से काना—यहाँ विकृत 'आँख' जो कि शरीर का एक अंग है, से व्यक्ति (अंगी) में विकार लक्षित होता है अतः 'अक्षि' शब्द में तृतीया है इसका अर्थ है "आँख सम्बन्धी काणत्व से युक्त व्यक्ति" इसी प्रकार "पादेन खञ्जः, कर्णेन वधिरः, शिरसा खल्वाटः, पृष्ठेन कुब्जा, उदरेण स्थूलः कट्या वक्रः, आदि में भी तृतीया ही होगी ।

सूत्र में अंगविकार से तात्पर्य है कि जहाँ अंग के विकार से अंगी (व्यक्ति) में विकार लक्षित हो वहाँ अंगवाची शब्द में तृतीया होगी पर 'अक्षि काणमस्य" इस प्रयोग में आँख का कानापन ही वतलाया गया है न कि इससे व्यक्ति में विकार लक्षित कराया गया है अतः यहाँ 'अक्षि' में तृतीया न होगी ।

"इत्थं भूतलक्षणे इति"—इत्थं भूत अर्थात् किसी विशेष दशा को प्राप्त हुआ अतः जहाँ किसी विशेष दशा की प्राप्ति को सूचित करने वाले शब्दों का योग होगा वहाँ उन शब्दों में तृतीया विभक्ति होगी ।

"जटाभिस्तापसः"—जटाओं से तपस्वी-यहाँ जटाओं द्वारा व्यक्ति का तपस्वी होना लक्षित कराया गया है । जटाओं द्वारा व्यक्ति का तपस्वी होना लक्षित होता है अर्थात् जटायें तपस्वीपन की लक्षण या ज्ञापक हैं अतः 'जटाभिः' में प्रस्तुत सूत्र से तृतीया विभक्ति है । "जटाभिस्तापसः का अर्थ है' जटाओं से लक्षित तपस्वीपन से युक्त व्यक्ति ।"

'संज्ञ-इति'—सम् उपसर्ग पूर्वक ज्ञा धातु के कर्म में तृतीया विभक्ति विकल्प से हो ।

हेतौ । २।२।२३॥

हेत्वर्थे तृतीया स्यात् । द्रव्यादिसाधारणं निर्व्यापार साधारणं च हेतुत्वम् । करणत्वं तु क्रियामात्र विषयं व्यापार नियतं च । दण्डेन घटः । पुण्येण हृष्टो हरिः । फलमपीह हेतुः । अध्ययनेन वसति ।

गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका । अलं श्रमेण । श्रमेण साध्यं नास्तीत्यर्थः । साधन क्रियां प्रति श्रमः करणम् । शतेन शतेन वत्सान् पाययति पयः । शतेन परिच्छिद्य त्यर्थः ।

'पित्रा पितरं वा संजानीते'—(पिता को अच्छी प्रकार जानता है) यहाँ सम्+ज्ञा=संजानीते के कर्म 'पितरम्' में द्वितीया व 'पित्रा' में तृतीया विभक्ति हुई है।

हेताविति :—कारण वाची शब्द से तृतीया विभक्ति होती है।

द्रव्यादीति—'कर्तृकरणयोस्तृतीया' सूत्र से करण में तृतीया का विधान किया गया है, और इस सूत्र से हेतु में तृतीया होती है अतः स्पष्ट है कि करण और हेतु दोनों भिन्न हैं। हेतु तो साधारण रूप से द्रव्य गुण और क्रिया प्रायः तीनों का ही हो सकता है वहाँ किसी व्यापार होने की अत्यावश्यकता नहीं रहती पर 'करण' क्रिया का ही हो सकता है अतएव उसमें निश्चित रूप से क्रिया साधक व्यापार (कर्म) रहता है। "रामेण वाणेन वाली हतः" यहाँ वाण शब्द में करण में तृतीया है इस वाण में हनन् क्रिया का साधक व्यापार विद्यमान है। पर निम्नलिखित उदाहरणों मे ऐसा नहीं है अतः यहाँ हेतु में तृतीया है।

दण्डेन घट :—यहाँ यद्यपि दण्ड द्रव्य में व्यापार है पर वह घट (द्रव्य) का हेतु है, क्रिया का जनक नहीं। अतः यहाँ हेतु में तृतीया है।

पुण्येन हृष्टो हरि :—यहाँ पुण्य शब्द हरि दर्शन का हेतु है पर इसमें कोई व्यापार नहीं है अतः यह निर्व्यापार साधारण हेतु है अतः यहाँ प्रस्तुत सूत्र से हेतु में (न कि करण में) तृतीया है।

फलमपीति :—इस सूत्र में फल या प्रयोजन भी हेतु शब्द से गृहीत होता है अतएव :—

'अध्ययनेन वसति' अध्ययन के प्रयोजन से रहता है। यहाँ प्रयोजन के भी हेतु द्वारा गृहीत होने के कारण 'अध्ययन' में तृतीया विभक्ति हुई है।

गम्यमानेति—गम्यमाना अर्थात् वाक्य में साक्षात् अप्रयुक्त भी क्रिया, यदि उसका अर्थ निकलता है, तो वह भी कारक विभक्ति विधान में प्रयोजिका होती है।

अलं श्रमेण—श्रम से बस करो अर्थात् श्रम करना व्यर्थ है इससे कुछ सिद्ध न हो सकेगा। यहाँ 'श्रम' साधन क्रिया के प्रति करण है, पर साधन क्रिया वाक्य

(वा) अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया। दास्या संयच्छते कामुकः। धर्मे तु भार्यायै संयच्छति। इति तृतीया।

में प्रयुक्त नहीं है, पर उसका अर्थ यहाँ गृहीत होता है अर्थात् 'अलं श्रमेण' का अर्थ करते समय उसका अध्याहार कर लिया जाता है अतएव वह यहाँ गम्यमाना क्रिया कही जायगी, उपर्युक्त नियमानुसार ऐसी भी क्रिया कारक विभक्ति में निमित्त है अतः 'श्रमेण' में तृतीया है। **'शतेन शतेन वत्सान् पाययति पयः'** सौ सौ करके वछड़ों को पानी पिलाता है. यहाँ भी उपर्युक्त नियमानुसार गम्यमान 'परिच्छिद्य' इस क्रिया के द्वारा शतेन में तृतीया विभक्ति हुई है। यहाँ परिच्छिद्य क्रिया वाक्य में प्रयुक्त नहीं है तथापि इसके प्रति 'शत' यह करण है अतएव इस गम्यमान क्रिया को मानकर यहाँ तृतीया है।

(वा) **अशिष्टेति** :—अशिष्ट व्यवहार में दाण् (देना) धातु के प्रयोग में चतुर्थी के अर्थ में तृतीया विभक्ति होती है।

'दास्या संयच्छते कामुक :—(कामुक दासी के लिये देता है) यहाँ 'दा' के प्रयोग में चतुर्थी प्राप्त थी पर वार्तिक के अनुसार अशिष्ट व्यवहार में 'दास्या' में तृतीया विभक्ति हुई हैं

'भार्यायै संयच्छति' यहाँ धर्म व्यवहार है, अशिष्ट व्यवहार नहीं अतः वार्तिक से तृतीया न होकर साधारण अर्थ में 'दा' के प्रयोग में चतुर्थी होगी।

इति तृतीया

चतुर्थी विभक्तिः

कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् ।१।४।३२।।

दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदान संज्ञः स्यात् ।

चतुर्थी सम्प्रदाने ।२।३।१३।

विप्राय गां ददाति । अनभिहित इत्येव । दानीयो विप्रः ।

(व) क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम् । पत्ये शेते ।

कर्मणेति :—दान के कर्म द्वारा कर्त्ता जिसे चाहता है जिसको देता है या जिसको उद्देश्य बनाता है उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है। क्योंकि सम्प्रदान का अर्थ है जिसे कुछ दिया जाय 'सम्प्रदीयते यस्मै तत्सम्प्रदानम्'।

चतुर्थीति—सम्प्रदान कारक में चतुर्थी विभक्ति होती है।

विप्राय गां ददातिः —(ब्राह्मण को गाय देता है) यहाँ दान का कर्म गाय है जिसको वह ब्राह्मण को उद्देश्य कर देता है अतः 'विप्र' की सम्प्रदान संज्ञा और प्रकृत सूत्र से उसमें चतुर्थी विभक्ति है।

अनभिहित इति—द्वितीया तृतीया विभक्तियों की तरह चतुर्थी विभक्ति भी अनुक्त सम्प्रदान में ही होगी, अर्थात् जहाँ सम्प्रदान कारक में प्रत्यय होने पर सम्प्रदान उक्त हो जायगा वहाँ चतुर्थी न होगी।

दानीयो विप्रः—दीयते अस्मै इस विग्रह में सम्प्रदान में यहाँ अनीयर् प्रत्यय होकर 'दानीयः' रूप बनता है अतः सम्प्रदान के उक्त हो जाने से विप्र में चतुर्थी विभक्ति न होगी।

(वा) क्रिययेति :—जब किसी क्रिया के द्वारा भी कर्त्ता को कुछ अभिप्रेत (इष्ट) होता है तब भी उस पदार्थ की सम्प्रदान संज्ञा होती है।

पत्ये शेते :—पति के उद्देश्य से सोती है। यहाँ शयन क्रिया 'शेते' का अभिप्रेत पति है अतः उसकी सम्प्रदान संज्ञा होकर 'पत्ये' में चतुर्थी विभक्ति हुई है।

(वा) यजेः कर्मणः करणसंज्ञा सम्प्रदानस्य च कर्मसंज्ञा । पशुना रुद्रं यजते, पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः ।

रुच्यर्थानां प्रीयमाणः ।१।४।३३।।

रुच्यर्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणोऽर्थः सम्प्रदानं स्यात् ।

हरये रोचते भक्तिः । अन्य कर्तृकोऽभिलाषो रुचिः । हरिनिष्ठ प्रीतेर्भक्तिः कर्त्री । प्रीयमाणः किम्—"देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि ।

श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः ।१।४।३४।।

एषां प्रयोगे बोधयितुमिष्टः सम्प्रदानं स्यात् । गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते ह्नुते तिष्ठते शपते वा । ज्ञीप्स्यमानः किम्—देवदत्ताय श्लाघते पथि ।

(वा) यजेरिति—यज् धातु के कर्म की करण संज्ञा तथा सम्प्रदान की कर्म संज्ञा हो ।

'पशुना रुद्र यजते' (रुद्र को पशु देता है) यहाँ यज् धातु के कर्म पशु की करण संज्ञा तथा रुद्र की, जो कि 'दा' धातु के कर्म द्वारा अभिप्रेत पदार्थ है सम्प्रदान संज्ञा है । अतः कर्म (पशु) की करण संज्ञा होकर तथा रुद्र की कर्म संज्ञा होकर दोनों में क्रमशः तृतीया एवं द्वितीया विभक्ति हुई है ।

रुच्यर्थानामिति—रुचि अर्थ वाली धातुओं के योग में प्रीयमाण (प्रसन्न होने वाला) पदार्थ सम्प्रदान संज्ञक हो ।

(रुच् धातु के यद्यपि 'दीप्ति' तथा अभिप्रीति (प्रसन्नता) ये दो अर्थ हैं तथापि यहाँ 'प्रीयमाणः' इस पद के साहचर्य से अभिप्रीत्यर्थ ही रुच् धातु का गृहीत है ।)

हरये रोचते भक्तिः—हरि को भक्ति अच्छी लगती है । यहाँ रुच् धातु के योग में प्रीयमाण पदार्थ 'हरि' है अतः उसकी प्रकृतसूत्र से सम्प्रदान संज्ञा होकर उसमें चतुर्थी विभक्ति हुई है ।

अन्य कर्तृक इति—अन्य के द्वारा उत्पन्न की गई अभिलाषा को रुचि कहते हैं । प्रकृत उदाहरण में हरि में रहने वाली रुचि (प्रीति) को उत्पन्न करने वाली भक्ति है । रुच् धातु का इस प्रकार का यहाँ विशेष अर्थ ग्रहण किया गया है अतएव जहाँ इस प्रकार की अन्यकर्तृक अभिलाषा रूप रुचि न होगी वहाँ सम्प्रदान संज्ञा न होगी, जैसे 'हरिः भक्तिमभिलषति' यहाँ हरि की सम्प्रदान संज्ञा नहीं होती ।

प्रीयमाणः किमिति :—प्रीयमाण पदार्थ की ही सम्प्रदान संज्ञा होती है अतएव 'देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि' यहाँ प्रीयमाण पदार्थ देवदत्त है न कि पथिन् शब्द । अतः देवदत्त की ही सम्प्रदान संज्ञा है पथिन् की नहीं, अतएव वहाँ अधिकरण में सप्तमी है ।

श्लाघेति :—श्लाघ् (प्रशंसा या स्तुति करना) ह्नुङ् (छिपना या दूर करना) स्था, शप् (उलहना देना) धातुओं के प्रयोग में ज्ञीप्स्यमान पदार्थ, अर्थात् कर्त्ता जिस पर अपना भाव प्रकट करना चाहता है, की सम्प्रदान संज्ञा होती है ।

धारेरुत्तमर्णः १।४।३५।।

धारयतेः प्रयोगे उत्तमर्णः उक्त संज्ञः स्यात् । भक्ताय धारयति मोक्षं हरिः । उत्तमर्णः किम् देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे ।

स्पृहेरीप्सितः ।१।४।३६।।

स्पृहयतेः प्रयोगे इष्टः सम्प्रदानं स्यात् । पुष्पेभ्यः स्पृहयति । ईप्सितः किम्—पुष्पेभ्यो वने स्पृहयति । ईप्सितमात्रे इयं संज्ञा । प्रकर्षविवक्षायां तु परत्वात् कर्म संज्ञा । पुष्पाणि स्पृहयति ।

गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते ह्नुते तिष्ठते शपते वा (गोपी कामवश कृष्ण के लिये श्लाघा करती अर्थात् आत्म प्रशंसा द्वारा कृष्ण पर अपनी विरह वेदना प्रकट करती है। सपत्नी आदि को दूर कर कृष्ण पर अपना भाव प्रकट करती है। देर हो रही है अब चलना चाहिए ऐसा कह कर भी ठहर कर अपना भाव कृष्ण के लिये बतलाती है। उपालम्भ द्वारा अपना भाव प्रकट करती है। इन सभी भावों में कृष्ण ही वोधयितुमिष्ट अर्थात् ज्ञीप्स्यमान पदार्थ हैं अतः उसकी सम्प्रदान संज्ञा और चतुर्थी विभक्ति है।

ज्ञीप्स्यमानः किमिति—ज्ञीप्स्यमान पदार्थ की ही सम्प्रदान संज्ञा होती है। अतः 'देवदत्ताय श्लाघते पथि' यहाँ पथिन् शब्द ज्ञीप्स्यमान पदार्थ न होने के कारण सम्प्रदान संज्ञक न हुआ।

धारेरिति—णिजन्त धारि धातु के योग में उत्तमर्ण अर्थात् ऋण देने वाला सम्प्रदान संज्ञक होता है।

भक्ताय धारयति मोक्षं हरि :—(भगगवान भक्त के लिये मोक्ष का ऋणी है) यहाँ णिच् प्रत्ययान्त धृ के योग से उत्तमर्ण भक्त की सम्प्रदान संज्ञा और उसमें चतुर्थी विभक्ति है, भगवान अधमर्ण ऋणी है, भक्त उत्तमर्ण है, क्योंकि भक्त का भगवान पर भक्ति रूपी ऋण है जिसके निष्क्रय के लिये वह मोक्ष को धारण करता है।

उत्तमर्णः किमिति—उत्तमर्ण की ही सम्प्रदान संज्ञा होती है अतः **'देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे'** यहाँ उत्तमर्ण देवदत्त है न कि पथिन् अतः पथि में सप्तमी विभक्ति हुई है और देवदत्त में जो कि उत्तमर्ण है सम्प्रदान संज्ञा तथा चतुर्थी विभक्ति है।

स्पृहेरिति—स्पृह् (चाहना) धातु के योग में ईप्सित (चाहा हुआ) पदार्थ सम्प्रदान संज्ञक हो।

पुष्पेभ्यः स्पृहयति—(फूलों को चाहता है) यहाँ स्पृह् धातु के योग में ईप्सित पदार्थ-पुष्प की सम्प्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति हुई है।

क्रुध द्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः १।४।३७॥

क्रुधाद्यर्थानां प्रयोगे यं प्रति कोपः स उक्त संज्ञः स्यात् । हरये क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति वा । यं प्रति कोपः किम्—

भार्यामीर्ष्यति, मैनामन्योऽद्राक्षीदिति । क्रोधोऽमर्षः । द्रोहोऽपकारः । ईर्ष्याऽक्षमा, असूया गुणेषु दोषाविष्करणम् । द्रुहादयोऽपि कोपप्रभवा एव गृह्यन्ते । अतो विशेषणं सामान्येन यं प्रति कोप इति ।

ईप्सितः किमिति—ईप्सित पदार्थ की ही सम्प्रदान संज्ञा होती है। अतः 'पुष्पेभ्यो वने स्पृहयति' यहाँ वन की सम्प्रदान संज्ञा नहीं हुई क्योंकि ईप्सित पदार्थ पुष्प है न कि वन।

ईप्सितमात्र इति—सूत्र द्वारा साधारणतया ईप्सित चाहे हुए पदार्थ की ही, सम्प्रदान संज्ञा होती है न कि ईप्सिततम् अत्यधिक चाहे हुए पदार्थ की भी, अत्यधिक चाहे हुए पदार्थ अर्थात् जिसमें प्रकर्ष—अत्यधिकता की विवक्षा होगी तो वहाँ सम्प्रदान संज्ञा न होकर कर्म संज्ञा ही होगी क्योंकि 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' सूत्र सम्प्रदान संज्ञा विधायक सूत्र से पर है, नियमानुसार तुल्य बल विरोध होने पर, पर कार्य ही होता है (विप्रतिषेधे परंकार्यम्)

पुष्पाणि स्पृहयति—यहाँ प्रकर्ष विवक्षा में पर होने के कारण कर्मसंज्ञा होकर पुष्पाणि में द्वितीया हुई है।

क्रुधेति—क्रुध (क्रोध करना) द्रुह (द्रोह-वैर करना) ईर्ष्य (ईर्ष्या करना) असूय (गुणों में दोष देखना) धातुओं के प्रयोग में जिस पर क्रोध आदि किया जाय उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है।

हरये क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति वा—(हरि पर क्रोध द्रोह आदि करता है) यहाँ इन धातुओं के प्रयोग में हरि के प्रति क्रोध है अतः उसकी सम्प्रदान संज्ञा और उसमें चतुर्थी विभक्ति हुई है।

यं प्रति कोपः किमिति—जिसके प्रति कोप हो उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है अतः भार्याम् ईर्ष्यति मा एनाम् अन्यः अद्राक्षीत् (पत्नी को कोई दूसरा देखे यह बात सहन नहीं करता) यहाँ भार्या के प्रति क्रोध नहीं है किन्तु उसका दूसरे के द्वारा देखा जाना सह्य नहीं है अतः कोप का विषय न होने के कारण भार्या की सम्प्रदान संज्ञा न होगी अपितु उसमें कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति होगी।

यद्यपि क्रुध आदि चारों क्रियाओं का अर्थ भिन्न-भिन्न है तथापि (यं प्रति कोपः) यह सामान्य रूप से इन सभी का विशेषण है जैसे क्रोध का अर्थ है—अमर्ष, द्रोह-अपकार, इर्ष्या सहन न करना और असूया-गुणों में दोष देखना। अतः यहाँ न केवल क्रोध अपितु द्रोह आदि भी कोप प्रभव-क्रोध से उत्पन्न होने वाले ही लिये जाते हैं। अत एव यं प्रति कोपः यह सामान्यतः सभी का विशेषण हो जाता है।

क्रुध द्रुहोरूपसृष्टयोः कर्म १।४।३८।।

सोपसर्गयोरनयोर्योगे यं प्रति कोपस्तत्कारकं कर्म संज्ञं स्यात् ।

क्रूरमभिक्रुध्यति । अभि द्रुह्यति ।

राधीक्ष्योर्यस्य वि प्रश्नः १।४।३९।।

एतयोः कारकं संप्रदानं स्यात् । यदीयो विविधः प्रश्नः क्रियते ।

कृष्णाय राध्यति ईक्षते वा । पृष्टो गर्गः शुभाशुभं पर्यालोचयतीत्यर्थः ।

प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्त्ता १।४।४०।।

आभ्यां परस्य शृणोतेर्योगे पूर्वस्य प्रवर्तनरूप व्यापारस्य कर्त्ता सम्प्रदानं स्यात् । विप्राय गां प्रतिशृणोति आशृणोति वा । विप्रेण मह्यं देहीति प्रवर्तितः प्रति जानीत इत्यर्थः ।

अनुप्रति गृणश्च १।४।४१।।

क्रुधद्रुहोरिति—उपसर्ग पूर्वक क्रुध् और द्रुह् धातुओं के योग में जिसके प्रति कोप हो उसकी कर्मसंज्ञा होती है ।

क्रूरमभिक्रुध्यति अभिद्रुह्यति—क्रूर के प्रति क्रोध और द्रोह करता है यहाँ दोनों धातुओं के सोपसर्ग होने से प्रकृत सूत्र से क्रोध के विषय 'क्रूर' की कर्म संज्ञा होकर द्वितीया हुई है ।

राधीक्ष्योरिति—राध् तथा ईक्ष् धातुओं के योग में जिसके विषय में शुभाशुभ विषयक विविध प्रश्न किये जाँय उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है ।

राध तथा ईक्ष धातु के क्रमशः आराधना एवं देखना अर्थ हैं पर यहाँ इनका प्रयोग शुभाशुभ विषयक पर्यालोचना के अर्थ में किया गया है ।

"कृष्णाय राध्यति ईक्षते वा" गोपी द्वारा पूछे जाने पर गर्गाचार्य कृष्ण के विषय में शुभाशुभ की पर्यालोचना करते हैं, यहाँ कृष्ण के विषय में प्रश्न किया गया था । अतः उसी की सम्प्रदान संज्ञा हुई और चतुर्थी विभक्ति हुई है ।

प्रत्याङ्भ्यामिति—प्रति और आङ् उपसर्गपूर्वक श्रु धातु के योग में प्रवर्तित कराने वाले, अर्थात् जो पहले प्रेरणा करने वाला है, कर्त्ता की सम्प्रदान संज्ञा हो ।

विप्राय गां प्रतिशृणोति आशृणोति वा (विप्र के लिये गाय का वचन देता है तात्पर्य यह कि पहले ब्राह्मण कहता है कि मुझे गाय दो तब दूसरा उसे गाय देने का वचन देता है) इस वाक्य में पहले प्रवर्त्तन रूप-प्रेरणा रूप व्यापार का कर्त्ता विप्र है अतः उसकी सम्प्रदान संज्ञा होकर उसमें चतुर्थी विभक्ति हुई है । (प्रति आङ् पूर्वक श्रु धातु का अर्थ प्रतिज्ञा करना या वचन देना है ।)

अनुप्रतिगृणश्चेति—अनु तथा प्रति उपसर्ग पूर्वक गृ (शब्द करना) धातु के योग में पहले प्रवर्त्तना रूप व्यापार के करने वाले की सम्प्रदान संज्ञा होती है ।

आभ्यां गृणातेः कारकं पूर्व-व्यापारस्य कर्तृभूत मुक्त संज्ञं स्यात् । होत्रेऽनुगृणाति प्रतिगृणाति ।

होता प्रथमं शंसति तमध्वर्युः प्रोत्साहयतीत्यर्थः

परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् १।४।४४।।

नियतकालं भृत्या स्वीकरणं परिक्रयणं तस्मिन् साधकतमं कारकं सम्प्रदान संज्ञं वा स्यात् । शतेन शताय वा परिक्रीतः ।

(वा) तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या । मुक्तये हरिं भजति ।

(वा) क्लृपि सम्पद्यमाने च । भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते सम्पद्यते जायते इत्यादि ।

(वा) उत्पातेन ज्ञापिते च । वाताय कपिला विद्युत् ।

होत्रेऽनुगृणाति प्रतिगृणाति—होता के लिये अनुगृणन-प्रोत्साहन देता है अर्थात् होता (यज्ञीय चार ऋत्विजों में से एक) पहिले बोलता है तब अध्वर्यु (अन्य ऋत्विज) उसको प्रोत्साहित करता है, यहाँ पूर्वव्यापार का कर्त्ता होता है अतः उसकी सम्प्रदान संज्ञा होकर उसमें चतुर्थी विभक्ति हुई है ।

परिक्रयणे इति—परिक्रयण का अर्थ है 'नियत काल के लिये किसी को वेतन पर रखना । इस परिक्रयण रूप व्यापार का जो साधकतम कारक उसकी सम्प्रदान संज्ञा विकल्प से होती है ।

शतेन शताय वा परिक्रीतः—(सौ रुपये वेतन देकर रखा गया) यहाँ परिक्रयण (वेतन देकर नियत काल के लिये स्वीकार करना) का साधकतम कारक अर्थात् करण 'शत' है अतः उसकी सम्प्रदान संज्ञा और उसमें चतुर्थी विभक्ति है, पक्ष में करण में तृतीया विभक्ति होगी ।

(वा) तादर्थ्य इति—तादर्थ्य अर्थात् 'उसके लिये' इस अर्थ में चतुर्थी विभक्ति होती है तात्पर्य यह कि जिस प्रयोजन के लिये कोई कार्य होता है उस प्रयोजन वाचक शब्द से चतुर्थी विभक्ति होती है ।

मुक्तये हरिं भजति—(मुक्ति के लिये हरि को भजता है) यहाँ मुक्ति प्रयोजन है अतः उसमें चतुर्थी विभक्ति हुई है ।

(वा) क्लृपीति—क्लृप्—समर्थ होना या उत्पन्न होना अर्थवाली धातुओं के प्रयोग में जो होने वाला और परिणाम या फलरूप है उसमें चतुर्थी होती है ।

भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते सम्पद्यते जायते (भक्ति ज्ञान के लिये होती है) यहाँ ज्ञान सम्पद्यमान (होने वाला) है अतः उसमें चतुर्थी हुई है ।

(वा) उत्पातेनेति—उत्पात का अर्थ है, आकस्मिक भौतिक विकार जो अशुभ सूचक हो, इस उत्पात से सूचित अर्थ में चतुर्थी विभक्ति होती है ।

(वा) हितयोगे च । ब्राह्मणाय हितम् ।

क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः ।१।३।१४।।

क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य तस्य स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य तुमुनः कर्मणि चतुर्थी स्यात् । फलेभ्यो याति । फलान्याहर्तुं यातीत्यर्थः ।

नमस्कुर्मो नृसिंहाय । नृसिंहमनुकूलयितुमित्यर्थः । एवं स्वयम्भवे नमस्कृत्येत्ये-त्यादावपि ।

तुमर्थाच्च भाववचनात् ।२।३।१५।।

वाताय कपिला विद्युत्—(कपिल वर्ण की बिजली आँधी की सूचिका है) यहाँ बिजली से आँधी की अशुभ सूचना मिलती है अतः 'वाताय' में चतुर्थी विभक्ति है ।

(वा) हितयोगे चेति—हित के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है ।

ब्राह्मणाय हितम्—यहाँ हितयोग में 'ब्राह्मणाय' में चतुर्थी है ।

क्रियार्थोपपदस्येति—उपपद वह पद होता है जो समीप सुनाई पड़े या रहे । क्रियार्था क्रिया 'उपपदं यस्य' अर्थात् जहाँ किसी एक क्रिया के लिये होने वाली दूसरी क्रिया पास में हो । स्थानिनः का अर्थ है अप्रयुज्यमान अर्थात् जिसका स्थान तो हो पर उसका प्रयोग न किया गया है । क्रियार्था क्रिया के योग में तुमुन् प्रत्यय का विधान किया गया है । क्रियार्थक क्रिया के योग में ही तुमुन् और ण्वुल प्रत्यय होते हैं अतः क्रियार्थक क्रिया से यहाँ तात्पर्य तुमुन् प्रत्ययान्त क्रिया की सिद्धि के लिये प्रयुक्त अन्य क्रिया । पर स्थानी अर्थात् उसका प्रयोग वाक्य में न किया गया हो अतः क्रियार्थोपपदस्य स्थानिन इत्यादि का अर्थ है जहाँ तुमुन् प्रत्ययान्त धातु का अर्थ तो प्रकट हो रहा हो पर उसका प्रयोग न हो तो ऐसी क्रिया के कर्म मे चतुर्थी विभक्ति होती है ।

फलेभ्यो याति—फलों के लिये जाता है, यहाँ इसका तात्पर्य है कि फलों को ले आने के लिये जाता है । यहाँ क्रियार्था क्रिया है 'याति' क्योंकि आनयन रूप क्रिया के लिये यहाँ इस दूसरी क्रिया का प्रयोग है, पर उस आनयन क्रिया का प्रयोग नहीं किया गया है यद्यपि यहाँ इसका कर्म 'फल' है । अतः इस क्रियार्था क्रिया 'याति' के उपपद (पास में) रहते, अप्रयुज्यमान जो तुमुन् प्रत्ययान्त 'आहर्तुम्' क्रिया उसके कर्म अर्थात् 'फल' में चतुर्थी विभक्ति हुई है । इसी प्रकार **'नमस्कुर्मो नृसिंहाय'** इस वाक्य में नृसिंहम् अनुकूलयितुम् नमस्कुर्मः इस अर्थ में अनुकूलयितुम् इस स्थानी अर्थात् अप्रयुज्यमान तुमुन्नन्त पद के कर्म नृसिंह में चतुर्थी विभक्ति है । यहाँ भी नमस्कुर्मः यह क्रियार्था क्रिया उपपद है । इसी प्रकार 'स्वयम्भुवे नमस्कृत्य' इत्यादि स्थलों में भी चतुर्थी विभक्ति हुई है । यहाँ इसका अर्थ है "स्वयम्भुवम् प्रीणयितुम् नमस्कृत्य" यहाँ भी प्रीणयितुम् इस तुमुन्नन्त पद का अप्रयोग है यद्यपि उसका भाव यहाँ गृहीत है ।

तुमर्थाच्चेति—'भाववचनाश्च' ३।३।११।। इस सूत्र द्वारा भाव में होने वाले

'भाववचनाश्च' इति सूत्रेण यो विहितस्तदन्ताच्चतुर्थी स्यात् ।
यागाय याति, यष्टुं यातीत्यर्थः ।

नमः स्वस्ति स्वाहा स्वधाऽलं वषड्योगाच्च ।२।३।१६।।

एभिर्योगे चतुर्थी स्यात् । हरये नमः ।

(वा) उपपद विभक्तेः कारक विभक्तिर्बलीयसी । नमस्करोति देवान् ।
प्रजाभ्यः स्वस्ति । अग्नये स्वाहा । पितृभ्यः स्वधा ।
अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम् । तेन दैत्येभ्यो हरिरलं प्रभुः समर्थः शक्त इत्यादि । प्रभ्वादियोगे षष्ठ्यपि साधुः । तस्मै प्रभवति: ५।१।१०१।।

घञ् आदि प्रत्ययों का तुमुन् के अर्थ में विधान किया गया है अतः उन घञ् आदि प्रत्ययान्त शब्दों से चतुर्थी विभक्ति हो ।

यागाय याति—यज्ञ के लिये अर्थात् यज्ञ करने के लिये जाता है । यहाँ यज् धातु से भाव में घञ् प्रत्यय होकर याग शब्द बनता है, यहाँ घञ् प्रत्यय तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में हुआ है अतः इस घञन्त शब्द से चतुर्थी विभक्ति है ।

नम इति—नमः स्वस्ति स्वाहा स्वधा अलम् वषड् शब्दों के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है ।

हरये नमः—यहाँ नमः के योग में 'हरये' में चतुर्थी है ।

उपपदविभक्तेरिति—उपपद विभक्ति से कारक विभक्ति बलवती होती है । अतः इस बलवत्तावश उपपद विभक्ति को बाधकर कारक विभक्ति होती है । विभक्ति विधान के प्रायः दो निमित्त होते हैं (१) क्रिया सम्बन्ध (२) पद सम्बन्ध । क्रिया को साक्षात् या असाक्षात् रूप से निमित्त मानकर होने वाली विभक्ति कारक विभक्ति कही जाती है जैसे कर्म में होने वाली द्वितीया विभक्ति आदि । पद को मानकर अर्थात् क्रिया पद से भिन्न अन्य किसी पद को निमित्त मानकर होने वाली विभक्ति उपपद विभक्ति कही जाती है ।

(उपपद=पास में पढ़ा गया पद) जिस एक ही स्थल में दोनों प्रकार की विभक्तियाँ प्राप्त होती हैं वह कारक विभक्ति ही होती है जैसे 'नमस्करोति देवान्' इस वाक्य में नमः इस पद को निमित्त मानकर उक्त सूत्र से चतुर्थी विभक्ति प्राप्त होती है । 'नमस्करोति' इस क्रिया पद को मानकर कर्म 'देव' में द्वितीया विभक्ति भी प्राप्त होती है । इस दशा में उक्त परिभाषा के नियमानुसार कारक विभक्ति-द्वितीया के बलवती होने से यहाँ द्वितीया विभक्ति ही होगी, चतुर्थी नहीं, क्योंकि वह 'नमः' पद को निमित्त मानकर होने के कारण उपपद विभक्ति है ।

प्रजाभ्यः स्वस्ति—यहाँ स्वस्ति के योग में 'प्रजाभ्यः' में चतुर्थी विभक्ति है ।

अग्नये स्वाहा—यहाँ स्वाहा के योग में 'अग्नये' में तथा **पितृभ्यः स्वधा** यहाँ स्वधा के योग में 'पितृभ्यः' में चतुर्थी विभक्ति है ।

स एषां ग्रामणीः ५।२।७८।। इति निर्देशात् । तेन प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्येति सिद्धम् । वषडिन्द्राय । चकारः पुनर्विधानार्थः ।

तेनाशीर्विवक्षायां परामपि 'चतुर्थी चाशिषीति' षष्ठीं बाधित्वा चतुर्थ्येव भवति । स्वस्ति गोभ्यो भूयात् ।

अलमिति—सूत्र में 'अलम्' से पर्याप्ति अर्थ का ग्रहण है अर्थात् करने में समर्थ यह अर्थ है, फलतः निषेधार्थक अलम् के योग में चतुर्थी न होगी । पर्याप्त अर्थात् समर्थ अर्थ वाले सभी शब्दों के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है । अतः "**दैत्येभ्यो हरिः अलम् समर्थः प्रभुः शक्तः** इत्यादि के योग में भी 'दैत्येभ्यः' में चतुर्थी विभक्ति सिद्ध होती है परन्तु **अलं निवादेन** (विवाद न करो) यहाँ निषेधार्थक अलं के योग में चतुर्थी न होकर तृतीया हुई है ।

प्रभ्वादियोगे इति—प्रभुः समर्थः के योग में उपर्युक्त उदाहरणों में चतुर्थी तो प्रस्तुत सूत्र द्वारा होती ही है पर इन प्रभु आदि समर्थ वाचक शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति भी शुद्ध मानी गई है, यद्यपि किसी सूत्र द्वारा इस षष्ठी का विधान नहीं किया गया है तथापि पाणिनि सूत्रों 'तस्मै प्रभवति' स एषां ग्रामणी" से यह विदित होता है कि प्रभ्वादि के योग में चतुर्थी भी होती है क्योंकि स्वयं सूत्रकार ने 'तस्मै प्रभवति' यह प्रयोग किया है (यहाँ प्रभवति का अर्थ समर्थ होना है) और इसी प्रकार ग्रामणी (ग्राम को नयन करने में समर्थ) के योग में 'एषाम्' में षष्ठी का प्रयोग किया है । इन्हीं सूत्रों के प्रमाण से माघ कवि ने 'प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य' इस प्रयोग में 'भुवनत्रयस्य' शब्द में प्रभुः के योग में षष्ठी विभक्ति की है । अर्थात् माघ कवि का उक्त प्रयोग पाणिनि व्याकरण सम्मत ही समझना चाहिये ।

वषडिन्द्राय—इन्द्राय वषट् (इन्द्र के लिये हविष्यदान) यहाँ वषट् के योग में 'इन्द्राय' में उक्त सूत्र से चतुर्थी है ।

चकार इति—सूत्र में चकार ग्रहण पुनः चतुर्थी विधान के लिये है । जिससे कि आशीर्वादार्थ की विवक्षा में 'चतुर्थी चाशिषि' इस सूत्र द्वारा होने वाली, पर भी षष्ठी विभक्ति को बाधकर चतुर्थी ही हो ।

'स्वस्ति गोभ्यो भूयात्' (गायों का कल्याण हो) यहाँ आशीर्वादार्थ विवक्षा में 'चतुर्थी चाशिषि' सूत्र से षष्ठी विभक्ति और स्वस्ति के योग में प्रकृत सूत्र से चतुर्थी दोनों ही प्राप्त होती हैं । इस दशा में तुल्यबल विरोध होने पर, पर कार्य होना चाहिये था अर्थात् षष्ठी विधायक सूत्र के पर होने के कारण षष्ठी ही होनी चाहिये थी पर सूत्र में जो चकार का ग्रहण किया गया है वह पुनः चतुर्थी विधानार्थ है अतः पर भी षष्ठी को बाधकर यहाँ चतुर्थी ही होगी अन्यथा चकार ग्रहण का कोई प्रयोजन ही न रह जायगा । यदि चकार न होता तो परत्वात् षष्ठी ही होती ।

मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु ।२।३।१७।।

प्राणि वर्जे मन्यतेः कर्मणि चतुर्थी वा स्यात्तिरस्कारे । न त्वां तृणं मन्ये तृणाय वा । श्यना निर्देशात् तानादिकयोगे न । न त्वां तृणं मन्वेऽहम् । अप्राणिष्वित्यपनीय ।

(वा) नौकाकान्नशुकशृगाल वर्ज्येष्विति वाच्यम् । तेन न त्वां नावम् अन्नं वा मन्ये इत्यत्राप्राणित्वेऽपि चतुर्थी न । न त्वां शुने मन्ये इत्यत्र प्राणित्वेऽपि भवत्येव ।

गत्यर्थ कर्मणि द्वितीया चतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि ।२।३।१२।।

मन्यकर्मणीति—अनादर या तिरस्कार प्रकट करने में मन् (मानना या समझना दिवादि) धातु के कर्म में यदि वह प्राणी न हो तो विकल्प से चतुर्थी विभक्ति होती है ।

(न त्वां तृणं मन्ये तृणाय वा) मैं तुझको तिनके के तुल्य भी नहीं समझता । यहाँ मन् (श्यन् विकरण दिवादि) धातु के योग में अनादर प्रकट करने में, अप्राणि-वाचक तृण शब्द से चतुर्थी विभक्ति हुई है, और पक्ष में मन् धातु के कर्म में द्वितीया भी ।

श्यनेति—'मन्य' इस श्यन् विकरण द्वारा निर्देश करने के कारण तनादि मन् धातु के योग में चतुर्थी विभक्ति न होगी । अपितु मन् के कर्म में द्वितीया ही होगी ।

न त्वां तृणं मन्वेऽहम्—यहाँ मन् धातु तनादिगण का है, अतः इसके योग में चतुर्थी नहीं हुई है ।

वा नौकेति—वार्तिककार का मत है कि उक्त सूत्र में से 'अप्राणिषु' यह पद हटाकर उसके स्थान पर प्रस्तुत वार्तिक पढ़ना चाहिये अर्थात् अप्राणिषु के स्थान पर नौ (नाव) काक, अन्न, शुक शृंगाल को छोड़कर मन् धातु के कर्म में चतुर्थी विभक्ति हो ऐसा कहना चाहिये ।

न त्वां नावम् अन्नं वा मन्ये (तुमको नाव व अन्न नहीं समझता) यहाँ इस वार्तिक के विधान के अनुसार, नाव और अन्न के अप्राणी होते हुए भी, चतुर्थी विभक्ति नहीं होती । अतः नावम् व अन्नम् में द्वितीया है । क्योंकि वार्तिक में अप्राणी होते हुए भी इन शब्दों के योग में चतुर्थी का विधान नहीं है, वार्तिक के अभाव में सूत्र द्वारा यहाँ चतुर्थी हो जाती ।

न त्वां शुने मन्ये—(तुझे कुत्ता भी नहीं समझता) यहाँ यद्यपि श्वा प्राणि वाचक है, अतएव सूत्र से चतुर्थी नहीं प्राप्त है पर वार्तिक में श्वन् के योग में चतुर्थी का निषेध न होने से यहाँ 'शुने' में प्राणिवाचक होने पर भी चतुर्थी हो ही जाती है ।

गत्यर्थकर्मणीति—गत्यर्थक धातुओं के कर्म में द्वितीया व चतुर्थी विभक्ति होती हैं यदि वह कर्म मार्गवाचक न हो पर शारीरिक चेष्टा हो ।

अध्वभिन्ने गत्यर्थानां कर्मणि एतेस्तश्चेष्टायाम् । ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति । चेष्टायां किम्-मनसा हरिं व्रजति । अनध्वनीति किम्-पन्थानं गच्छति । गन्त्राधिष्ठितेऽध्वन्येवायं निषेधः । यदा तूत्पथात् पन्था एवा क्रमितुमिष्यते तदा चतुर्थी भवत्येव । उत्पथेन पथे गच्छति । इति चतुर्थी ।

'ग्रामं ग्रामाय व गच्छति'—(गाँव को जाता है) यहाँ ग्राम मार्गवाचक भी नहीं है, और गमन क्रिया में शारीरिक चेष्टा है । अतः ग्राम शब्द में गम् धातु के योग में चतुर्थी व द्वितीया विभक्ति हैं ।

चेष्टायां किमिति—शारीरिक व्यापार करने पर ही चतुर्थी व द्वितीया होती है अतः 'मनसा हरिं व्रजति' (मन के द्वारा हरि को प्राप्त होता है) मन की गति शारीरिक चेष्टा नहीं है अतः उक्त विभक्तियाँ नहीं हुईं ।

अनध्वनीति—गत्यर्थक धातुओं का कर्म मार्गवाचक होने पर उक्त विभक्तियाँ नहीं होतीं अतः 'पन्थानं गच्छति' (मार्ग पर चलता है) यहाँ गम् धातु का कर्म मार्ग ही है अतएव यहाँ चतुर्थी विभक्ति न होकर केवल कर्म में द्वितीया हुई है ।

गन्त्राधिष्ठित इति—यदि गमन कर्त्ता के द्वारा मार्ग अधिष्ठित होता है अर्थात् जब जाने वाला स्वयं अपने इष्ट मार्ग पर चलता है तभी मार्गवाचक शब्दों से चतुर्थी का निषेध सूत्र द्वारा होता है पर जब उत्पथ (कुमार्ग) से जाने में असमर्थ होकर गन्ता उसे छोड़कर इष्ट मार्ग की ओर चलता है तब मार्गवाचक शब्द में भी चतुर्थी होती ही है जैसे 'उत्पथेन पथे गच्छति' (अनिष्ट मार्ग से इष्ट मार्ग पर चलता है) यहाँ मार्गवाचक होते हुए भी 'पथे' में चतुर्थी विभक्ति हो गई है । क्योंकि गन्ता भ्रमवश अधिष्ठित अनिष्ट मार्ग को छोड़कर अपने इष्ट मार्ग पर चलने लगा है ।

इति चतुर्थी

पञ्चमी विभक्तिः

ध्रुवमपायेऽपादानम् १।४।२४।।

अपायो विश्लेषस्तस्मिन् साध्ये ध्रुवमवधिभूतं कारकमपादान संज्ञं स्यात् ।

अपादाने पञ्चमी २।२।२८।।

ग्रामादायति। धावतोऽश्वात्पतति। कारकं किम्-वृक्षस्य पर्णं पतति ।

ध्रुवमिति—अपाय का अर्थ है—विश्लेष अलग होना। किसी पदार्थ (वस्तु या व्यक्ति) के अलग होने में जो कारक ध्रुव अर्थात् अवधि अर्थात् सीमा रूप है उसकी अपादान संज्ञा हो ।

अपादान इति—अपादान कारक में पञ्चमी विभक्ति होती है ।

ग्रामादायाति—(गाँव से आता है) यहाँ अवधिभूत कारक ग्राम की अपादान संज्ञा और प्रकृतसूत्र से पञ्चमी विभक्ति है ।

धावतोऽश्वात्पतति—(दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है) यद्यपि यहाँ अवधिभूत पदार्थ अश्व, ध्रुव या स्थिर नहीं है तथापि वह 'पतति' क्रिया के प्रति अवधिभूत होने से अपादान संज्ञक है और उसमें पञ्चमी विभक्ति है ।

'धावतोऽश्वात्पतति' जैसे प्रयोगों में अपादान संज्ञा हो सके अतएव वृत्तिकार ने ध्रुवम् का अर्थ अवधिभूतम् किया है, यदि ध्रुवम् का अटल स्थिर अर्थ लिया जाता तो यहाँ अपादान संज्ञा न हो सकती थी ।

कारकं किमितिः—कारक की ही अपादान संज्ञा होती है, अतः जो कारक नहीं होता अर्थात् जिसका क्रिया से अन्वय नहीं होता उसकी अपादान संज्ञा नहीं होती, अतएव **'वृक्षस्य पर्णं पतति'** में वृक्ष की अपादान संज्ञा न होने से उसमें पंचमी नहीं हुई है।

(व) जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम् । पापाज्जुगुप्सते । विरमति । धर्मात्प्रमाद्यति ।

भीत्रार्थानां भयहेतुः ।१।४।२५॥

भयार्थानां त्राणार्थानां च प्रयोगे भयहेतुरपादानं स्यात् ।

चौराद्विभेति । चौरात्त्रायते । भयहेतुः किम्—अरण्ये बिभेति त्रायते इति वा ।

पराजेरसोढः ।१।४।२६॥

पराजेः प्रयोगेऽसह्योऽर्थोऽपादानं स्यात् । अध्ययनात् पराजयते, ग्लायतीत्यर्थः । असोढ़ः किम्—शत्रून् पराजयते । अभिभवतीत्यर्थः ।

(वा) जुगुप्सेति—जुगुप्सा (घृणा) विराम (अलग होना) प्रमाद (असावधानी करना) अर्थ वाली धातुओं के योग में जुगुप्सा आदि के कारणभूत पदार्थों की अपादान संज्ञा हो ।

पापाज्जुगुप्सते—यहाँ जुगुप्सा के विषयभूत पदार्थ पाप की अपादान संज्ञा तथा उसमें पञ्चमी विभक्ति हुई है । इसी प्रकार विरमति, के योग में भी ।

धर्मात् प्रमाद्यति—(धर्म से असावधानी करता है) यहाँ धर्मात् में पञ्चमी विभक्ति है ।

भीत्रार्थानामिति—भयार्थक तथा रक्षार्थक धातुओं के योग में भय के हेतुभूत कारक की अपादान संज्ञा हो ।

चौराद् बिभेति—(चोरी से डरता है) यहाँ चोर भय का हेतु है । अतः उसकी अपादान संज्ञा और उसमें पञ्चमी विभक्ति है । इसी प्रकार 'चौरात्त्रायते' प्रयोग के चौरात् में त्रायते के योग में पञ्चमी है ।

भयहेतुः किम्—भय के हेतुभूत पदार्थ की ही अपादान संज्ञा होती है अतः 'अरण्ये बिभेति त्रायते वा' यहाँ अरण्य की अपादान संज्ञा नहीं हुई क्योंकि यहाँ अरण्य भय का हेतु नहीं माना गया है ।

पराजेरिति—परा उपसर्गपूर्वक जि धातु के योग में असहनीय वस्तु की अपादान संज्ञा हो ।

अध्ययनात् पराजयते—अध्ययन से हार मानता है, उससे थक जाता है । यहाँ पराजयते के योग में असह्य पदार्थ अध्ययन की अपादान संज्ञा और उसमें पञ्चमी हुई है ।

असोढः किमिति—असह्य पदार्थ की ही अपादान संज्ञा होती है अतः 'शत्रून्पराजयते' (शत्रुओं को हराता है) 'अभिभवति=पराजित करता है' यहाँ शत्रून्

वारणार्थानामीप्सितः ।१।४।२७।।

प्रवृत्तिविघातो वारणम् । वारणार्थानां धातूनां प्रयोगे ईप्सितोऽपादानं स्यात् । यवेभ्यो गां वारयति । ईप्सितः किम्—यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे ।

अन्तर्धौयेनादर्शनमिच्छति ।१।४।२८।।

व्यवधाने सति यत्कर्तृकस्यात्मनो दर्शनस्याभावमिच्छति तदपादानं स्यात् । मातुर्निलीयते कृष्णः । अन्तर्धौ किम्—चौरान्न दिदृक्षते । इच्छति ग्रहणं किम् अदर्शनेच्छायां सत्यां सत्यपि दर्शने यथा स्यात् ।

की अपादान संज्ञा न होकर कर्म संज्ञा द्वितीया विभक्ति है, क्योंकि शत्रु असह्य नहीं हैं ।

वारणार्थानामिति—वारण का अर्थ है निवारण करना, रोकना, प्रवृत्ति का रोक देना । वारण अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में ईप्सित वस्तु की, अर्थात् जिसे हटाने की चाह हो, अपादान संज्ञा होती है ।

यवेभ्यो गां वारयति—(यवों से गाय को हटाता है) यहाँ यवों से हटाना चाहता है । अतः ईप्सित पदार्थ यव है, अतएव उनकी अपादान संज्ञा और उनमें पञ्चमी विभक्ति है ।

ईप्सितः किम्—ईप्सित पदार्थ की ही अपादान संज्ञा होती है । अतः 'यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे । इस वाक्य में क्षेत्र की जो अनीप्सित है अपादान संज्ञा नहीं हुई । क्षेत्र से गाय वारण करना अभीष्ट नहीं, अपितु यव अभीष्ट हैं ।

अन्तर्धाविति—व्यवधान रहने पर जिससे अपना अदर्शन चाहा जाय या जिससे अपने आप को छिपाना चाहा जाय उसकी अपादान संज्ञा होती है ।

मातुर्निलीयते कृष्णः—कृष्ण माता से छिपता है, कृष्ण दीवाल आदि का व्यवधान करके माता से छिपना चाहता है । अतः मातुः की अपादान संज्ञा होकर उसमें पञ्चमी हुई है ।

अन्तर्धौ किम्—अन्तर्धि का अर्थ है—व्यवधान अर्थात् किसी वस्तु द्वारा व्यवधान होने पर ही अपादान संज्ञा होती है । अतः 'चौरान्न दिदृक्षते' (चोर मुझे न देख लें अतः चोरों को देखना नहीं चाहता) यहाँ व्यवधान के अभाव में दिदृक्षा रहते हुए भी अपादान संज्ञा नहीं हुई है । यहाँ व्यवधान निमित्तक छिपना नहीं है ।

इच्छति ग्रहणं किमिति—सूत्र में इच्छति ग्रहण करने का फल यह है कि यदि कोई व्यक्ति छिपने की इच्छा रखता हुआ भी देख लिया जाय तो भी अपादान संज्ञा हो सके । 'युधिष्ठिरो दुर्योधनात् निलीयते' यहाँ भी अपादान संज्ञा हो जाती है ।

आख्यातोपयोगे १।४।२९॥

नियमपूर्वक विद्यास्वीकारे वक्ता प्राक् संज्ञः स्यात् । उपाध्यायादधीते । उपयोगे किम्-नटस्य गाथां शृणोति ।

जनि कर्तुः प्रकृतिः १।४।३०॥

जायमानस्य हेतुरपादानं स्यात् । ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते ।

भुवः प्रभवः १।४।३१॥

भवनं भूः । भूकर्तुः प्रभवस्तथा । हिमवतो गङ्गा प्रभवति । तत्र प्रकाशते इत्यर्थः ।

(वा) ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च । प्रसादात् प्रेक्षते, आसनात् प्रेक्षते, प्रसादमारुह्य आसने उपविश्य प्रेक्षत इत्यर्थः। श्वशुराज्जिह्रेति । श्वशुरं वीक्ष्येत्यर्थः ।

आख्यातोपयोगे—इस सूत्र में उपयोग का अर्थ है नियमपूर्वक विद्या का ग्रहण करना । अतः नियमपूर्वक विद्या ग्रहण करने में आख्यात (वक्ता या अध्यापक) जिससे विद्या ग्रहण की जाय अपादान संज्ञक होता है ।

उपाध्यायादधीते—(उपाध्याय से पढ़ता है) यहाँ नियमपूर्वक विद्याध्ययन में वक्ता उपाध्याय की अपादान संज्ञा होकर उसमें पञ्चमी विभक्ति हुई है ।

उपयोगे किमिति—नियमपूर्वक विद्या स्वीकार में ही वक्ता की अपादान संज्ञा होती है । अतः नटस्य गाथां शृणोति 'इस वाक्य में नियमपूर्वक गाथा श्रवण के अभाव में 'नट' की अपादान संज्ञा नहीं होगी ।

जनिकर्तुरिति—जनि का अर्थ है उत्पत्ति 'जनिरुत्पत्तिरुद्भवः । जनि कर्त्ता= उत्पन्न होने वाले—जायमान का जो हेतु, उसकी अपादान संज्ञा हो ।

ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते—(ब्रह्म से प्रजायें उत्पन्न होती है) यहाँ जायमान प्रजाओं की उत्पत्ति का हेतु ब्रह्म है। अतः उसकी अपादान संज्ञा होने से उसमें पञ्चमी विभक्ति हुई है ।

भूव इति—भू का अर्थ है होना । प्रभवः का अर्थ है प्रथम प्रकाश का स्थान । भुवः अर्थात् भू के कर्त्ता के प्रथम उत्पत्ति या प्रकाश स्थान की अपादान संज्ञा हो, तात्पर्य यह कि उत्पन्न होने वाले की उत्पत्ति का जो प्रथम स्थान उसकी अपादान संज्ञा हो ।

हिमवतो गङ्गा प्रभवति—हिमालय से गङ्गा प्रथम प्रकाशित होती है यहाँ प्रकाश स्थान हिमालय की अपादान संज्ञा और उसमें पञ्चमी विभक्ति है ।

(व) ल्यब्लोप इति—ल्यप् के लोप होने पर, उसके कर्म तथा आधार में पञ्चमी विभक्ति हो (अर्थात् जहाँ ल्पवन्ती शब्द अप्रयुक्त हो अर्थात् वाक्य में ल्यवन्त पद का प्रयोग न हो, पर उसका भाव प्रकट हो रहा हो ।)

गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तीनां निमित्तम् । कस्मात्वं नद्याः ।
(वा) यतश्चाध्वकालनिर्माणं तत्र पञ्चमी ।
(वा) तद्युक्तादध्वनः प्रथमासप्तम्यौ ।
(वा) कालात् सप्तमी च वक्तव्या ।
वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा । कार्तिक्या आग्रहायणी मासे ।

प्रासादात् प्रेक्षते—आसनात् प्रेक्षते—(महल से देखता है, आसन से देखता है ।) यहाँ क्रमशः आरुह्य और उपविश्य इन ल्यवन्त पदों का प्रयोग तो नहीं है पर इनका भाव अवश्य प्रकट होता है अर्थात् प्रासादात् प्रेक्षते का अर्थ है महल पर चढ़कर देखता है और आसनात् प्रेक्षते का अर्थ है आसन पर बैठकर देखता है । अतः यहाँ आरुह्य पद के कर्म प्रासाद में तथा उपविश्य के अधिकरण आसन में क्रमशः पञ्चमी विभक्ति हुई है ।

श्वशुराज्जिह्रेति—(ससुर से लज्जा करती है) यहाँ वीक्ष्य पद का अप्रयोग है पर उसका भाव द्योतित हो रहा है । अतः उक्त वाक्य का अर्थ है 'ससुर को देखकर लज्जा करती है ।' अतः यहाँ वीक्ष्य पद के योग में उसके कर्म श्वशुर में पञ्चमी विभक्ति हुई है ।

गम्यमानापीति—जिस क्रिया का वाक्य में साक्षात् प्रयोग न हो, पर प्रकरण आदि वश जिसका ज्ञान हो, वह क्रिया गम्यमाना कही जाती है । ऐसी क्रिया भी किसी भी कारक विभक्ति का निमित्त (कारण) होती है, अतएव—कस्मात्वं नद्याः—तुम कहाँ से (आये) नदी से (आये) यहाँ यद्यपि आगमन क्रिया साक्षात् उपात्त नहीं है, तथापि उसके योग में पञ्चमी विभक्ति होती है, अतएव नद्याः में पञ्चमी विभक्ति है ।

(वा) यतश्चेति—जिससे मार्ग या समय का निर्धारण नाप या संख्या की जाय उस स्थान या समय वाची शब्द से पञ्चमी विभक्ति हो ।

(वा) तद्युक्तादिति—उस पञ्चम्यन्त शब्द से युक्त दूर या मार्गवाचक शब्द से प्रथमा और सप्तमी विभक्ति हो ।

(वा) कालादिति—उस पञ्चम्यन्त काल वाचक शब्द से सप्तमी विभक्ति हो ।

वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा (वन से ग्राम एक योजन है) यहाँ वन शब्द से ग्राम की दूरी बतलाई जाती है । अतः उसकी प्रथम वार्तिक से स्थान वाचक होने के कारण पञ्चमी विभक्ति है, इस वनात् पञ्चम्यन्त से युक्त दूरी वाचक शब्द योजन है । अतः द्वितीय वार्तिक से इसमें प्रथमा और सप्तमो विभक्ति है । अतः 'वनाद् ग्रामो योजनं, योजने वा' प्रयोग बनता है ।

अन्यारादितरर्तेदिक् शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहि युक्ते ।२।३।२९।।

एतैर्योगे पञ्चमी स्यात् । अन्य इत्यर्थग्रहणम् । इतर ग्रहणं प्रपञ्चार्थम् । अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात् । आराद्वनात् । ऋते वा कृष्णात् । पूर्वो ग्रामात् । दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः ।

तेन सम्प्रति देशकाल वृत्तिना योगेऽपि भवति । चैत्रात्पूर्वः फाल्गुनः । अवयव वाचि योगे तु न । तस्य परमाम्रेडितम् ।८।१।२२।। इति निर्देशात् । पूर्वं कायस्य । अञ्चूत्तर पदस्य तु दिक् शब्दत्वेऽपि "षष्ठ्यतसर्थ प्रत्ययेन" इति षष्ठीं वाधितुं पृथग्ग्रहणम् । प्राक् प्रत्यग्वा ग्रामात् । आच्—दक्षिणा ग्रामात् । आहि—दक्षिणाहि ग्रामात् । "अपादाने पञ्चमी" इति सूत्रे कार्तिक्याः प्रभृतीति भाष्यप्रयोगात् प्रभृत्यर्थ योगे पञ्चमी । भवात् प्रभृति आरभ्य वा सेव्यो हरिः । अपपरिवहिः २।१।१२।। इति समास विधानाज्ज्ञापलाद् वहिर्योगेऽपि पञ्चमी । ग्रामाद्वहिः ।

कार्तिक्या आग्रहायणी मासे—कार्तिकी से अगहन पूर्णिमा एक महीने में होती है । यहाँ कार्तिकी शब्द से समय की गणना की जा रही है । अतः प्रथम वार्तिक से उसमें पञ्चमी विभक्ति है और तृतीय वार्तिक द्वारा कालवाची मास शब्द में सप्तमी विभक्ति है ।

अन्यारादिति—अन्य, आरात् (दूर या समीप) इतर, (अन्य) ऋते (विना) दिक् शब्द (पूर्वादि) अञ्चु धातु से वना हुआ शब्द जिसके उत्तरपद में हो ऐसे प्राक् प्रत्यक् आदि शब्द, आच् प्रत्ययान्त दक्षिणा आदि शब्द तथा आहि प्रत्ययान्त दक्षिणाहि आदि शब्द इनके योग में पञ्चमी हो ।

अन्य इति—सूत्र में पठित अन्य शब्द से तदर्थवाची अन्य शब्दों का जैसे भिन्न पर इतर आदि का भी ग्रहण है । इतर शब्द का ग्रहण, जब कि वह अन्यार्थ-वाची शब्दों के अन्तर्गत आ ही जाता था, केवल प्रपञ्चार्थ है, अधिक बढ़ाकर कहने के लिये अथवा अनावश्यक ही है ।

अन्योभिन्न इतरो वा कृष्णात्—कृष्ण से अन्य । यहाँ इन अन्यार्थवाची शब्दों के योग में 'कृष्णात्' में पञ्चमी है ।

अराद्वनात्—वन के पास यहाँ आरात् के योग में वनात् में पञ्चमी है ।

ऋते कृष्णात्—कृष्ण के विना । यहाँ ऋते के योग में कृष्णात् में पञ्चमी विभक्ति है ।

पूर्वो ग्रामात्—ग्राम से पूर्व—यहाँ दिक् शब्द पूर्व के योग में ग्रामात् में पञ्चमी है ।

दिशीति—सूत्रपठित 'दिक्शब्द' का अर्थ है वह शब्द जो दिशा के अर्थ में देखा गया है अर्थात् जिसका प्रयोग दिशा के अर्थ में होता है । इससे यह फल हुआ

अपपरी वर्जने ।१।४।८७।।

एतौ वर्जने कर्मप्रवचनीयौ स्तः ।

कि इस समय यद्यपि उसका प्रयोग देश या काल अर्थ में किया जा रहा है तथापि उसके योग में पञ्चमी विभक्ति होगी । पूर्व उत्तर आदि शब्दों का प्रयोग दिशा काल एवं देश इन सभी अर्थों में होता है, दिक् न कहकर दिक् शब्द कहने से पूर्वादि शब्दों का तीनों अर्थों में प्रयोग ग्रहण किया जायगा । उपर्युक्त उदाहरण तो दिशा-वाचक पूर्व शब्द का है । "चैत्रात् पूर्वः फाल्गुनः" चैत से प्रथम फाल्गुन । यहाँ पूर्व शब्द समय का वाचक है तथापि इसके दिक् शब्द होने के कारण इसके योग में भी चैत्रात् में पञ्चमी विभक्ति हुई है ।

अवयववाचीति—अवयव वाची पूर्व, पर, उत्तर दिक् शब्दों के योग में पञ्चमी विभक्ति नहीं होती । इसके लिये 'तस्य परमाम्रेडितम्' यह पाणिनि सूत्र ही प्रमाण है यहाँ 'तस्य परम्' में परम् के योग में षष्ठी है पञ्चमी नहीं । इस नियम के अनुसार 'पूर्वं कायस्य' (शरीर का पूर्व अवयव) यहाँ पञ्चमी नहीं हुई, अपितु सम्बन्ध मात्र विवक्षा में षष्ठी विभक्ति हुई है ।

अञ्चूत्तरपदस्येति—यद्यपि अञ्चू धातु से बने शब्दों के उत्तर पद वाले प्राक्, प्रत्यक्, उदक्, आदि शब्द भी दिक् शब्द ही हैं । अतः दिक् शब्द से ही यद्यपि इनका ग्रहण हो जाता तथापि पुनः सूत्र में उनके ग्रहण करने का प्रयोजन यह है कि 'षष्ठयत-सर्थप्रत्ययेन' सूत्र से प्राप्त होने वाली षष्ठी का बाध हो सके जिससे कि प्राक् आदि शब्दों के योग में षष्ठी न होकर पञ्चमी ही हो । जैसे—प्राक् प्रत्यक् वा ग्रामात् यहाँ स्वार्थ मे अस्ताति प्रत्यय और उसका लोप हो जाता है । यह अतसर्थक प्रत्यय है अतः इनके योग में ग्रामात् में पंचमी हुई है ।

दक्षिणा ग्रामात्—दक्षिण शब्द से 'आच्' इस तद्धित प्रत्यय के आने पर दक्षिणा शब्द बना है । अतः आच् प्रत्ययान्त दक्षिणा के योग में ग्रामात् में पञ्चमी विभक्ति है ।

दक्षिणाहि ग्रामात्—यहाँ दक्षिण शब्द से आहि प्रत्यय होता है अतः दक्षिणाहि के योग में ग्रामात् में पञ्चमी है ।

अपादाने इति—'अपादाने पञ्चमी' इस सूत्र पर भाष्यकार ने 'कार्तिक्याः प्रभृति' यह प्रयोग किया है इस प्रमाण से सिद्ध है कि प्रभृति अर्थ वाले शब्दों के योग में भी पञ्चमी विभक्ति होती है ।

भवात् प्रभृति आरभ्य वा सेव्यो हरिः—(जन्म से लेकर हरि की सेवा करनी चाहिए) यहाँ प्रभृति और आरभ्य के योग में 'भवात्' में पञ्चमी विभक्ति हुई है ।

अपपरीति—अपपरिवहिः २।१।१२।। इस सूत्र द्वारा वहिः के साथ पञ्चम्यन्त का समास विधान किया जाता है पर वहिः के योग में पञ्चमी का विधान किसी सूत्र द्वारा नहीं किया गया है, तथापि उक्त सूत्र द्वारा वहिः के साथ पञ्चम्यन्त से

आङ् मर्यादा वचने ।१।४।८६।।

आङ् मर्यादायामुक्त संज्ञः स्यात् । वचन ग्रहणादभिविधावपि ।

पञ्चम्यपाङ् परिभिः ।२।३।१०।।

एतैः कर्म प्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी स्यात् । अप हरेः, परि हरेः संसारः । परिरत्र वर्जने । लक्षणादौ तु हरिं परि । आमुक्तेः संसारः । आसकलाद् ब्रह्म ।

समास विधान के प्रमाण से जाना जाता है कि वहिः के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है अतएव 'ग्रामाद्वहिः' इस प्रयोग में वहिः के योग में ग्रामात् में पञ्चमी है ।

अपपरीति :—वर्जन अर्थ में वर्तमान अप और परि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

आङिति—मर्यादा अर्थ में आङ् की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है । प्रकृत सूत्र में 'मर्यादायाम्' न कहकर जो 'मर्यादा वचन' कहा है अर्थात् वचन शब्द का अधिक ग्रहण किया गया है, इससे यह सिद्ध होता है कि वचन ग्रहण से मर्यादा के अतिरिक्त अभिविधि का भी ग्रहण है अर्थात् मर्यादा और अभिविधि अर्थ में आङ् की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

अप आङ् परि इन कर्म प्रवचनीय संज्ञकों के योग में पञ्चमी विभक्ति हो ।

अप हरेः, परि हरेः, संसारः (हरि को छोड़कर जन्म मरणादि रूप सुख-दुःखात्मक संसार है, यहाँ परि अप वर्जन अर्थ में हैं । अतः अपपरी वर्जने सूत्र से इनकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा है और प्रकृत सूत्र से इनके योग मे 'हरेः' में पञ्चमी विभक्ति हुई है ।

लक्षणादौ तु :—जहाँ परि शब्द लक्षणादि अर्थात् लक्षण इत्थं भूताख्यानादि अर्थों में होगा वहाँ तो इसकी लक्षणेत्यादि सूत्र से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होगी और द्वितीया विभक्ति होगी । जैसे 'हरिं परि'

आमुक्तेः संसार—(मुक्ति तक अर्थात् मुक्ति के पूर्व तक संसार है) यहाँ आङ् मर्यादा अर्थ में है । अतः इसकी आङ् मर्यादावचने सूत्र से कर्मप्रवचनीय संज्ञा तथा प्रकृत सूत्र से 'मुक्तेः' यहाँ पञ्चमी विभक्ति होती है ।

'आसकलाद् ब्रह्म' :—सकलपर्यन्त या सबको व्याप्त करके ब्रह्म है। यहाँ अभिविधि अर्थ में आङ् की पूर्ववत् कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से प्रकृत सूत्र द्वारा 'सकलाद्' में पञ्चमी विभक्ति हुई है । (मर्यादा) और अभिविधि में यह अन्तर है कि मर्यादा में तो वह वस्तु गृहीत नहीं होती पर अभिविधि में वह वस्तु भी गृहीत होती है जहाँ तक के लिये किसी बात को बतलाया गया हो । "तेन विनेति मर्यादा, तेन सहेत्यभिविधिः" आमुक्तेः का अर्थ है मुक्ति तक अर्थात् मुक्ति के पूर्वतक, मुक्ति को छोड़कर उसके पूर्व तक । आसकलाद् का अर्थ है सबको व्याप्त करके अतः यह अभिविधि है ।

प्रतिः प्रतिनिधि प्रतिदानयोः ।१।४।६२।।

एतयोरर्थयोः प्रतिरुक्तसंज्ञः स्यात् ।

प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् ।२।३।११।।

अत्र कर्मप्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी स्यात् । प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति । तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान् ।

अकर्तर्यृणे पञ्चमी ।२।३।२४।।

कर्तृवर्जितं यद्दणं हेतुभूतं ततः पञ्चमी स्यात् । शताद् बद्धः ।

अकर्तरि किम्—शतेन बन्धितः ।

प्रतिरिति :—प्रतिनिधि तथा प्रतिदान अर्थ में वर्तमान प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है ।

प्रतिनिधीति :—यस्मात्—जिसकी ओर से कोई प्रतिनिधि हो अथवा जिससे किसी वस्तु का प्रतिदान हो अर्थात् वस्तु बदली जाय उससे कर्मप्रवचनीय संज्ञक प्रति के योग में पञ्चमी हो ।

प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति—(प्रद्युम्न कृष्ण के प्रतिनिधि हैं) यहाँ प्रतिनिधि अर्थ में वर्तमान 'प्रति' की प्रतिरिति सूत्र द्वारा कर्मप्रवचनीय संज्ञा और कृष्ण की ओर से प्रद्युम्न प्रतिनिधि हैं अतएव कृष्णात् में प्रति के योग में प्रकृत सूत्र से पञ्चमी विभक्ति है ।

तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान्—(तिलों से उड़द बलता है) यहाँ प्रतिदानार्थक प्रति की पूर्ववत् कर्मप्रवचनीय संज्ञा और तिलों से भाषों का प्रतिदान है । अतएव तिलेभ्यः में प्रकृत सूत्र से पञ्चमी हुई है ।

अकर्तर्यृण इति—कर्त्ता से भिन्न जो ऋण का हेतु हो उससे पञ्चमी विभक्ति होती है ।

शताद्बद्धः—(सौ रुपये का ऋण न देने के कारण बांधा गया) यहाँ 'शत शब्द ऋणबन्धन का हेतु है अतएव प्रकृत सूत्र से उसमें पञ्चमी है ।

अकर्तरीति किम्—कर्तृभिन्न ऋण के हेतुभूत शब्द से ही पञ्चमी विभक्ति होती है अर्थात् ऋण के बन्धन के हेतुभूत पदार्थ की कर्त्ता संज्ञा न हो उसी स्थिति में पञ्चमी होगी । अतः शतेन बन्धितः (सौ रुपये ने (कर्जदार को) बँधवाया) यहाँ शत शब्द में पञ्चमी न होगी क्योंकि यहाँ ऋण द्वारा बन्धन का हेतुभूत शब्द कर्त्ता ही है । बन्धितः—यहाँ बन्ध धातु प्रेरणार्थक णिच् प्रत्यान्त बन्धि से कर्म में क्त प्रत्यय है । अतः इसका कर्त्ता शतेन और कर्म अधमर्ण पुरुष है । शत (सौ रुपये) ने अधमर्ण को बँधवाया यह इसका अर्थ है । अतः यहाँ यद्यपि शतेन हेतु है तथापि कर्त्ता होने के कारण उसमें पञ्चमी न होगी ।

विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् ।२।३।२५।।

गुणे हेतावस्त्रीलिंगे पञ्चमी वा स्यात् । जाड्याज्जाड्येन वा बद्धः ।

गुणे किम्—धनेन कुलम् । अस्त्रियां किम्—बुद्ध्या मुक्तः ।

विभाषेति योगविभागादगुणे स्त्रियां च क्वचित् । धूमादग्निमान् । नास्ति घटोऽनुपलब्धेः ।

पृथग्विना नानाभिस्तृतीयान्यतर स्याम् । २।३।३२।।

एभिर्योगे तृतीया स्यात् पञ्चमी द्वितीये च । अन्यतरस्यां ग्रहणं समुच्चार्थम् । पञ्चमी द्वितीयेऽनुवर्तते । पृथग् रामेण रामात् रामं वा । एवं बिना नाना ।

विभाषेति—स्त्रीलिङ्ग से भिन्न जो गुणवाचक शब्द हेतु को भी प्रकट करता है उससे विकल्प से पञ्चमी विभक्ति होती है ।

जाड्याज्जाड्येन वा बद्ध : (मूर्खता के कारण बँध गया) यहाँ जाड्य शब्द स्त्रीलिङ्ग नहीं, गुणवाचक है और हेतु भी है । अत: उससे पञ्चमी विभक्ति हुई है और पक्ष में तृतीया भी ।

गुणे किमिति—गुणवाचक से ही पञ्चमी होती है । अत: **धनेन कुलम्** यहाँ पर धन शब्द के गुणवाचक न होने के कारण पञ्चमी नहीं हुई ।

अस्त्रियां किमिति—स्त्रीलिङ्ग भिन्न गुणवाचक शब्द से ही पञ्चमी होती है । अत: **'बुद्धया मुक्तः'** यहाँ पञ्चमी नहीं हुई क्योंकि बुद्धि शब्द स्त्रीलिङ्ग है अतएव यहाँ हेतु में तृतीया विभक्ति है ।

विभाषेति—'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्' सूत्र में योग विभाग करके 'विभाषा' एक सूत्र तथा शेष दूसरा सूत्र मान लिया जाता हैं' और इसमें हेतौ तथा 'पञ्चमी' की अनुवृत्ति करके इसका अर्थ होता है—'हेतु में विकल्प से पञ्चमी हो । जिसका फल यह होता है कि कहीं-कहीं गुणवाचक शब्द न होने पर भी पञ्चमी हो जाती है । जैसे 'धूमात् अग्निमान्' (धुएँ से अग्निवाला (पर्वत) यहाँ यद्यपि धूम शब्द गुण-वाचक नहीं है तथापि इस योगविभाग से यहाँ पञ्चमी हो जायगी ।

इसी प्रकार इस योगविभाग का दूसरा फल यह है कि कहीं-कहीं स्त्रीलिङ्ग शब्द से भी पञ्चमी हो जायगी, जैसे "नास्ति घटोऽनुपलब्धे:" उपलब्धि (प्राप्ति) न होने से घट नहीं है । यहाँ अनुपलब्धि शब्द लभ धातु से क्तिन् प्रत्यायन्त होने के कारण स्त्रीलिङ्ग है तथापि इससे पञ्चमी विभक्ति साधु है ।

पृथगिति—पृथक् बिना नाना के योग में विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है और पक्ष में पञ्चमी तथा द्वितीया भी होती हैं ।

सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' का ग्रहण समुच्चय के लिये है जिससे इसमें द्वितीया और पञ्चमी का भी समावेश हो जाता है ।

करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य ।२।३।३१।।

एभ्योऽद्रव्यवचनेभ्यः करणे तृतीया पञ्चम्यौ स्तः । स्तोकेन स्तोकाद् वा मुक्तः । द्रव्ये तु स्तोकेन विषेण हतः ।

दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च ।२।३।३५।।

एभ्यो द्वितीया स्यात् पञ्चमी तृतीये । प्रातिपदिकार्थमात्रे विधिरयम् । ग्रामस्य दूरं दूरात् दूरेण वा । अन्तिकम् अन्तिकेन अन्तिकात् वा । असत्त्ववचनस्येत्यनुवृत्तेर्नेह । अदूरः पन्थाः । इति पञ्चमी ।

पृथक् रामेण, रामात्, रामम् वा—यहाँ पृथक् के योग में प्रकृत नियम के अनुमार तीनों विभक्तियाँ हुई हैं ।

इसी प्रकार विना, और नाना के योग में भी उपर्युक्त तीनों विभक्तियाँ होंगी, 'विना नाना वा रामेण रामात् रामं वा ।

करणे चेति—द्रव्य से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त स्तोक (कम) अल्प, कृच्छ्र (दुःख) तथा कतिपय शब्दों से करण अर्थ में तृतीया व पञ्चमी विभक्ति विकल्प से हों ।

स्तोकेन स्तोकाद् वा मुक्तः (थोड़े से ही प्रयत्न से छूटा हुआ) यहाँ स्तोक शब्द का प्रयोग किसी द्रव्य के समानाधिकार में न होने से प्रकृत सूत्र से तृतीया और पञ्चमी विभक्ति हुई हैं । इसी प्रकार अल्प, कृच्छ्र आदि शब्दों के योग में भी ।

द्रव्येत्विति—अद्रव्यवाची ही स्तोकादि शब्दों से उक्त विभक्तियाँ होती हैं, द्रव्यवाची होने पर नहीं जैसे 'स्तोकेन विषेण हतः' यहाँ स्तोक शब्द 'विष' इस द्रव्य का समानाधिकरण है । अतः यहाँ पञ्चमी विभक्ति न होगी ।

दूरान्तिकेति—दूर तथा अन्तिक (समीप) अर्थ वाले शब्दों से द्वितीया तथा पञ्चमी व तृतीया विभक्ति भी होती हैं ।

प्रातिपदिकार्थमात्र इति—ये उक्त तीनों विभक्तियाँ केवल प्रातिपदिकार्थ में होती हैं अर्थात् इन विभक्तियों के होने पर भी इन शब्दों से प्रथमा विभक्ति का ही अर्थ लिया जायगा, विभक्तियों के कारण कोई अन्य विभक्त्यर्थ नहीं ।

ग्रामस्य दूरं दूरात् दूरेण वा (गाँव से दूर) यहाँ दूर शब्द से उपर्युक्त तीनों विभक्तियाँ हुई हैं । इसी प्रकार अन्तिक शब्द से भी उक्त विभक्तियाँ होंगी ।

असत्त्वेति—इस सूत्र में ऊपर वाले सूत्र से 'असत्त्ववचनस्य' शब्द की अनुवृत्ति है । अतः दूर व अन्तिक अर्थ वाले शब्द यदि किसी द्रव्य के विशेषण न होंगे तभी इनसे उपर्युक्त विभक्तियाँ होंगी अन्यथा नहीं, जैसे 'अदूरः पन्थाः' यहाँ अदूर 'पन्थाः' इसका विशेषण होने से अद्रव्यवाची नहीं है । अतः उसमें प्रथमा विभक्ति है ।

इति पञ्चमी

षष्ठी विभक्ति

षष्ठी शेष ।२।३।५०।।

कारक प्रातिपदिकार्थ व्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिसम्बन्धः शेषस्तत्र षष्ठी स्यात् । राज्ञः पुरुषः । कर्मादीनामपि सम्बन्ध मात्र विवक्षायां षष्ठ्येव । सतां गतम् । सर्पिषो जानीते । मातुः स्मरति । एधोदकस्योपस्कुरुते । भजे शम्भोश्चरणयोः । फलानां तृप्तः ।

षष्ठीति—कारक अर्थात् कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण तथा प्रातिपदिकार्थ—प्रथमा जिनका कि वर्णन अष्टाध्यायी के क्रमानुसार ऊपर किया जा चुका है, इनसे बचा हुआ जो स्व (अपनी वस्तु धनादि या व्यक्ति) तथा स्वामी आदि सम्बन्ध, इस सम्बन्ध को प्रकट करने में षष्ठी विभक्ति होती है ।

(इस विभक्ति के संज्ञादि शब्दों में पारस्परिक सम्बन्ध प्रकट किया जाता है, उसका क्रियापद से कोई सम्बन्ध नहीं रहता । अतएव इस विभक्ति को कारक विभक्ति नहीं कहते हैं ।)

राज्ञः पुरुषः—(राजा का पुरुष) यहाँ पुरुष 'स्व' का वाचक है और 'राज्ञः' स्वामी का । अतः राजा और पुरुष दोनों संज्ञा शब्दों में स्वस्वाभिभाव सम्बन्ध होने से यहाँ राज्ञः में षष्ठी है ।

कर्मादीनामिति—जब कर्म आदि कारकों में भी केवल सम्बन्ध मात्र प्रकट करने की इच्छा रहती है अर्थात् कर्मत्व आदि की विवक्षा नहीं होती तो वहाँ भी षष्ठी विभक्ति ही होती है । जैसे **सतां गतम्**—(सज्जनों का गमन) यहाँ भाव में गम् धातु से क्त प्रत्यय है । अतः यहाँ सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में 'सताम्' में षष्ठी है, तृतीया नहीं । इसी प्रकार **'सर्पिषो जानीते'** (घृत के उपाय से प्रवृत्त होता है) यहाँ 'सर्पिस्' के प्रवृत्ति में करण होने के कारण, करण में तृतीया की अविवक्षा कर सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में 'सर्पिषः' में षष्ठी हुई है ।

षष्ठी हेतुप्रयोगे ।२।३।२६।।

हेतु शब्द प्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी स्यात् । अन्नस्य हेतोर्वसति ।

सर्वनाम्नस्तृतीया च ।२।३।२७।।

सर्वनाम्नो हेतुशब्दस्य च प्रयोगे हेतौ द्योत्ये तृतीया स्यात् षष्ठी च । केन हेतुना वसति । कस्य हेतोः ।

(वा) निमित्तपर्याय प्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम् । किं निमित्तं वसति । केन निमित्तेन । कस्मै निमित्तायेत्यादि । एवं किं कारणम् । को हेतुः, किं प्रयोजनमित्यादि । प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमा द्वितीये न स्तः । ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः । ज्ञानाय निमित्तायेत्यादि ।

मातुः स्मरति—(माता का स्मरण करता है) यहाँ कर्म की अविवक्षा कर सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में 'मातुः' में षष्ठी है ।

एधोदकस्योपस्कुरुते—(काष्ठ जल को परिष्कृत करता है) यहाँ 'एधः' यह कर्त्ता तथा दक (जल) यह कर्म है पर यहाँ कर्म की अविवक्षा कर सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में दकस्य में षष्ठी हो गई है । अथवा 'एधोदकस्य' यह षष्ठ्यन्त पद समासान्त है अर्थात् "एध और उदक को परिष्कृत करता है" इस अर्थ में 'एधोदक' इस समासान्त पद में कर्म की अविवक्षा तथा सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में षष्ठी है ।

भजे शम्भोश्चरणयोः—(शम्भु के चरणों का भजन करता हूँ) यहाँ भी चरण शब्द में कर्म की अविवक्षा कर सम्बन्ध मात्र में षष्ठी विभक्ति हुई है ।

फलानां तृप्तः—(फलों से तृप्त हुआ) यहाँ यद्यपि फल करण है तथापि उसकी अविवक्षा कर सम्बन्ध मात्र विवक्षा में 'फलानाम्' से षष्ठी विभक्ति हुई है ।

षष्ठी हेतु प्रयोगे—हेतु शब्द के प्रयोग में तथा हेतु (कारण) अर्थ के प्रकट करने में, हेतु शब्द से तथा कारणभूत शब्द से भी षष्ठी विभक्ति होती है ।

अन्नस्य हेतोर्वसति—(अन्न के प्रयोजन से रहता है) यहाँ हेतु शब्द में तथा रहने के प्रयोजनभूत शब्द 'अन्न' में षष्ठी विभक्ति है ।

सर्वनाम्न इति—जब सर्वनाम शब्दों के साथ हेतु शब्द का प्रयोग हो तब हेतुता प्रकट करने अर्थ में सर्वनाम तथा हेतु शब्द से तृतीया तथा षष्ठी विभक्ति होती है ।

केन हेतुना वसति (किसलिये रहता है) यहाँ 'केन' इस सर्वनाम के साथ प्रयुक्त हेतु शब्द में तथा किम् शब्द में तृतीया विभक्ति है और पक्ष में षष्ठी विभक्ति होकर कस्य हेतोर्वसति, यहाँ षष्ठी भी होगी ।

(वा) निमित्तेति—निमित्त शब्द तथा उसके पर्यायवाची (प्रयोजन कारण आदि) शब्दों से प्रायः सभी विभक्तियाँ देखी जाती हैं ।

षष्ठ्यतसर्थ प्रत्ययेन ।२।३।३०।।

एतद्योगे षष्ठी स्यात् । 'दिक् शब्द' इति पञ्चम्या अपवादः । ग्रामस्य दक्षिणतः । पुरः पुरस्तात् । उपरि उपरिष्टात् ।

एनपा द्वितीया ।२।३।३१।।

एनवन्तेन योगे द्वितीया स्यात् । एनपेति योगविभागात् षष्ठ्यपि । दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा । एवमुत्तरेण ।

फलतः किं निमित्तम् (प्रथमा) केन निमित्तेन (तृतीया) कस्मै निमित्ताय (चतुर्थी) आदि सभी विभक्तियाँ होती हैं, इसी प्रकार इसके पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग में भी किं कारणम्, को हेतुः, किम् प्रयोजनमित्यादि ।

प्रायग्रहणादिति—वार्तिक में 'प्राय' ग्रहण से यह ज्ञापित होता है कि जहाँ सर्वनाम का प्रयोग नहीं होगा वहाँ प्रथमा और द्वितीया विभक्तियाँ नहीं होंगी अन्य सब विभक्तियाँ यथावत् होंगी । अतएव

"ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः"—यहाँ प्रथमा द्वितीया न होकर तृतीया हुई है क्योंकि यहाँ सर्वनाम का प्रयोग नहीं है । इसी प्रकार 'ज्ञानाय निमित्ताय' भी प्रयोग होगा ।

षष्ठ्यतसर्थ इति—अतस् अर्थात् अतसुच् प्रत्यय तथा तदर्थ वाची प्रत्ययों से बने शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति होती है ।

'अन्यारादितर्ते' इत्यादि सूत्र में 'दिक् शब्द' का ग्रहण करने से दिशावाची शब्दों के योग में पञ्चमी न होकर षष्ठी ही होती है ।

ग्रामस्य दक्षिणतः—यहाँ अतस् प्रत्ययान्त दक्षिणतः के योग में ग्रामस्य में षष्ठी विभक्ति है ।

इसी प्रकार अतसर्थवाची प्रत्यय-असि, अस्ताति, रिल् एवं रिष्टाति प्रत्ययों से से बने पुरः, पुरस्तात्, उपरि उपरिष्टात् आदि के योग में भी षष्ठी विभक्ति होगी ।

ग्रामस्य पुरः पुरस्तात्—यहाँ पुर+असि (इकार इत्संज्ञक है)=पुरः, पूर्व+अस्ताति=पुर+अस्तात्=पुरस्तात्, इसी प्रकार ऊर्ध्व+रिल्=उपरि (ऊर्ध्व को निपातन से उप आदेश) ऊर्ध्व+रिष्टाति=उपरिष्टात्, इन सबके योग में ग्रामस्य में षष्ठी है ।

एनपेति—एनप् प्रत्ययान्त शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है । यहाँ इस सूत्र में 'एनपा' 'द्वितीया' यह विभाग करके प्रथम भाग में षष्ठी सूत्र से षष्ठी की अनुवृत्ति लाकर, एनप् प्रत्ययान्त शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति भी होती है ।

दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा—यहाँ 'दक्षिणेन' शब्द में दक्षिण शब्द से एनप् प्रत्यय करके, दक्षिणेन के योग में प्रकृत सूत्र से द्वितीया तथा योगविभाग से षष्ठी भी हुई है । इसी प्रकार 'उत्तरेण' इस एनप् प्रत्ययान्त के योग में भी दोनों विभक्तियाँ होंगी ।

दूरान्तिकार्थैः षष्ठयन्यतरस्याम् । २।३।३४।।

एतैर्योगे षष्ठी स्यात् पञ्चमी च । दूरं निकटं ग्रामस्य, ग्रामाद्वा ।

ज्ञोऽविदर्थस्य करणे । २।३।५१।।

जानातेरज्ञानार्थस्य करणे शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी स्यात् । सर्पिषो ज्ञानम् ।

अधीगर्थदयेषां कर्मणि । २।३।५२।।

एषां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात् । मातुः स्मरणम् । सर्पिषो दयनम् । ईशनं वा ।

कृञः प्रतियत्ने । २।३।५३।।

कृञः कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात् गुणाधाने । एधोदकस्योपस्करणम् ।

दूरान्तिकार्थैरिति—दूर और अन्तिक (समीप) अर्थ वाले शब्दों के योग में षष्ठी तथा पञ्चमी विभक्ति होती हैं।

दूरं निकटं ग्रामस्य ग्रामाद् वा—यहाँ दूरम् तथा अन्तिकार्थवाची निकटम् के योग में षष्ठी तथा पञ्चमी विभक्ति होती हैं।

ज्ञोऽविदर्थस्येति—ज्ञान से भिन्न अर्थवाली ज्ञा धातु के करण में सम्बन्धमात्र विवक्षा में षष्ठी हो।

सर्पिषो ज्ञानम्—(घृत सम्बन्धी अर्थात् घृत के द्वारा होने वाली प्रवृत्ति) यहाँ ज्ञा धातु का अर्थ 'जानना' न होकर ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति अर्थ है और इस प्रवृत्ति का करण है—'सर्पिष्' अतः प्रकृत सूत्र से 'सर्पिषः' में षष्ठी है।

अधीगर्थ इति—अधि पूर्वक इ (इक् स्मरणे) अधीक्—अधीगर्थ अर्थात् स्मरणार्थक धातुओं, दानगतिरक्षणार्थक दय धातु, ईश, (ऐश्वर्य अर्थ में) धातु के कर्म में सम्बन्धमात्र विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है।

मातुः स्मरणम्—(माता का स्मरण करना) यहाँ 'स्मृ' के योग में उसके कर्म मातृ शब्द में षष्ठी विभक्ति है।

सर्पिषोदयनम्, ईशनं वा—(घृत का देना अथवा उसका यथेष्ट प्रयोग) यहाँ दय् एवं ईश के कर्म सर्पिस् में षष्ठी विभक्ति है।

कृञ इति—वृत्तिकार ने प्रतियत्न का अर्थ गुणाधान अर्थात् "किसी वस्तु के गुणों का किसी अन्य वस्तु में रखना" किया है। अतः सूत्र का अर्थ है—गुणाधान अर्थ में कृञ् धातु के कर्म में सम्बन्धमात्र की विवक्षा में षष्ठी हो।

एधोदकस्योपस्करणम्—(एध (काष्ठ) जल का उपस्करण है) यहाँ कृञ् धातु (उपस्करणम्) के कर्म में षष्ठी विभक्ति है।

रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः ।२।३।५४।।

भावकर्तृकाणां ज्वरिवर्जितानां रुजार्थानां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात् । चौरस्य रोगस्य रुजा ।

(वा) अज्वरिसंताप्योरिति वाच्यम् । रोगस्य चौरज्वरः चौरसन्तापो वा । रोगकर्तृकं चौरसम्बन्धि ज्वरादिकमित्यर्थः ।

आशिषि नाथः ।२।३।५५।।

आशीरर्थस्य नाथतेः शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । सर्पिषो नाथनम् । आशिषीति किम्—माणवक नाथनम् । तत्सम्बन्धिनी याच्ञेत्यर्थः ।

जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम् ।२।३।५६।।

रुजार्थानामिति—ज्वरि धातु को छोड़कर अन्य रोगार्थक धातुओं के कर्म में सम्बन्ध मात्र विवक्षा में षष्ठी हो, पर इन धातुओं का कर्त्ता भाववाचक हो ।

चोरस्य रोगस्य रुजा—(रोग द्वारा की गई चोर सम्बन्धी पीड़ा) यहाँ रोगार्थक रुज् धातु का कर्म चोर है तथा भाववाचक शब्द रोग उसका कर्त्ता है । अतः चौरस्य में सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में षष्ठी है, रोगस्य में तो कर्त्ता में षष्ठी है ।

(वा) अज्वरीति—सूत्र में 'अज्वरि' के स्थान पर 'अज्वरि संताप्योः' ऐसा कहना चाहिए अर्थात् ज्वरि और सन्तापि धातुओं को छोड़कर अन्य रोगार्थक धातुओं के कर्म में षष्ठी हो अतएव **'रोगस्य चौरज्वरः चौरसन्तापो वा'** ।

चौरज्वरः, चौरसन्तापः इन दोनों में षष्ठी समास है पर यह षष्ठी सम्बन्ध मात्र विवक्षा में हुई है, प्रकृत सूत्र से कर्म की अविवक्षा में षष्ठी विभक्ति यहाँ नहीं है क्योंकि ज्वर और सन्ताप के रहते सूत्र द्वारा षष्ठी नहीं होती है । यदि इस सूत्र से षष्ठी होती तो समास न होता । इसीलिए कि यहाँ 'शेषे षष्ठी' सूत्र से षष्ठी है, समासान्त उदाहरण दिया गया है । यहाँ भी पूर्ववत् रोग कर्त्ता है चौर कर्म है । अतः इस वाक्य का भी वही अर्थ है "रोगकर्तृक चोर सम्बन्धी ज्वर आदि ।"

आशिषीति—आशीः अर्थात् अभिलाषा अर्थवाली नाथ धातु के कर्म में सम्बन्धमात्र की विवक्षा में षष्ठी हो ।

सर्पिषो नाथनम्—(घृत सम्बन्धी अभिलाषा) यहाँ अभिलाषार्थक नाथ धातु के कर्म 'सर्पिस्' में सम्बन्धमात्र की विवक्षा में प्रकृत्त सूत्र द्वारा षष्ठी विभक्ति है ।

आशिषीति किम्—अभिलाषार्थक नाथ धातु के ही कर्म में षष्ठी होती है । अतः माणवकनाथनम् (माणवक सम्बन्धी याचना) में इस सूत्र द्वारा षष्ठी न होगी, क्योंकि यहाँ नाथ् का अर्थ अभिलाषा न होकर 'याचना' है । यहाँ भी 'शेषे षष्ठी' सूत्र से सम्बन्ध मात्र में षष्ठी होकर षष्ठी समास है, इस सूत्र से षष्ठी नहीं हुई है अन्यथा समास न होता अतएव समासान्त उदाहरण दिया गया है ।

जासिति—हिंसार्थक जासि, (जसु—ताडन अर्थ में—का ण्यन्त रूप जासि है) तथा जसु हिंसायाम् (इसका भी ण्यन्त रूप जासि बनेगा अतः जासि पद से दोनों का

हिंसार्थानामेषां शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । चौरस्योज्जासनम् । निप्रौ सहितौ विपर्यस्तौ व्यस्तौ वा । चौरस्य निप्रहणनम् । निहननम् । प्रणहननम् वा । नट अवस्कन्दने चुरादिः । चौरस्योन्नाटनम् । चौरस्य क्राथनम् । वृषलस्य पेषणम् । हिंसायां किम्—धानापेषणम् ।

ग्रहण है) नि तथा प्र उपसर्गपूर्वक हन् धातु, नाट् धातु, क्राथ् धातु तथा पिष् धातुओं के कर्म में सम्बन्धमात्र विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है ।

चौरस्योज्जासनम्—(चोर सम्बन्धी हिंसा) उत् उपसर्गपूर्वक जसुं (ण्यन्त जासि) धातु से 'उज्जासनम्' बनता है, इसका कर्म चोर है अतः यहाँ कर्मत्व की अविवक्षा कर सम्बन्धमात्र विवक्षा में प्रकृत सूत्र से षष्ठी विभक्ति हुई है ।

निप्राविति—"नि और प्र" हन् धातु के पूर्व में दोनों उपसर्ग इसी क्रम से मिले हुऐ अर्थात् 'निप्र' इस रूप में अथवा विपर्यस्तदशा में अर्थात् प्रनि इस दशा में अथवा व्यस्त दशा में अर्थात् नि और प्र इस पृथक्-पृथक् रूप में भी गृहीत होते हैं । इनके क्रमशः उदाहरण निम्नलिखित हैं—

चौरस्य निप्रहणनम्—(कर्मरूप चोर सम्बन्धी हनन) यहाँ हन्तेरत्पूर्वस्य सूत्र से न का ग हो गया है, इसका कर्म चोर है । अतः उसमें सम्बन्धमात्र विवक्षा में षष्ठी है ।

नि, प्र उपसर्गों के विपर्यस्त एवं व्यस्त दशा के उदाहरण हैं—चौरस्य प्रणिहननम् 'यहाँ 'नेर्गदनद' इत्यादि सूत्र से नि के न को ण हो गया है, पर धातु के न को ण नहीं होगा 'अट्कुप्वाङ्' सूत्र के नियम से । व्यस्त के उदाहरण है—निहननम्, प्रहणनम् ।

चौरस्योन्नाटनम्—यहाँ नट अवस्कन्दने धातु से उत् उपसर्ग लगाकर उन्नाटनम् रूप वनाया गया है, 'यहाँ नट् नृत्तौ' का ग्रहण नहीं है क्योंकि सूत्र में 'नाट' इस दीर्घ का ग्रहण किया गया है, यद्यपि चुरादिगण की नट् अवस्कन्दने धातु का अर्थ नाट्य है पर उत् उपसर्ग के कारण यहाँ इसका अर्थ हिंसा हो गया है, अतः चोरस्योन्नाटनम् का अर्थ है कर्मरूप चौरसम्बन्धिनी हिंसा । इसी प्रकार **'चौरस्य क्राथनम्'** यहाँ क्राथ धातु हिंसार्थक है, इसी प्रकार पिष् धातु का पेषणम् रूप है, इसका कर्म वृषल है प्रकृत सूत्र से सम्बन्ध मात्र की विवक्षा में 'वृषलस्य' में षष्ठी है, पेषणम् का अर्थ हिंसा अर्थात् वृषल सम्बन्धिनी हिंसा ।

हिंसायाम् किमिति—हिंसार्थक ही इन धातुओं के योग में षष्ठी होती है । अतः **'धाना पेषणम्'** यहाँ पिष धातु हिंसार्थक नही, पीसना अर्थ है । अतः प्रकृत सत्र से षष्ठी न होकर 'कर्तृकर्मणोः कृतिः' सूत्र से कृदन्त के योग में षष्ठी विभक्ति हुई

व्यवहृपणोः समर्थयोः ।२।३।५७।।

शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । द्यूते क्रयविक्रयव्यवहारे चानयोस्तुल्यार्थता । शतस्य व्यवहरणं पणनं वा । समर्थयोः किम्—शलाकाव्यवहारः । गणनेत्यर्थः । ब्राह्मणपणनं स्तुतिरित्यर्थः ।

दिवस्तदर्थस्य ।२।३।५८।

द्यूतार्थस्य क्रयविक्रय रूप व्यवहारार्थस्य च दिवः कर्मणि षष्ठी स्यात् । शतस्य दीव्यति । तदर्थस्य किम्—ब्राह्मणं दीव्यति स्तौतीत्यर्थः ।

है और तव षष्ठी तत्पुरुष समास होकर उक्त रूप वना है, प्रकृत सूत्र से षष्ठी होने पर समास न होगा ।

व्यवहृपणोरिति—समर्थयोः—समानार्थक वि+अव पूर्वक हृ (हरणे) धातु और पण् (व्यवहार तथा स्तुति अर्थ वाली) धातु इनके कर्म में सम्बन्धमात्र विवक्षा में षष्ठी होती है ।

द्यूत इति—द्यूत क्रीड़ा और क्रय विक्रय करना इन दो अर्थों में वि+अव पूर्वक हृ तथा पण् धातु समानार्थक हैं ।

शतस्य व्यवहरणं पणनं वाः—(सौ का क्रयविक्रय या द्यूत) यहाँ इन दोनों धातुओं के योग में कर्मरूप शतस्य में सम्बन्धमात्र विवक्षा में षष्ठी है ।

समर्थयोः किमिति—समानार्थक ही इन धातुओं के कर्म में षष्ठी होती है । अतः 'शलाका व्यवहारः' यहाँ व्यवहारः का अर्थ गणना है न कि क्रयविक्रय । अतः व्यवहारार्थक पण् धातु से समान अर्थ न रखने के कारण यहाँ इस सूत्र द्वारा षष्ठी नहीं है । इसी प्रकार **'ब्राह्मणपणनम्'** में भी षष्ठी इस सूत्र से न होगी क्योंकि यहाँ पण् धातु का अर्थ व्यवहार न होकर स्तुति करना है इन दोनों ही प्रयोगों में 'शेषे षष्ठी' से षष्ठी होकर षष्ठी तत्पुरुष समास हुआ है ।

दिव इति—तदर्थस्य अर्थात् द्यूत एवं क्रयविक्रय व्यवहार अर्थ में दिव् धातु के कर्म में सम्बन्धमात्र विवक्षा में षष्ठी हो ।

शतस्य दीव्यति—(सौ रुपयों सम्बन्धी द्यूत या क्रयविक्रय व्यवहार अर्थात् सौ रुपयों का द्यूत में या क्रयविक्रय में लगाना) यहाँ इन दो अर्थों में वर्तमान दिव् धातु के कर्म शतस्य में सम्बन्धमात्र विवक्षा में षष्ठी विभक्ति है ।

तदर्थस्य किमिति—द्यूत और क्रयविक्रय व्यवहार में ही षष्ठी होती है । भिन्न अर्थ में नहीं अतः **'ब्राह्मणं दीव्यति'** यहाँ षष्ठी नहीं होती क्योंकि यहाँ दिव् का अर्थ स्तुति है द्यूतादि नहीं ।

विभाषोपसर्गे ।२।३।५९।।

पूर्व योगापवादः । शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति ।

प्रेष्य ब्रुवोर्हविषो देवता सम्प्रदाने ।२।३।६१।।

देवता सम्प्रदानेऽर्थे वर्तमानयोः प्रेष्यब्रुवोः कर्मणोः हविर्विशेषस्य वाचकाच्छब्दात् षष्ठी स्यात् । अग्नये छागस्य हविषो वपायाः मेदसः प्रेष्य अनुब्रुहि वा ।

कृत्वोऽर्थ प्रयोगे कालेऽधिकरणे च ।२।३।६४।।

कृत्वोऽर्थानां प्रयोगे कालवाचिन्यधिकरणे शेषे षष्ठी स्यात् । पञ्चकृत्वोऽह्नो भोजनम् । द्विरह्नो भोजनम् । शेषे किम्—द्विरहन्यध्ययनम् ।

विभाषेति—उपसर्गपूर्वक दिव् धातु के कर्म में शेषार्थ विवक्षा में विकल्प से षष्ठी हो ।

यह पूर्वनियम का अपवाद है ।

शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति—यहाँ सोपसर्ग दिव् धातु के कर्म में शेषार्थ विवक्षा में षष्ठी व द्वितीया हुई है ।

प्रेष्य ब्रुवोरिति—देवता सम्प्रदान अर्थ में वर्तमान प्रेष्य और ब्रू धातु के कर्म में शेषार्थ विवक्षा में षष्ठी हो । जब कि उक्त दोनों क्रियाओं का कर्म हवि वाचक शब्द हो ।

यहाँ देवता सम्प्रदान का अर्थ है—जहाँ देवता को उद्देश्य करके कुछ दिया जाय—देवता जिसमें सम्प्रदान हो—देवता को उद्देश्य करके जहां कुछ सम्यक् दान किया जा रहा हो ।

सूत्र में 'प्रेष्य' यह क्रियापद प्र पूर्वक इष् (दिवादि इच्छार्थक) के लोट् लकार के मध्यम पुरुष एक वचन का रूप है । अतएव इसके साहचर्य से ब्रू धातु के लोट् मध्यम पुरुष एक वचन के रूप ब्रूहि का ही यहाँ ग्रहण किया जायगा अर्थात् प्रेष्य और ब्रूहि इनके कर्म में षष्ठी हो । कर्म भी हविर्विशष का वाचक ही शब्द होना चाहिए ।

अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य अनुब्रूहि वा—(अग्निदेव के उद्देश्य से दिये जाते हुए छाग सम्बन्धी वपा (चर्बी) मेदस् रूप हवि विशेष को प्रकाशित करो ।) यहाँ प्रेष्य और अनुब्रूहि के कर्म वपा मेदस् हविष् आदि मे षष्ठी विभक्ति हुई है ।

कृत्वोऽर्थेति—कृत्व अर्थ वाले प्रत्ययों के प्रयोग में काल-वाचक अधिकरण में शेषार्थ की विवक्षा होने पर षष्ठी विभक्ति होती है ।

यह बताया जा चुका है कि क्रिया की आवृत्ति को प्रकट करने अर्थ में संख्या-

कर्तृकर्मणो : कृति २।३।६५।।

कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी स्यात् । कृष्णस्य कृतिः । जगतः कर्त्ता कृष्णः ।

(वा) गुणकर्मणि वेष्यते । नेताऽश्वस्य स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा ।

कृति किम् तद्धिते माभूत्-कृतपूर्वी कटम् ।

वाचक शब्द से कृत्व सुच् प्रत्यय होता है जैसे सप्तकृत्वः पञ्चकृत्वः सातवार पाँचवार करके ।

पञ्चकृत्वोऽह्नो भोजनम्—(दिन में पाँचवार भोजन) यहाँ कालवाचक अहन् शब्द से, 'पञ्चकृत्वः' इस कृत्वप्रत्ययान्त शब्द के योग में अधिकरण में षष्ठी विभक्ति हुई है । वास्तव में 'दिन में पाँचवार भोजन' इस अर्थ में दिन वाचक अहन् शब्द में अधिकरण में सप्तमी होनी चाहिए थी । पर इस सूत्र के नियमानुसार यहाँ अहन् शब्द से षष्ठी हुई है, अह्नः' यह षष्ठी विभक्ति का रूप है ।

द्विरह्नो भोजनम्—(दिन में दो वार भोजन) यहाँ संख्यावाचक द्वि शब्द से सुच् प्रत्यय होकर 'द्विः' वना है, यह प्रत्यय भी उसी अर्थ में अर्थात् क्रिया की आवृत्ति अर्थ में होता है। अतः इसके योग में अधिकरण अर्थ में वर्तमान अहन् शब्द से सम्बन्ध मात्र विवक्षा में षष्ठी होकर 'अह्नः' यह रूप वना है ।

शेषे किमिति—सम्वन्ध मात्र की विवक्षा में ही षष्ठी विभक्ति होती है अन्यथा अधिकरण में सप्तमी होगी जैसे 'द्विरहन्यध्ययनम्' (दिन में दो वार पढ़ना) यहाँ शेषार्थ की विवक्षा नहीं की । अतः 'द्विः अहनि अध्ययनम्' इस प्रयोग में अहनि शब्द में सप्तमी हुई है ।

कर्तृकर्मणोरिति—कृदन्त के योग में कर्त्ता तथा कर्म में षष्ठी हो ।

कृष्णस्य कृतिः—(कृष्ण का कार्य) यहाँ कृ धातु से क्तिन् प्रत्यय करके 'कृति' यह कृदन्त रूप बना है । इसके योग में कृष्ण इस कर्त्ता में षष्ठी होकर कृष्णस्य कृतिः प्रयोग बना है ।

जगतः कर्त्ता कृष्णः—(जगत् के कर्त्ता कृष्ण) यहाँ कृ धातु से तृच् प्रत्यय द्वारा बने कर्त्ता इस कृदन्त के योग में 'जगतः' इस कर्म में षष्ठी विभक्ति हुई है ।

(वा) गुणकर्मणीति—दो कर्म वाली कृत् प्रत्ययान्त धातुओं के योग में गौण कर्म में विकल्प से षष्ठी हो ।

नेताऽश्वस्य स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा—(स्रुघ्न नामक प्रदेश विशेष में घोड़े को ले जाने वाला) यहाँ नी धातु से तृच् प्रत्यय करके बने हुए 'नेता' इस कृदन्त के योग में गौण कर्म स्रुघ्न शब्द में प्रकृत वार्तिक से षष्ठी विभक्ति होकर 'स्रुघ्नस्य' तथा पक्ष में 'अकथितं च' सूत्र नियमानुसार द्वितीया विभक्ति होकर 'स्रुघ्नम्' ये दो रूप बने हैं । 'अश्वस्य' यहाँ प्रधान कर्म में 'कर्तृकर्मणोः कृति' सूत्र से षष्ठी विभक्ति है ।

उभयप्राप्तौ कर्मणि ।२।३।६६।।

उभयोः प्राप्तिर्यस्मिन् कृति तत्र कर्मण्येव षष्ठी स्यात्। आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन।

(वा) स्त्रीप्रत्ययोरकाकारयोर्नायं नियमः। भेदिका विभित्सा वा रुद्रस्य जगतः।

कृति किमिति—कृत्प्रत्ययान्त शब्दों के ही योग में षष्ठी विभक्ति होती है, सूत्र में इसीलिए कृत् ग्रहण है। अतः तद्धित प्रत्ययान्त शब्दों के योग में षष्ठी नहीं होगी। फलतः 'कृतपूर्वीकटम्' यहाँ कृतपूर्व शब्द से 'सपूर्वाच्च' इस सूत्र से इनि प्रत्यय जो कि तद्धित प्रत्यय है, करके 'कृतपूर्वी' रूप बना है। अतः यहाँ तद्धित प्रत्ययान्त कृतपूर्वी के योग में 'कर्तृकर्मणोः कृति' सूत्र से 'कटम्' में षष्ठी विभक्ति नहीं हुई है। यद्यपि कट शब्द कृतपूर्वी शब्द का कर्म है तथापि कृतपूर्वी शब्द के तद्धित प्रत्ययान्त होने के कारण यहाँ षष्ठी नहीं होती है।

उभयेति—कृदन्त के योग में जहाँ कर्त्ता और कर्म दोनों ही में षष्ठी विभक्ति प्राप्त होती है, वहाँ कर्म में ही षष्ठी विभक्ति होती है। और कर्त्ता में अनुक्त होने से तृतीया होती है।

अश्चर्गो गवां दोहोऽपेयोन—(अगोप-गोपाल से भिन्न व्यक्ति द्वारा गायों का दुहना आश्चर्य की बात है) यहाँ दुह. धातु से घञ् प्रत्यय करने पर 'दोहः' (दुहना) यह कृदन्त रूप बनता है, इसका कर्त्ता अगोप है और कर्म गो है, यहाँ कर्त्ता और कर्म दोनों में षष्ठी विभक्ति प्राप्त होती है पर प्रकृत सूत्र के नियमानुसार कर्म में ही षष्ठी होकर 'गवाम्' यह रूप बनता है, और अनुक्त कर्त्ता में तृतीया विभक्ति होकर (क्योंकि दोहः में घञ् प्रत्यय भाव में होता है अतएव कर्त्ता अनुक्त रहता है) अगोपेन रूप बनता है, यह सम्पूर्ण उक्त वाक्य साधु है।

(वा) स्त्रीति—स्त्रीलिङ्ग में होने वाले अक् (ण्वुल् आदि) तथा 'अ' प्रत्ययों से निष्पन्न कृदन्त शब्दों के योग में (उभय प्राप्तौ कर्मणि) इस सूत्र का नियम नहीं लगता अर्थात् स्त्रीवाचक ण्वुल् तथा अ प्रत्ययान्त कृदन्त शब्दों के योग में कर्त्ता व कर्म दोनों में षष्ठी विभक्ति हो जाती है।

भेदिका विभित्सा वा रुद्रस्य जगतः—(रुद्र कर्तृक जगत कर्मक भेदनेच्छा अथवा भेदन अर्थात् रुद्र द्वारा संसार के भेदन की इच्छा (विभित्सा) अथवा संसार का भेदन, यहाँ भिद् धातु से ण्वुल प्रत्यय, अक आदेश स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् प्रत्यय करने पर 'भेदिका' यह स्त्रीलिंग रूप बनता है। अतः स्त्रीलिंग अक एवं अ प्रत्ययान्त (विभित्सा) इन कृदन्त रूपों के योग में इनके कर्त्ता रुद्र एवं कर्म जगत् इन दोनों शब्दों में षष्ठी विभक्ति हुई है। यहाँ प्रकृत वार्तिक के नियमानुसार 'उभय प्राप्तौ कर्मणि' सूत्र द्वारा केवल कर्म में ही षष्ठी नहीं होती अपितु दोनों में षष्ठी होती है।

(वा) शेषे विभाषा। स्त्री प्रत्यय इत्येके। विचित्रा जगतः कृतिर्हरेर्हरिणा वा। केचिदविशेषेण विभाषामिच्छन्ति। शब्दानामनुशासनमाचार्येणाचार्यस्य वा।

क्तस्य च वर्तमाने ।२।३।६७।।

वर्तमानार्थस्य क्तस्य च योगे षष्ठी स्यात्। न लोकेति निषेधस्यापवादः। राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा।

(वा) शेषे इति—अक और अ प्रत्ययों से भिन्न शेष प्रत्ययों से निष्पन्न कृदन्त शब्दों के योग में कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है (वास्तव में 'उभयप्राप्तौ' नियम का यह विकल्प है 'उभयप्राप्तौ' सूत्र कर्म में तो षष्ठी करता ही है, कर्त्ता में उसके नियम के अनुसार षष्ठी नहीं होनी चाहिए थी, प्रस्तुत वार्तिक कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी विधान करता है)।

स्त्रीप्रत्यय इत्येके—स्त्रीलिंग कृत् प्रत्ययान्त शब्दों के प्रयोग में ही यह वार्तिक काम करता है, ऐसा कुछ आचार्यों का मत है। इनके मत के अनुसार **"विचित्रा जगतः कृतिः हरेः हरिणा वा"** यहाँ कृति इस स्त्रीलिंग कृत् प्रत्ययान्त के योग में कर्त्ता 'हरि' में वार्तिक के अनुसार विकल्प से षष्ठी तथा पक्ष में तृतीया है। 'जगतः' में तो कर्म में नित्य षष्ठी है।

केचिदिति—किन्हीं आचार्यों का मत है कि 'शेषे विभाषा' वार्तिक द्वारा विधीयमान विकल्प षष्ठी, अक अ प्रत्ययों से भिन्न स्त्री प्रत्ययान्त शब्दों के प्रयोग में ही नहीं होती अपितु वह सामान्यतः (अविशेषेण) सभी प्रत्ययों के (चाहे वे किसी भी लिंग के हों) प्रयोग में भी होती है। अर्थात् कृत् प्रत्ययों के प्रयोग में कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी होती है।

शब्दानामनुशासनमाचार्येणाचार्यस्य वा—यहाँ अनुशासनम् शब्द में ल्युट् प्रत्यय भाव में होने के कारण यह शब्द नपुंसक लिंग है तथापि इसके कर्त्ता आचार्येण आचार्यस्य' में विकल्प से षष्ठी हुई पक्ष में तृतीया विभक्ति होगी, क्योंकि भाव में प्रत्यय होने पर अनुक्त कर्त्ता में तृतीया होती है।

क्तस्येति—वर्तमान काल में कहे गये क्त प्रत्यय के योग में षष्ठी विभक्ति होती है।

क्त प्रत्यय प्रायः भूतकाल में ही होता है, पर "मति बुद्धिपूजार्थेभ्यश्च" सूत्र द्वारा विहित क्त प्रत्यय वर्तमान में होता है, इसी वर्तमान में होने वाले क्त प्रत्यय का ग्रहण इस सूत्र में है।

'न लोकेत्यादि' सूत्र द्वारा आगे निष्ठा (क्त-क्तवतु) प्रत्ययों के प्रयोग में षष्ठी का निषेध किया जाता है पर यह सूत्र वर्तमान में होने वाले क्त प्रत्यय के प्रयोग में षष्ठी विधान करता है। अतः यह उसका अपवाद है।

अधिकरणवाचिनश्च ।२।३।६८।।

क्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । इदमेषामासितम् शयितं गतं भुक्तं वा ।

न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् ।२।३।६९।।

एषां प्रयोगे षष्ठी न स्यात् । लादेशाः—कुर्वन् कुर्वाणो वा सृष्टिं हरिः । उः—हरिं दिदृक्षुः । अलंकरिष्णुर्वा । उक् । दैत्यान् धातुको हरिः । (वा) कमेरनिषेधः । लक्ष्म्याः कामुको हरिः ।

राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा—(राजाओं द्वारा माना जाता, जाना जाता और पूजा जाता है) यहाँ वर्तमान कालिक क्त प्रत्ययान्त शब्दों के योग में 'राज्ञाम्' में कर्त्ता में षष्ठी विभक्ति है ।

अधिकरणेति—अधिकरणवाची क्त प्रत्यय के योग में षष्ठी विभक्ति होती है ।

(क्त प्रत्यय भाव व कर्म में होता है पर ''क्तोऽधिकरणेत्यादि सूत्र द्वारा क्त प्रत्यय अधिकरण में भी होता है इसी का इस सूत्र में ग्रहण है । यह भी नलोकेत्यादि सूत्र का अपवाद है) ।

इदमेषामासितं शयितं गतं भुक्तं वा—यहाँ आसितम् इत्यादि प्रयोगों में क्त प्रत्यय अधिकरण में होने से इनके योग में 'एषाम्' में कर्त्ता में षष्ठी विभक्ति है ।

न लोकेति—ल (लकार के स्थान में होने वाले प्रत्यय शतृ शानच् आदि) उ, उक, अव्ययकृदन्त (त्वा आदि) निष्ठा—(क्त-क्तवतु) खल् के अर्थ में होने वाले प्रत्यय, तथा तृन् प्रत्यय, इनके योग में (कर्तृकर्मणोः कृति) 'सूत्र से प्राप्त षष्ठी विभक्ति नहीं होती ।

कुर्वन् कुर्वाणो वा सृष्टिं हरिः—यहाँ कुर्वन् (कृ+शतृ) तथा कुर्वाणः (कृ+शानच्) इन लादेश प्रत्ययों के प्रयोग में इनके कर्म सृष्टि में प्राप्त षष्ठी का प्रकृत सूत्र द्वारा निषेध होने पर द्वितीया विभक्ति हुई है ।

हरिं दिदृक्षुः—(हरि को देखने की इच्छा रखने वाला) यहाँ दिदृक्षुः (सन्नन्त दिदृक्षु से 'सनः शंसभिक्ष उः' से उप्रत्यय है) उ प्रत्यय के प्रयोग में 'हरिम्' में षष्ठी का निषेध होकर द्वितीया हुई ।

अलङ्करिष्णुः—सूत्र में 'उ' से उकारान्त कृदन्त का ग्रहण है । अतः अलम् पूर्वक कृ+इष्णुच् से निष्पन्न 'अलंकरिष्णुः' इस शब्द के प्रयोग में भी षष्ठी का निषेध होने पर 'हरिम्' में द्वितीया हुई है ।

दैत्यान् धातुको हरिः—(दैत्यों का घातक हरि) हन्+उकञ् से घातुकः बनता है, यहाँ उपधा वृद्धि, 'हो हन्तेः' सूत्र से हकार को घादेश और नकार को तकार होकर घातुकः रूप बनता है । इसके योग में 'दैत्यान्' में षष्ठी का निषेध होता है ।

(वा) कमेरिति—उक् प्रत्ययान्त 'कम' धातु के योग में षष्ठी का निषेध नहीं होता अर्थात् षष्ठो हो जाती है ।

अव्ययं—जगत् सृष्ट्वा । सुखं कर्तुम् । निष्ठा—विष्णुना हता दैत्याः । खलर्थः—ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा । तृन्निति प्रत्याहारः—शतृ शानचाविति तृशब्दारभ्यातृनो नकारात् । शानन्—सोमं पवमानः । चानश्—आत्मानं मण्डयमानः । शतृ—वेदमधीयन् । तृन्—कर्त्ता लोकान् ।

(वा) द्विषः शतुर्वा । मुरस्य मुरं वा द्विषन् । सर्वोऽयं कारक षष्ठयाः प्रतिषेधः, शेषे षष्ठी तु स्यादेव । ब्राह्मणस्य कुर्वन् । नरकस्य जिष्णुः ।

लक्ष्म्याः कामुको हरिः—यहाँ कामुकः इस उक प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी का निषेध न होने से लक्ष्म्याः में षष्ठी है ।

जगत्सृष्ट्वा—यहाँ अव्यय कृत्—त्वा प्रत्यय के योग में जगत् शब्द में षष्ठी का निषेध होने से द्वितीया विभक्ति है ।

सुखम् कर्तुम्—यहाँ तुमुन्नन्त कर्तुम् के प्रयोग में 'सुखम्' में षष्ठी का निषेध होकर द्वितीया है ।

विष्णुना हता दैत्याः—यहाँ (हन्+क्त) हताः के प्रयोग में कर्त्ता विष्णुना में षष्ठी का निषेध होने से अनुक्त कर्त्ता में तृतीया है ।

दैत्यान् हतवान् विष्णुः—यहाँ (हन्+क्तवतु) हतवान् के योग में षष्ठी का निषेध होने से अनुक्त कर्म दैत्यान् में द्वितीया विभक्ति है ।

ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा—(हरि के लिये संसार का प्रपञ्च सरल है) यहाँ ईषत् पूर्वक कृ धातु से खल् प्रत्यय होकर ईषत्करः बना है । यहाँ खल् प्रत्यय कर्म में है, अतः कर्त्ता हरि में षष्ठी का निषेध होने से तृतीया विभक्ति है ।

तृन्निति—सूत्र में तृन् शब्द से तृन् प्रत्यय नहीं अपितु तृन् प्रत्याहार का ग्रहण है—अर्थात् 'शतृशानचौ' के तृ से लेकर तृन् प्रत्यय के नकार तक के प्रत्यय लिये जाते हैं । अतः इन प्रत्ययों के योग में षष्ठी नहीं होती ।

सोमं पवमान—(सोम को पवित्र करता हुआ) यहाँ (पू+शानन्) पवमानः के योग में षष्ठी का निषेध होने से सोमम् में द्वितीया है ।

आत्मानं मण्डयमानः—यहाँ (मण्डि+चानश्) मण्डयमानः के प्रयोग में आत्मानम् में षष्ठी का निषेध होने से द्वितीया है ।

वेदमधीयन्—यहाँ (अधि+इ+शतृ) अधीयन् के योग में

कर्त्ता लोकान्—यहाँ (कृ+तृन्) कर्त्ता के योग में षष्ठी का निषेध होकर वेदम् व लोकान् में द्वितीया है ।

(वा) द्विष इति—शतृ प्रत्ययान्त द्विष् धातु के योग में षष्ठी विभक्ति का निषेध विकल्प से हो ।

अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः ।२।३।७०।।

भविष्यत्यकस्य भविष्यदाधमर्ण्यार्थेनश्च योगे षष्ठी न स्यात् । सतः पालकोऽवतरति । व्रजं गामी । शतं दायी ।

कृत्यानां कर्त्तरि वा ।२।३।७१।।

षष्ठी वा स्यात् । मया मम वा सेव्यो हरिः ।

कर्तरीति किम्—गेयो माणवकः साम्नाम् । भव्य गेय ।३।४।६८।। इति

मुरस्य मुरं वा द्विषन्—यहाँ (द्विष्+शतृ) द्विषन् के योग में षष्ठी निषेध-विकल्प से होने से उक्त प्रयोग बना है।

सर्वोऽयमिति—न लोकेत्यादि सूत्र द्वारा 'कर्तृकर्मणोः कृति' सूत्र द्वारा प्राप्त कारक षष्ठी का ही निषेध है। पर 'शेषे षष्ठी' सूत्र से किसी भी कारक में सम्बन्धमात्र की विवक्षा होने पर तो षष्ठी हो ही जाती है।

ब्राह्मणस्य कुर्वन्—यहाँ शतृ प्रत्ययान्त के योग में तथा नरकस्य जिष्णुः—यहाँ स्नु प्रत्ययान्त के योग में सम्बन्धमात्र विवक्षा में षष्ठी है। कर्मत्व विवक्षा में यहाँ द्वितीया भी हो सकती है।

अकेनोरिति—भविष्यत् अर्थ में कहे हुए अक प्रत्यय, तथा भविष्यत् और आधमर्ण्य अर्थ में कहे हुए इन प्रत्यय, इनके योग में षष्ठी विभक्ति न हो।

सतः पालकोऽवतरति—(सज्जनों का पालन करने वाला अवतरित होता है।) यहाँ पाल् धातु से भविष्यत् अर्थ में ण्वुल् प्रत्यय है वु को अक आदेश होकर पालकः बना है, इसके योग में सतः में षष्ठी न होकर द्वितीया ही होती है।

व्रजं गामी—(व्रज को जाने वाला) यहाँ भी भविष्यत् अर्थ में गम् धातु से णिनि प्रत्यय होकर गामी बना है। अतः इसके योग में 'व्रजम्' में षष्ठी न होकर द्वितीया हुई है।

शतं दायी—(सौ रुपये का देनदार—ऋणी) सूत्र में आधर्मण्य का अर्थ है अधमर्ण (जो ऋण लेता है) का भाव आधमर्ण्य। इस अर्थ में हुए इन् प्रत्यय के योग में षष्ठी नहीं होती। 'दायी' में दा धातु से णिनि, युक् होकर दायीरूप बना है। अतः सतम् में षष्ठी न होकर द्वितीया है।

कृत्यानामिति—कृत्य प्रत्ययों के योग में कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी हो।

मया मम वा सेव्यो हरिः—(मेरे द्वारा हरि सेवायोग्य हैं) यहाँ 'सेव्य' में सेव् धातु से कर्म में ण्यत् होकर सेव्यः बना है। अतः अनुक्त कर्ता में कृत्य प्रत्यय ण्यत् के योग में 'कर्तृकर्मणोः' सूत्र से नित्य षष्ठी प्राप्त थी इस सूत्र से उसमें विकल्प से षष्ठी होने से मम तथा मया दो रूप हुये हैं।

कर्तरीति किम्—सूत्र में 'कर्तरि' ग्रहण से ज्ञात होता है कि जहाँ कृत्य प्रत्ययों के योग में कर्त्ता में षष्ठी प्राप्त होगी वहाँ ही यह विकल्प करेगा पर कर्म में होने वाली षष्ठी नित्य ही होगी। अतएव—

कर्तरि यद्विधानादनभिहितं कर्म । अत्र योगो विभज्यते 'कृत्यानाम्' उभय-प्राप्ताविति नेति चानुवर्तते । तेन नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेन । ततः 'कर्तरि वा' उक्तोऽर्थः ।

तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम् ।२।३।७२।।

तुल्यार्थैर्योगे तृतीया वा स्यात् पक्षे षष्ठी । तुल्यः सदृशः समो वा कृष्णस्य कृष्णेन वा । अतुलोपमाभ्यां किम्—तुला उपमा वा कृष्णस्य नास्ति ।

चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्र भद्रकुशलसुखार्थ हितैः ।२।३।७३।

"गेयो माणवकः सम्नाम्"—(माणवक साम का गाने वाला है) यहाँ 'गै' धातु से 'भव्यगेय' इत्यादि सूत्र द्वारा कर्त्ता में यत् प्रत्यय होकर 'गेयः' बना है, यह यत् कृत्य प्रत्यय है । अतः इसके अनभिहित कर्म 'साम्नाम्' में नित्य षष्ठी विभक्ति हुई है, कर्त्ता में प्रत्यय होने से कर्त्ता के अभिहित होने के कारण 'माणवकः' में प्रथमा है ।

अत्रेति—'कृत्यानां कर्तरि वा' इस सूत्र में योग विभाग है अर्थात् 'कृत्यानाम्' यह एक सूत्र है इसमें 'उभय प्राप्तौ' और 'न' की अनुवृत्ति कर इसका अर्थ होता है—कृत्य प्रत्ययों के योग में कर्त्ता और कर्म दोनों में प्राप्त षष्ठी न हो । जिससे कि **'नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेन'** यहाँ कृत्य प्रत्यय तव्यत् है । अतः 'नेतव्याः' इसके कर्त्ता 'कृष्ण' कर्म 'व्रज' में षष्ठी प्राप्त थी इस विभक्त सूत्र द्वारा उसका निषेध होने से गौण कर्म व्रजम् में द्वितीया और अनुक्त कर्त्ता कृष्णेन में तृतीया हुई है, 'गावः' इसमें प्रधान कर्म के उक्त होने से प्रथमा विभक्ति है । दूसरा सूत्र है 'कर्तरि वा' इसमें 'कृत्यानाम्' इस प्रथम सूत्र की अनुवृत्ति है । अतः इसका वही उक्त अर्थ होगा—कृत्य प्रत्ययों के योग में कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी हो ।

तुल्यार्थैरिति—तुला और उपमा इन दो शब्दों को छोड़कर शेष तुल्यार्थवाची शब्दों के योग में विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है तथा पक्ष में षष्ठी भी ।

तुल्यः सदृशः समः वा कृष्णेन कृष्णस्य वा—यहाँ तुल्य और तदर्थवाचक सदृश आदि शब्दों के योग में कृष्ण में तृतीया तथा पक्ष में षष्ठी विभक्ति हुई है ।

अतुलोपमाभ्यां किमिति—सूत्र द्वारा तुला और उपमा शब्दों के योग में तृतीया नहीं होती । अतः **"तुला उपमा वा कृष्णस्य नास्ति"** यहाँ इन शब्दों के योग में कृष्ण में प्रकृत सूत्र द्वारा तृतीया नहीं हुई, सम्बन्ध विवक्षा में केवल षष्ठी विभक्ति है ।

चतुर्थीति—आशीर्वादार्थ में आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख हित शब्द तथा एतदर्थवाची शब्दों के योग में विकल्प से चतुर्थी विभक्ति हो और पक्ष में षष्ठी हो ।

आयुष्यं चिरं जीवितं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात्—(कृष्ण दीर्घायु हों) यहाँ आशीर्वादार्थ में आयुष्य एवं तदर्थ चिरंजीवित के योग में 'कृष्णाय' में चतुर्थी तथा

एतदर्थैर्योगे चतुर्थी वा स्यात् पक्षे षष्ठी आशिषि। आयुष्यं चिरं जीवितं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात्। एवं मद्रं भद्रं कुशलं निरामयं सुखं शं अर्थः प्रयोजनं हितं पथ्यं वा भूयात्। आशिषि किम्—देवदत्तस्यायुष्यमस्ति। व्याख्यानात् सर्वत्रार्थ ग्रहणम्। मद्रभद्रयोः पर्यायत्वादन्यतरो न पठनीयः। इति षष्ठी।

पक्ष में षष्ठी है। इसी प्रकार शेष मद्र भद्र आदि के योग में भी उक्त दोनों विभक्तियाँ होंगी।

आशिषि किमिति—आशीर्वाद अर्थ में ही चतुर्थी होती है। अतः **'देवदत्तस्य आयुष्यम् अस्ति'** (देवदत्त की दीर्घायु है) यहाँ आशीर्वादार्थ के अभाव में प्रकृत सूत्र से चतुर्थी नहीं होती केवल सम्बन्ध विवक्षा में षष्ठी हुई है।

व्याख्यानादिति—आचार्यों के व्याख्यान से यहाँ इन सभी शब्दों के अर्थवाची शब्दों का ग्रहण है। अतः इन शब्दों के साथ-साथ इनके अर्थवाची शब्दों का यहाँ सर्वत्र ग्रहण है। फलतः मद्र और भद्र शब्द पर्यायवाची हैं अतः इनमें से एक का सूत्र में ग्रहण करना ही पर्याप्त था (क्योंकि एक से समानार्थगाची दूसरे का ग्रहण तो हो ही जाता) अतः दूसरे का पाठ न करना चाहिए था।

इति षष्ठी

सप्तमी विभक्ति

आधारोऽधिकरणम् ।१।४।४५।।

कर्तृ कर्मद्वारा तन्निष्ठ क्रियाया आधारः कारकमधिकरणसंज्ञः स्यात् ।

सप्तम्यधिकरणे च ।२।३।३६।।

अधिकरणे सप्तमी स्यात् । चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यः । औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चे त्याधारस्त्रिधा । कटे आस्ते । स्थाल्यां पचति । मोक्षे इच्छास्ति । सर्वस्मिन्नात्मास्ति । वनस्य दूरे अन्तिके वा । 'दूरान्तिकार्थेभ्यः' इति विभक्तित्रयेण सह चतस्रोऽत्र विभक्तयः फलिताः ।

आधार इति—कर्त्ता और कर्म के द्वारा उनमें रहने वाली क्रिया का जो आधार उसकी अधिकरण संज्ञा हो । अर्थात् अधिकरण कारक क्रिया का साक्षात् आधार न होकर कर्त्ता और कर्म के द्वारा तन्निष्ठ क्रिया द्वारा आधार वनता है ।

सप्तमीति—अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति होती है । प्रस्तुत सूत्र में चकार ग्रहण से 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' इस सूत्र से 'दूरान्तिकार्थेभ्यः' शब्द की अनुवृत्ति होती है । अतः दूर और अन्तिक अर्थवाची शब्दों में भी सप्तमी होती है ।

आधार तीन प्रकार का होता है :—१—औपश्लेषिक संयोग आदि सम्बन्ध, उपश्लेष का अर्थ है, संयोग आदि अर्थात् जहाँ कर्त्ता कर्म, आधार पर अपना संयोगादि सम्बन्ध रखें, ऐसा आधार औपश्लेषिक आधार कहा जाता है । २—वैषयिक-विषयता सम्बन्ध को लेकर बनने वाला आधार अर्थात् कर्त्ता का जिस वस्तु के साथ संयोगादि सम्बन्ध होकर बौद्धिक सम्बन्ध हो ।

३ **अभिव्यापक**—अर्थात् वह आधार जिसमें कोई वस्तु पूर्णरूप से उसके सभी अवयवो में व्याप्त होकर रहती है ।

कटे आस्ते—(चटाई पर बैठता है) यह प्रथम प्रकार के आधार का उदाहरण

(वा) क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम् । अधीती व्याकरणे । अधीतमनेनेति विग्रहे 'इष्टादिभ्यश्च' ।५।२।८८ इति कर्तरीनिः ।

(वा) साध्वसाधु प्रयोगे च । साधुः कृष्णो मातरि । असाधुर्मातुले ।

है, कर्त्ता का कट पर संयोग सम्बन्ध है क्योंकि बैठने में उसका कट के साथ संयोग होता है। अतः 'आधारोऽधिकरणम्' सूत्र से 'कट' की अधिकरण संज्ञा है और 'सप्तम्यधिकरणे च' सूत्र से उसमें सप्तमी विभक्ति है।

स्थाल्यां पचति—(डेगची में (चावल) पकाता है) यहाँ भी प्रथम प्रकार का आधार है, क्योंकि पचति क्रिया के कर्म चावलों का डेगची के साथ पचति क्रिया द्वारा संयोग होता है अतएव 'स्थाल्याम्' में अधिकरण संज्ञा होकर सप्तमी विभक्ति हुई है।

मोक्षे इच्छास्ति—(मोक्ष विषयक इच्छा है) यहाँ द्वितीय प्रकार के अर्थात् वैषयिक आधार में सप्तमी है, क्योंकि कर्त्ता का मोक्ष से संयोगादि दैहिक सम्बन्ध न होकर बौद्धिक सम्बन्ध है, मोक्ष इच्छा का विषय है। अतः मोक्ष की अधिकरण संज्ञा और उसमें सप्तमी विभक्ति है।

सर्वस्मिन्नात्मास्ति—(सब में आत्मा है) यहाँ तृतीय प्रकार का अर्थात् अभिव्यापक आधार है क्योंकि आत्मा पूर्णरूपेण सब में व्याप्त है। अतः आधारभूत सर्वस्मिन् में सप्तमी विभक्ति है।

वनस्य दूरे अन्तिके वा—यहाँ अनुवृत्ति द्वारा लब्ध दूर, अन्तिक शब्दों में 'सप्तम्यधिकरणे च' सूत्र से सप्तमी है। 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' इस सूत्र से दूर और अन्तिक शब्दों में द्वितीया, तृतीया व पञ्चमी का विधान होता है, इन तीन विभक्तियों के साथ प्रस्तुत सूत्र द्वारा विधीयमान सप्तमी को भी मिलाकर उक्त शब्दों में चार विभक्तियाँ—द्वितीया तृतीया, पञ्चमी एवं सप्तमी होती हैं।

(वा) **क्तस्येति**—क्त प्रत्ययान्त शब्दों से इन् प्रत्यय होकर बने हुए शब्दों के कर्म में सप्तमी विभक्ति होती है।

अधीती व्याकरणे—(व्याकरण पढ़ा हुआ या पढ़ने वाला) यहाँ अधिपूर्वक इङ् (अध्ययन करना) धातु से क्त करके अधीत बनता है और फिर अधीत इस क्त प्रत्ययान्त शब्द से, अधीतमनेन इस विग्रह में 'इष्टादिभ्यश्च' सूत्र से कर्त्ता में इनि प्रत्यय होकर 'अधीती' रूप बनता है इस 'अधीती' के कर्म—व्याकरण शब्द में प्रकृत वार्तिक से सप्तमी विभक्ति होती है।

(वा) **साध्विति**—साधु व असाधु शब्दों के योग में सप्तमी विभक्ति होती है।

साधुः कृष्णो मातरि, असाधुः मातुले—(कृष्ण माता के प्रति अच्छा और मामा के प्रति बुरा है, यहाँ साधु और असाधु के प्रयोग में मातरि और मातुले में प्रकृत वार्तिक से सप्तमी है।

(वा) निमित्तात् कर्म योगे । निमित्तमिह फलम् । योगः संयोगसमवायात्मकः । चर्मणि द्वीपिनं हन्ति, दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्, केशेषु चमरीं हन्ति, सीम्नि पुष्कलको हतः (इति भाष्यम्) ।

हेतौ तृतीयाऽत्र प्राप्ता तन्निवारणर्थमिदम् । सीमाऽडकोशः । पुष्कलको गन्धमृगः । योगविशेषे किम्—वेतनेन धान्यं लुनाति ।

(वा) निमित्तादिति—निमित्तात् अर्थात् फल वाचक शब्द से सप्तमी विभक्ति हो, यदि फलवाचक शब्द का कर्म के साथ संयोग या समवाय सम्बन्ध हो । (वार्तिक में निमित्त का अर्थ फल है तथा योग का अर्थ है सम्बन्ध अर्थात् संयोग या समवाय सम्बन्ध ।)

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति—(चर्म के लिये व्याघ्र को मारता है) यहाँ निमित्त अर्थात् फलवाचक शब्द है चर्म, क्योंकि व्याघ्र के मारने का उद्देश्य चर्म की प्राप्ति ही है । हन्ति क्रिया का कर्म है 'द्वीपी' इस कर्मरूप द्वीपी के साथ फलरूप चर्म का समवाय सम्बन्ध (नित्य सम्बन्ध) है क्योंकि चर्म, 'द्वीपी' में सदा समवेत रहता है, दोनों को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता । अतः 'चर्मणि' में प्रकृत वार्तिक से सप्तमी है ।

दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्—(दाँतों के लिये हाथी को मारता है) यहाँ फलवाचक दन्त का कर्मरूप कुञ्जर के साथ समवाय (वस्तुतस्तु संयोग) सम्बन्ध है । अतः 'दन्तयोः' में सप्तमी हुई है ।

केशेषु चमरीं हन्ति—(केशों के लिये चमरी नामक मृगविशेष को मारता है) यहाँ भी फलरूप केश का कर्मरूप चमरी नामक मृगविशेष के साथ संयोग सम्बन्ध होने से केशेषु में सप्तमी हुई है ।

सीम्नि पुष्कलको हतः—सीमा=अण्डकोश, पुष्पकलक=गन्ध मृगविशेष—अण्डकोश के लिए पुष्कलक मृग को मारता है) यहाँ भी फलवाचक सीमन् का कर्म रूप पुष्कलक के साथ संयोग सम्बन्ध होने से 'सीम्नि' में सप्तमी हुई है ।

हेताविति—यहाँ इन सभी प्रयोगों में 'हेतौ' सूत्र से हेतु में तृतीया प्राप्त थी, उसको निषेध कर वार्तिक द्वारा सर्वत्र सप्मती हुई है ।

योग विशेषे किमिति—जहाँ फलवाचक शब्द का कर्म के साथ समवाय या संयोग सम्बन्ध रहता है वहीं इस सूत्र द्वारा फलवाचक शब्द में सप्तमी होती है । अतः **'वेतनेन धान्यं लुनाति'** (वेतन के लिये धान्य काटता है) फलवाचक वेतन का कर्मरूप धान्य से संयोग या समवाय सम्बन्ध नहीं है । अतः यहाँ 'वेतनेन' में सप्तमी न होकर 'हेतौ' सूत्र से हेतु में तृतीया हुई है ।

यस्य च भावेन भावलक्षणम् ।२।३।३७।।

यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी स्यात् । गोषु दुह्यमानासु गतः ।

(व) अर्हाणां कर्तृत्वेऽनर्हाणामकर्तृत्वे तद्वैपरीत्ये च । सत्सु तरत्सु असन्त आसते । असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति । सत्सु तिष्ठत्सु असन्तस्तरन्ति । असत्सु तरत्सु सन्तस्तिष्ठन्ति ।

यस्येति—जिसके एक कार्य से कोई दूसरा कार्य लक्षित हो उससे सप्तमी हो, अर्थात् जिसके एक कार्य से दूसरा कार्य होना पाया जाय उससे सप्तमी होती है ।

गोषु दुह्यमानासु गतः—गायें दुहीं जाने पर (वह) गया अथवा जब गायें दुहीं जा रहीं थीं । (वह) चला गया यहाँ गायों की दोहन रूप क्रिया (कार्य) से अन्य की गमन रूप क्रिया (कार्य) लक्षित होती है अर्थात् गायों के दोहन रूप एक कार्य से गमन रूप कार्यान्तर लक्षित होता है। अतः गो शब्द में सप्तमी विभक्ति हुई है इसका विशेषण है दुह्यमान अतः उसमें भी विशेषणानुसार सप्तमी विभक्ति हुई है ।

अर्हाणामिति—अर्ह अर्थात् जो जिस कार्य के लिये योग्य या उपयुक्त हो वह अर्ह तथा अयोग्य अनर्ह कहा जाता है । अर्हों का कर्तृत्व प्रकट करने में तथा अनर्हों का अकर्तृत्व प्रकट करने में तथा इसकी विपरीतता में सप्तमी विभक्ति होती है । अर्हाणां कर्तृत्व, अनर्हाणाम् अकर्तृत्व, अनर्हाणाम् कर्तृत्व, अर्हाणम् अकर्तृत्व इस प्रकार इस वार्तिक के चार भाग हैं, इनके क्रमशः उदाहरण हैं—अर्हाणाम् कर्तृत्वे—**सत्सु तरत्सु असन्त आसते** अर्थात् क्रिया में योग्य लोगों की कर्तृत्व विवक्षा होने पर—जैसे उक्त वाक्य में, सज्जनों का तरना उचित है, वे तरण क्रिया के कर्त्ता हैं । अतः सत्सु में सप्तमी है और तरत्सु में विशेष्यानुसार विशेषण में भी सप्तमी है ।

अनर्हाणमकर्तृत्वे—जिस क्रिया में जिनका कर्तृत्व अनुचित हो, जैसे असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति यहाँ असत् का तरण क्रिया में कर्तृत्व अनुचित है, इनका यह अकर्तृत्व, तिष्ठत्सु से प्रकट हो रहा है क्योंकि सत्सु की क्रिया तिष्ठत्सु है । अतः तरन्ति में उनका अकर्तृत्व स्वतः सिद्ध हो जाता है इस प्रकार अनर्हों के अकर्तृत्व बोधक असत्सु में यहाँ सप्तमी है ।

इसी प्रकार अनर्हाणां कर्तृत्वे—अर्थात् अयोग्यों का कर्तृत्व बताने में उनसे सप्तमी होती है जैसे **असत्सु तरत्सु सन्तः तिष्ठन्ति** यहाँ असज्जनों का तरण क्रिया का कर्त्ता होना अनुचित है किन्तु उनका तरना तरत्सु से प्रकट हो रहा है अर्थात् तरत्सु से उनका (असत्) कर्तृत्व प्रकट होता है । अतः असत्सु में सप्तमी है और विशेष्यानुसार तरत्सु में भी सप्तमो है ।

इसी प्रकार अर्हाणामकर्तृत्वे—योग्यों का अकर्तृत्व प्रकट करने में तद्वाचक शब्द से सप्तमी होती है जैसे **सत्सु तिष्ठत्सु असन्त तरन्ति** यहाँ सत् (योग्य) का तरण क्रिया से अन्वय न होकर तिष्ठत्सु से है । अतः यहाँ अर्ह का अकर्तृत्व है इसलिये सत्सु में सप्तमी है और विशेष्यानुसार तरत्सु में भी ।

षष्ठी चानादरे ।२।३।३८।।

अनादराधिक्ये भावलक्षणे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः । रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत् । रुदन्तं पुत्रादिकमनादृत्य संन्यस्तवानित्यर्थः ।

स्वामीश्वराधिपति दायाद साक्षि प्रतिभू प्रसूतैश्च ।२।३।३९।।

एतैः सप्तभिर्योगे षष्ठी सप्तम्यौ स्तः । षष्ठ्यामेव प्राप्तायां पाक्षिक सप्तम्यर्थं वचनम् । गवां गोषु वा स्वामी । गवां गोषु वा प्रसूतः । गा एवानुभवितुं जात इत्यर्थः ।

आयुक्त कुशलाभ्यां चासेवायाम् ।२।३।४०।।

आभ्यां योगे षष्ठी सप्तम्यौ स्तस्तात्पर्येऽर्थे । आयुक्तो व्यापारितः । आयुक्तः कुशलो वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा । आसेवायां किम्—आयुक्तो गौः शकटे । ईषद् युक्त इत्यर्थः ।

(कुछ आचार्यों के मत से यह वार्तिक व्यर्थ है 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' से यहाँ सप्तमी हो सकती थी ।)

षष्ठीति— अनादर की अधिकता प्रकट होने पर जिस क्रिया से अन्य क्रिया लक्षित हो उसमें षष्ठी और सप्तमी विभक्ति हो ।

रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत्—(रोते हुए पुत्रादिक की उपेक्षा कर सन्यास ग्रहण कर लिया) यहाँ रुदन का अनादर प्रकट होता है तथा रुदन क्रिया से प्रव्रजन क्रिया लक्षित भी होती है । अतः रुदन् में प्रकृत सूत्र से षष्ठी व सप्तमी विभक्ति हुई हैं ।

स्वामीति—स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षिन्, प्रतिभू एवं प्रसूत के योग में षष्ठी तथा सप्तमी हों ।

वास्तव में यहाँ सम्बन्ध में षष्ठी तो प्राप्त ही थी, केवल पक्ष में सप्तमी विधान के लिये यह सूत्र है ।

गवां गोषु वा स्वामी—यहाँ स्वामी के योग में गवां गोषु में षष्ठी व सप्तमी हुई हैं ।

गवां गोषु वा प्रसूतः—(गायों में उत्पन्न हुआ) यहाँ भी षष्ठी व सप्तमी विभक्ति प्रसूतः के योग में हुई हैं । इसका अर्थ है कि गायों का अनुभव करने के लिये ही उत्पन्न हुआ है ।

आयुक्तेति—आसेवा—तत्परता निरन्तरता अर्थ में आयुक्त और कुशल शब्दों के योग में षष्ठी तथा सप्तमी हो ।

आयुक्तः कुशलो वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा (हरिपूजन में तत्पर लगाया हुआ कुशल) यहाँ आयुक्त का अर्थ है व्यापारित=लगाया हुआ आयुक्त और कुशल के योग में हरिपूजन शब्द में षष्ठी तथा सप्तमी विभक्तियाँ हैं ।

यतश्च निर्धारणम् ।२।३।४१।।

जातिगुणक्रिया संज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणम् यतस्ततः षष्ठी सप्तम्यौ स्तः । नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः । गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा । गच्छतां गच्छत्सु वा धावञ्छीघ्रः । छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः ।

पञ्चमी विभक्ते ।२।३।४२।।

विभागो विभक्तम् । निर्धार्यमाणस्य यत्र भेद एव तत्र पञ्चमी स्यात् । माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्यः आढ्यतराः ।

आसेवायां किमिति—तत्परता निरन्तरता अर्थ में ही उक्त विभक्तियाँ होती हैं। अतः **"आयुक्तो गौः शकटे'** (बैलगाड़ी में कुछ जोड़ा हुआ' यहाँ नैरन्तर्य या तत्परता न होने के कारण यहाँ इस सूत्र द्वारा उक्त विभक्तियाँ नहीं हुई हैं अपितु आधार में केवल सप्तमी है । यहाँ 'आ' का ईषद् (कुछ) अर्थ है ।

यतश्चेति—जाति गुण क्रिया संज्ञा के द्वारा अर्थात् इनकी विशेषताओं के कारण जहाँ किसी पदार्थ को अपने जिस समुदाय से पृथक करना हो वहाँ षष्ठी वा सप्तमी विभक्ति होती है ।

नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठ—(मनुष्यों में ब्रह्मण श्रेष्ठ है) यहाँ मनुष्य समुदाय से जाति विशेषता के कारण ब्राह्मण को पृथक् किया जा रहा है । अतः नृषु नृणां में सप्तमी व षष्ठी दोनों विभक्ति हैं ।

गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा—(गायों में कृष्णा गाय बहुत दूध देने वाली है) यहाँ बहुक्षीरत्व रूप गुण द्वारा कृष्णा गाय का अन्य गायों से निर्धारण किया गया है, अतः गोषु गवाम् में उक्त विभक्तियाँ हुई हैं ।

गच्छतां गच्छत्सु वा धावञ्छीघ्रः । (जाने वालों में दौड़ता हुआ शीघ्र जाता है) यहाँ क्रिया द्वारा निर्धारण में उक्त विभक्तियाँ गच्छताम् (षष्ठी) गच्छत्सु (सप्तमी) हैं ।

छात्राणां छात्रेषु व मैत्रः पटुः—(छात्रों में मैत्र चतुर है) यहाँ संज्ञा द्वारा निर्धारण है अतः उक्त विभक्तियाँ हैं ।

पञ्चमीति—विभाग का अर्थ है विभक्त—भेद । जहाँ निर्धार्यमाण वस्तु (जिसका विशिष्ट रूप में भेद दिखलाया जाय) वस्तुतः भिन्न ही होती हो, वहाँ जिससे भेद किया जाय उसमें पञ्चमी होती है ।

माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः—माथुर पाटलिपुत्र के लोगों से सम्पन्न हैं । यहाँ मथुरा वासी पाटलिपुत्रवासियों से भिन्न ही हैं, आढ्यत्व को लेकर यहाँ दोनों में पुनः भेद दिखलाया गया है, यहाँ निर्धार्यमाण माथुर हैं इनका पाटलिपुत्रकों से भेद किया जा रहा है । अतः इनमें प्रकृत सूत्र से पञ्चमी हुई है ।

साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः ।२।३।४३।।

आभ्यां योगे सप्तमी स्यादर्चायां न तु प्रतेः प्रयोगे । मातरि साधुर्निपुणो वा । अर्चायां किम्—निपुणो राज्ञो भृत्यः । इह तत्त्व कथने तात्पर्यम् ।

अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम् । साधुर्निपुणो वा मातरं प्रतिपर्यनु वा ।

प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च ।२।३।४४।।

आभ्यां योगे तृतीया स्याच्चात्सप्तमी । प्रसित उत्सुको वा हरिणा हरौ वा ।

नक्षत्रे च लुपि ।२।३।४५।।

नक्षत्रे प्रकृत्यर्थे यो लुप्तसंज्ञया लुप्यमानस्य प्रत्ययस्यार्थः तत्र वर्तमानात् तृतीया सप्तम्यौ स्तोऽधिकरणे । मूलेनावाहयेद् देवीं श्रवणेन विसर्जयेत् । मूले श्रवणे इति वा । लुपि किम्—पुष्ये शनिः ।

साध्विति—साधु और निपुण के योग में सप्तमी हो पूजा अर्थ में । पर प्रति शब्द के प्रयोग में न हो ।

मातरि साधुर्निपुणो वा—यहाँ पूजार्थ में मातरि में सप्तमी है ।

अर्चायां किम्—अर्चा अर्थ में ही उक्त विभक्ति होती है अतः **निपुणो राज्ञो भृत्यः** (राजा का सेवक कुशल है) यह वास्तविक बात का कथन है प्रशंसा नहीं । अतः राज्ञः में सम्बन्धमात्र में षष्ठी है इस सूत्र से सप्तमी नहीं हुई है ।

(वा) अप्रत्यादिभिरिति—सूत्र में अप्रतेः के स्थान पर 'अप्रत्यादिभिः कहना चाहिए जिससे कि प्रति परि अनु के प्रयोग में उक्त शब्दों के योग में अर्चार्थ में सप्तमी विभक्ति न हो ।

साधुर्निपुणो वा मातरं प्रतिपर्यनु वा—यहाँ प्रति परि अनु के प्रयोग में साधु निपुण शब्दों के योग में सप्तमी नहीं हुई है । अतः 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' से यहाँ द्वितीया विभक्ति है । प्रति परि अनु की कर्म प्रवचनीय संज्ञा पहले बताई जा चुकी है ।

प्रसितेति—प्रसित और उत्सुक शब्दों के योग में तृतीया विभक्ति होती है और सप्तमी भी ।

प्रसित उत्सुकोवेतिः—(हरि में लीन) यहाँ इन शब्दों के योग में हरि में तृतीया और सप्तमी हुई है ।

नक्षत्रे चेति :—जहाँ नक्षत्र वाची शब्द, लुप् इस नाम से लुप्त हुये प्रत्यय के अर्थ में वर्तमान हो, वहाँ उससे अधिकरण में तृतीया व सप्तमी होती हैं ।

मूलेनेति—यहाँ मूल तथा श्रवण ये दोनों शब्द, एतन्नामक नक्षत्रों से युक्त काल के बोधक हैं । अर्थात् मूल नक्षत्र का अर्थ है, मूल नक्षत्र से युत्त काल, एवं श्रवण नक्षत्र से युक्त काल, क्योंकि यहाँ इन दोनों से 'नक्षत्रेण युक्तःकालः' सूत्र से

सप्तमीपञ्चम्यौ कारक मध्ये ।२।३।३।।

शक्तिद्वयमध्ये यौ कालाध्वानौ ताभ्या मेते स्तः ।

अद्य भुत्वायं द्वयहे द्वयहाद् वा भोक्ता । कर्तृ शक्त्योर्मध्येऽयंकालः । इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत् । कर्तृकर्मशक्त्योर्मध्येऽयं देशः । अधिक शब्देन योगे सप्तमी पंचम्या विध्येते । "तदस्मिन्नधिकम् ५।२।४५।। इति 'यस्मादधिकम्' इति च सूत्र निर्देशात् । लोके लोकाद्' वाधिको हरिः ।"

'युक्तःकाल' अर्थ में 'अण्' प्रत्यय हुआ है और 'लुव विशेषे' सूत्र से उसका लोप हो गया है। अतः अब इस अवस्था में ये दोनों शब्द लुप् नाम से लुप्त हुए अण्' प्रत्यय के अर्थ में वर्तमान हैं । अत: इन नक्षत्रवाची शब्दों से **"मूलेन श्रवणेन, मूले श्रवणे इति वा"** में तृतीया व सप्तमी दोनों विभक्तियाँ हुई हैं ।

लुपि किमिति—लुप् नाम से लुप्त प्रत्यय के अर्थ में ही वर्तमान शब्द से उक्त विभक्तियाँ होती हैं । अत: 'पुष्ये शनिः' यहाँ 'पुष्य' शब्द पुष्य नक्षत्र से युक्तकाल अर्थ में न होकर अपने ही अर्थ में वर्तमान है । अत: यहाँ न तो कोई प्रत्यय ही हुआ है और न उसका लुप् ही। अतः यहाँ अधिकरण में केवल सप्तमी है ।

सप्तमीति—दो कारक शक्तियों के बीच में जो काल और मार्ग हो, तद्वाचक शब्दों से सप्तमी व पंचमी विभक्ति होती है ।

अद्येति—(आज खाकर वह दो दिन में खायेगा) यहाँ काल दो शक्तियों के बीच में है—एक कर्तृशक्ति (भोजन रूप शक्ति) का सम्बन्ध आज (अद्य) से और दूसरी कर्तृशक्ति का सम्बन्ध द्वयह (दो दिन) से है अतः दो कर्तृशक्तियों के मध्य वर्तमान काल वाचक शब्द 'द्वयह' में सप्तमी व पंचमी विभक्तियाँ हैं ।

इहस्थोऽयमिति—(यहाँ स्थित ही यह एक कोस पर लक्ष्य को वेध सकता है) यहाँ मार्गवाचक शब्द 'क्रोश' दो शक्तियों—कर्त्ता और कर्म के बीच वर्तमान है अर्थात् 'अयम्' यह कर्तृशक्ति और 'लक्ष्यम्' यह कर्मशक्ति है। इन दोनों के बीच वर्तमान 'क्रोश' शब्द से उक्त दोनों विभक्तियाँ हुई हैं ।

अधिकेति—अधिक शब्द के योग में पंचमी और सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं इसका प्रमाण है—पाणिनि सूत्र—**"तदस्मिन्नधिकम् और यस्मादधिकम्"** इन दोनों सूत्रों में अधिक के योग में उक्त दोनों विभक्तियों का प्रयोग किया गया है। अतः अधिक के योग में ये दोनों विभक्तियाँ होंगी जैसा कि **"लोके लोकाद् वा हरिः"** इस प्रयोग में देखा जाता है ।

अधिरीश्वरे ।१।४।९७।।

स्वस्वामिभाव सम्बन्धेऽधिः कर्मप्रवचनीय संज्ञः स्यात् ।

यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी ।२।३।९।।

अत्र कर्म प्रवचनीय युक्ते सप्तमी स्यात् । उपपरार्धे हरेर्गुणाः । परार्धादधिका इत्यर्थः । ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पर्यायेण सप्तमी । अधि भुवि रामः । अधि रामे भूः । सप्तमी शौण्डैरिति समासपक्षे तु रामाधीना । 'अषडक्ष' ५।४।७।। इत्यादिना खः ।

विभाषा कृञि ।१।४।९८।।

अधिरीश्वर इति—स्व और स्वामी के सम्वन्ध को प्रकट करने में 'अधि' की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होती है ।

यस्मादिति—जिससे अधिक हो और जिसका स्वामित्व कहा जाय उस शब्द में कर्म प्रवचनीय के योग में सप्तमी होती है ।

उपपरार्ध इति—परार्ध से अधिक—परार्ध नाम है—'स्व' से बड़ी संख्या का, परार्ध से भी अधिक अर्थात् संख्यातीत हरि के गुण हैं । यहाँ 'उपोऽधिके च' सूत्र से 'उप' की कर्म प्रवचनीय संज्ञा है । परार्ध से अधिक हरि के गुणों का कथन है और कर्म प्रवचनीय संज्ञक 'उप' का योग है । अतः 'परार्धे, में प्रकृत सूत्र से सप्तमी विभक्ति हुई है ।

ऐश्वर्येत्विति.—अर्थात् ईश्वरवचन-स्वामित्व प्रकट करने में तो स्व (सेवकादि) और स्वामी शव्दों में पर्याय से सप्तमी होती है ।

अधिभुवि रामः—(राम भू के स्वामी हैं) यहाँ स्व वाचक 'भू' शव्द से 'अधि' इस कर्म प्रवचनीय के योग में सप्तमी है ।

अधिरामे भूः—(भू राम की 'स्व' है) यहाँ स्वामी वाचक 'राम' में अधि के योग में सप्तमी है ।

सप्तमीतिः—'अधिरामे' इस विग्रह में जब 'सप्तमी शौण्डैः' सूत्र से समास होगा तव राम+अधि रामाधि से **'अषडक्ष'** इत्यादि सूत्र से ख प्रत्यय होकर और उसका ईन आदेश होने पर 'रामाधीन' स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् होकर रामाधीना प्रयोग होगा ।

विभाषेतिः—कृञ् धातु के योग में स्व स्वामिभाव सम्बन्ध में 'अधि' की कर्म प्रवचनीय संज्ञा विकल्प से होती है ।

यदत्रेतिः—(जो यहाँ मुझे नियुक्त करेगा) अधिकरिष्यति का अर्थ है—विनियोक्ष्यते—नियुक्त करेगा । यहाँ विनियोक्ता का स्वामित्व प्रकट होता है । अतः प्रकृत सूत्र से 'अधि' की कर्म प्रवचनीय संज्ञा है । इसका फल है—गति संज्ञा का

अधिः करोतौ प्राक् संज्ञो वा स्यादीश्वरेऽर्थे । यदत्र मामधिकरिष्यति' विनियोक्ष्यत इत्यर्थः । इह विनियोक्तु रीश्वरत्वं गम्यते । अगतित्वात् 'तिङि चोदात्तवति' ८।१।६१।। इति निघातो न । इति सप्तमी ।

इति कारक प्रकरणम् ।

बाध होना । गति संज्ञा के बाध होने से 'तिङि चोदात्तवति' इस सूत्र से अधि को निघात अर्थात् सर्वानुदात्त नहीं होता । उक्त प्रयोग में 'माम्' में अधिकरिष्यति का कर्म होने से द्वितीया है। इति सप्तमी ।

इति कारक प्रकरणम्

अथ समास प्रकरणम्

केवल समासः

समासः पञ्चधा। तत्र समसनं समासः।

स च विशेष संज्ञा विनिर्मुक्तः केवल समासः प्रथमः। प्रायेण पूर्व पदार्थ प्रधानोऽव्ययीभावो द्वितीयः। प्रायेणोत्तर पदार्थ प्रधान स्तत्पुरुषस्तृतीयः। तत्पुरुष भेदः कर्मधारयः। कर्मधारय भेदो द्विगुः।

समास इति :—समास पाँच प्रकार का होता है।

तत्रेति—समसन (संक्षेप) अर्थात् अनेक पदों का मिलकर एक पद वन जाना समास कहलाता है। (सम् पूर्वक अस् (एक साथ रखना) धातु से समास पद वनता है।) अतः समास का अर्थ है, संक्षेप, अर्थात् अनेक पदों का एक पद वन जाना ही, संक्षेप या समास है।

(समास विधि से अनेक पदों से मिलकर बना हुआ एक पद, समस्त पद कहलाता है और इस प्रकार पदों के मिलने की प्रक्रिया को समास कहते हैं।)

स चेति :—किसी विशेष नाम से रहित समास ही केवल समास है, और यह केवल समास नामक प्रथम समास है। तात्पर्य यह कि जिस समास का कोई अन्य नाम न हो, जो किसी भी समास के प्रकरण मे न आ सकता हो वह केवल समास कहलाता है। जैसे 'भूतपूर्वः' यह समस्त पद किसी भी अन्य समास के प्रकरण के अन्तर्गत नहीं आता है, अतः यह केवल समास है।

प्रायेणेति—प्रायः जिसमें पूर्व पद का अर्थ प्रधान रहता है, वह अव्ययीभाव नामक द्वितीय समास कहलाता है। (समस्त पद का प्रथम पद, पूर्वपद तथा द्वितीय पद उत्तर पद कहा जाता है) जैसे 'उप कृष्णं भक्ताः' (कृष्ण के समीप भक्त हैं) यहाँ पूर्वपद उप का अर्थ (समीप) ही प्रधान है। क्योंकि इसका ही भक्त जनों से साक्षात् सम्बन्ध है।

प्रायेणान्य पदार्थ प्रधानो बहुव्रीहिश्चतुर्थः। प्रायेणोभय पदार्थप्रधानो द्वन्द्वः पञ्चमः।

यहाँ प्रायेण इसलिये कहा है कि कहीं-कहीं अव्ययीभाव समास में ऐसे उदाहरण मिलेंगे जिनमें पूर्वपद प्रधान नहीं है, जैसे उन्मत्ता गंगा यत्र स उन्मत्त गङ्गो नाम देशः (जहाँ गङ्गा उन्मत्त है वह उन्मत्त गङ्ग नामक देश) यहाँ पूर्व पद का अर्थ प्रधान न होकर अन्य पदार्थ (देश) का अर्थ प्रधान है, तथापि अव्ययीभाव के अधिकार में होने के कारण यह भी अव्ययीभाव समास माना जाता है, यदि 'प्रायेण' न कहा जाता तो ऐसे पदों की अव्ययीभाव संज्ञा न होती।

प्रायेणेति—जिसमें प्रायः उत्तर पद का अर्थ प्रधान होता है वह तत्पुरुष नामक तृतीय समास कहलाता है। जैसे 'गंगा जलम् आनय' (गंगा के जल को लाओ) यहाँ 'आनय' इस क्रिया पद के साथ जल का ही साक्षात् सम्बन्ध होता है, अतः यहाँ 'जल' इस उत्तर पद का अर्थ ही प्रधान है। 'प्रायेण' कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ उत्तर पदार्थ प्रधान न भी हो, वह भी तत्पुरुष समास समझा जाय, जैसे 'माला मतिक्रान्तः' अतिमालः जिसने माला का अतिक्रमण किया हो, यहाँ पूर्वपद अति का ही अर्थ प्रधान है, पर 'प्रायेण' कथन सामर्थ्य से यह भी तत्पुरुष समास माना जाता है। इसी प्रकार के पूर्वकायः, अपरकायः आदि अन्य उदाहरण हैं, जहाँ पूर्वपद ही प्रधान है।

तत्पुरुष भेद—तत्पुरुष का ही एक भेद कर्मधारय नामक तृतोय समास कहलाता है। "तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः" समानाधिकरण तत्पुरुष ही कर्मधारय समास कहलाता है, यहाँ भी उत्तर पदार्थ प्रधान होता है अतएव यह तत्पुरुष का ही एक भेद है। विशेष्य और विशेषण का समास कर्मधारय समास होता है जैसे 'महाँश्चासौ राजा महाराजः' यहाँ 'राजन्' यह उत्तर पदार्थ ही प्रधान है।

कर्मधारय भेद इति—कर्मधारय समास का ही एक भेद द्विगु समास कहलाता है, जिस कर्मधारय (विशेष्य विशेषण का समास) समास में प्रथम विशेषण वाचक पद संख्यावाचक होता है उसे द्विगु समास कहते हैं 'संख्या पूर्वो द्विगुः' जैसे पञ्चानां गवां समाहारः (पाँच गायो का समाहार (समूह), यहाँ विशेषण—पञ्च संख्यावाचक है, अतः पञ्चगवम् यह द्विगु समास है।

प्रायेणान्येति—जिसमें प्रायः अन्य पदार्थ प्रधान रहता है वह बहुव्रीहि नामक चतुर्थ समास कहलाता है जैसे 'लम्बोदरम् आनय' (लम्बे उदर वाले को लाओ) यहाँ अन्य पदार्थ प्रधान है लम्बे उदर वाला कोई व्यक्ति विशेष, उसी का क्रिया के साथ साक्षात् सम्बन्ध होता है, पूर्व या उत्तर पदों का नहीं।

यहाँ 'प्रायेण' का तात्पर्य है कि कहीं-कहीं बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ प्रधान नहीं भी होता जैसे 'द्वित्राः' (दो तीन) यहाँ यद्यपि दोनों पद प्रधान हैं तथापि यह बहुव्रीहि समास के अन्तर्गत माना जाता है।

समर्थः पदविधिः ।२।१।१।।

पद सम्बन्धी यो विधिः स समर्थाश्रितो वोध्यः ।

प्राक्कडारात् समासः । २।१।३।।

कडाराः कर्मधारये इत्यतः प्राक् समास इत्यधिक्रियते ।

सह सुपा ।२।१।४।।

सुप—सुपा सह वा समस्यते । समासत्वात्प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुक् ।

प्रायेणोभयेति—जिसमें प्रायः दोनों पदों का अर्थ प्रधान होता है वह द्वन्द्व नामक पाँचवा समास कहलाता है, जैसे माता-पितरौ आनय' माता-पिता को लाओ, यहाँ दोनों पदों का अर्थ प्रधान है क्योंकि दोनों का ही क्रिया के साथ साक्षात् सम्बन्ध है ।

यहाँ प्रायेण का तात्पर्य है कि जहाँ उभय पदार्थ प्रधान न भी हो वहाँ भी द्वन्द्व समास माना जाय जैसे 'दन्तोष्ठम् आदि उदाहरणों में उभय पदार्थ प्रधान न होकर समाहार का अर्थ जो कि अन्य पदार्थ है, प्रधान है, तथापि यह द्वन्द्व समास माना जाता है ।

समर्थ इति—पद सम्बन्धी विधि, वह विधि जो पद को उद्देश्य करके कही गई है । वह समर्थ पदों से ही बोध्य हो अर्थात् जिन पदों में सामर्थ्य होगा उन्हीं पदों में पद-विधि होगी अन्यत्र नहीं ।

यद्यपि सुवन्त व तिङन्त दोनों ही पद होते हैं, तथापि समास विधि सुवन्त से सुवन्त के ही साथ होती है । अतः समास विधि पदविधि है, पदविधि होने के कारण समास उन्हीं पदों में होगा, जिनका परस्पर सामर्थ्य होगा । अर्थात् जो पद परस्पर अन्वित होने की योग्यता रखते होंगे, परस्पर मिलकर अर्थ-बोध कराने का सामर्थ्य रखते होंगे, जहाँ पदों में यह सामर्थ्य नहीं होता वहाँ समास नहीं होता है, जैसे 'भार्या राज्ञः, पुरुषो देवदत्तस्य' यहाँ 'राज्ञः पुरुषः' परस्पर अन्वित नहीं है, अतः यहाँ समास न होगा ।

प्राक्कडारादिति—'कडाराः कर्मधारये' इस सूत्र से पहिले तक समास का अधिकार है, अर्थात् वहाँ तक समास प्रकरण चलेगा ।

१२५ सहेति—सुवन्त का सुवन्त से साथ विकल्प से समास हो ।

समासत्वादितिः—समास होने से प्रातिपदिक संज्ञा होती है (कृत्तद्धित समासाश्च' और प्रातिपदिक संज्ञा होने से 'सुपोधातुप्रातिपदिकयोः' सूत्र से सु आदि विभक्तियों का लोप हो जाता है ।

परार्थाभिधानं वृत्तिः। कृत्तद्धित समासैकशेषसनाद्यन्तधातु रुपाः पञ्च वृत्तयः। वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः। स च लौकिकोऽलौकिकश्चेति द्विधा-पूर्वं भूतो भूतपूर्व इति लौकिकः। पूर्व अम् भूत सु इत्यलौकिकः। भूतपूर्वः। 'भूतपूर्वेचरड्' इति निर्देशात् भूतशब्दस्य पूर्व निपातः।

(धा) इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च। वागर्थौ इव-वागर्थाविव। इति केवल समासः प्रथमः

परार्थेतिः—परार्थ (अन्य अर्थ) का कथन वृत्ति कहलाता है। प्रत्यय अथवा अन्य पद के अर्थ सहित जो एक विशिष्ट अर्थ होता है उसे वृत्ति कहते हैं।

कृत्तद्धितेतिः—कृत, तद्धित, समास, एक शेप, और सनाद्यन्त धातुरूप-ये पाँच वृत्तियाँ हैं। (इनमें कृत् तद्धित तथा सनाद्यन्त धातु में तो प्रत्यय के अर्थ सहित विशिष्ट अर्थ कहा जाता है और समास तथा एक शेप में अन्य पद के सहित एक विशिष्ट अर्थ कहा जाता है)।

वृत्त्यर्थेतिः—वृत्ति के अर्थ के वोध कराने वाले वाक्य को विग्रह कहते हैं जैसे 'गंगा जलम्' यह समास वृत्ति है। इसका अर्थ गंगायाः जलम् इस वाक्य द्वारा प्रतीत होता है, अतः यह विग्रह है। इसी प्रकार 'पुत्रीयति' इस सनाद्यन्त धातुरूप वृत्ति का विग्रह 'पुत्रमात्मनः इच्छति' यह वाक्य है।

सचेति—वह विग्रह दो प्रकार का होता है, लौकिक और अलौकिक। लौकिक विग्रह वह जिसका लोक में प्रयोग किया जाता है, जैसे गङ्गा जलम् का गंगायाः जलम्। अलौकिक वह है जिसका लोक में प्रयोग नहीं होता जैसे—गङ्गा ङस् जल सु इसका प्रयोग केवल व्याकरण की प्रक्रिया बोधनार्थ ही होता है, लोक में नहीं। जैसा कि मूल में भूतपूर्वः के लौकिक-पूर्वं भूतः। अलौकिक 'पूर्व अम् भूत सु' ये विग्रह दिये गये हैं।

भूतपूर्व :—(जो पहिले हुआ हो) यहाँ 'पूर्वं भूतः' इस लौकिक, 'पूर्व अम् भूत सु' इस अलौकिक विग्रह में 'सह सुपा' सूत्र से पूर्वम् सुवन्त का भूतः सुवन्त के साथ समास हुआ, समास होने से "कृत्तद्धित समासाश्च" इस सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा हुई, प्रातिपदिक संज्ञा होने से 'सुपो धातु प्रातिपदिकयोः) सूत्र से अम् और सु का लोप हुआ। तब पूर्वभूत यह प्रातिपादिक बना। **"भूतपूर्वे चरट्"** इस पाणिनि सूत्र के प्रमाण से भूत शब्द का पूर्व प्रयोग किया गया इस प्रकार भूतपूर्व इस प्रातिपदिक से प्रथमा एक वचन में भूतपूर्वः यह रूप सिद्ध हुआ।

वार्तिक—इव के साथ सुवन्त का समास हो और विभक्ति का लोप न हो।

वागर्थाविव—वागर्थौ इव इस लौकिक विग्रह तथा 'वागर्थं औ इव' इस अलौकिक विग्रह में प्रकृत वार्तिक से समास हुआ, विभक्ति के लोप का निषेध होकर वागर्थाविव यह रूप बना।

समास विधि के मुख्यतया तीन फल होते हैं, एक पद बन जाना, विभक्ति का लोप होना, ३ एक स्वर होना। प्रस्तुत उदाहरण में विभक्ति लोप न होने से केवल दो ही फल हैं।

उपर्युक्त पञ्च समासों में बहुव्रीहि और द्वन्द्व समास अनेक पदों में भी होते हैं, शेष समास प्रायः दो पदों में होते हैं। एक दो स्थलों में तत्पुरुष समास में भी दो से अधिक पद देखें जाते हैं।

इति केवल समास

अथ अव्ययीभावः

अव्ययीभावः ।२।१।५।।

अधिकारोऽयं प्राक् तत्पुरुषात् ।

अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासंप्रतिशब्द प्रादुर्भाव-पश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसंपत्तिसाकल्यान्तवचनेषु ।२।१।३।।

विभक्त्यर्थादिषु वर्तमानमव्ययं सुबन्तेन सह नित्यं समस्यते । सोऽव्ययीभावः । प्रायेणा विग्रहो नित्यसमासः । प्रायेणास्वपदविग्रहो वा । विभक्तौ—हरि ङिः अधि इति स्थिते ।

अव्ययीभाव इति—'अव्ययीभावः' इस सूत्र का तत्पुरुष के पूर्व तक अधिकार है अर्थात् 'तत्पुरुषः' इस सूत्र तक के पूर्व सूत्रों के द्वारा जो समास किया जायेगा वह अव्ययीभाव कहलायेगा ।

अव्ययमिति—विभक्ति, १ समीप, २ समृद्धि, ३ व्यृद्धि ४ (ऋद्धि का न होना) अर्थ ५ (वस्तु) का अभाव, अत्यय (ध्वंस) ६, असंप्रति (अनुचित ७, शब्द की अभिव्यक्ति ८, पश्चात् ९, यथा १०, अनुक्रम, ११, यौग पद्य (एक साथ होना) १२, सादृश्य १३, सम्पत्ति १४, साकल्य (सम्पूर्णता १५ तथा अन्त १६ इन अर्थों में वर्तमान अव्यय का सुवन्त के साथ नित्य समास होता है और वह अव्ययीभाव समास कहलाता है ।

प्रायेणेति—नित्य समास वह है जिसका प्रायः विग्रह न हो, अथवा नित्य समास वह है जिसका प्रायः अपने पदों के साथ विग्रह न हो (न विग्रहः यस्मिन् सोऽविग्रहः अथवा न स्वपदेन विग्रहो यस्य सोऽविग्रहः) तात्पर्य यह कि नित्य मास का अपने पदों के साथ लौकिक विग्रह नहीं होता, अलौकिक विग्रह ही होता है, जैसा कि नीचे के उदाहरणों द्वारा स्पष्ट है ।

प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् ।१।२।४३।।

समासशास्त्रे प्रथमानिर्ष्टिमुपसर्जन संज्ञं स्यात् ।

उपसर्जनं पूर्वम् ।२।२।३०।।

समासे उपसर्जनं प्राक् प्रयोज्यम् । इत्यधेः प्राक् प्रयोगः, सुपो लुक् ।

एकदेश विकृतस्यानन्यत्वात् प्रातिपदिक संज्ञायां स्वाद्युत्पत्तिः । अव्ययी-भावश्चेत्य व्ययत्वात्सुपो लुक् । अधि हरि ।

विभक्ताविति:—विभक्ति के अर्थ में, यहाँ सप्तमी के अर्थ में अधि अव्यय है । इसका लौकिक विग्रह है 'हरौ' इसमें अधि नहीं आता है पर अलौकिक विग्रह "हरि ङि अधि" में अधि आता है अतः विग्रह पद से नित्य समास में लौकिक विग्रह लेना चाहिए इसमें समास का एक अवयव आता है दोनों पद नहीं, अतएव यह अस्वपद विग्रह कहा जाता है ।

अधिहरिः—यहाँ लौकिक विग्रह 'हरौ' तथा 'हरि ङि अधि' इस अलौकिक विग्रह में अव्यय विभक्तीत्यादि सूत्र से विभत्त्यर्थ में समास हुआ ।

प्रथमेति—समास शास्त्र में अर्थात् समास विधायक सूत्र में जो पद प्रथमान्त हो उस पद के द्वारा विग्रह में जिस पद का बोध हो वह उपसर्जन संज्ञक हो ।

यथा प्रकृत में समासविधायक सूत्र है 'अव्ययंविभक्तीत्यादि' इसमें प्रथमान्त है, 'अव्ययम्' इस के द्वारा 'हरि ङि अधि' इस अलौकिक विग्रह में बोध्य पद है—'अधि' अतः 'अधि' की उपसर्जन संज्ञा होगी ।

उपसर्जनमितिः—समास में उपसर्जन संज्ञक का पूर्व प्रयोग हो ।

यथा प्रकृत में उपसर्जन संज्ञा 'अधि' की है, अतः उसका ही पूर्व प्रयोग होगा ।

अधि का पूर्वनिपात करने पर 'अधि हरि ङि' इस स्थिति में—

सुपो लुक्—समास होने पर 'सुपोधातु प्रातिपदिकयोः' सूत्र से विभक्ति का लोप होता है ।

(इस कथन से उक्त उदाहरण में 'ङि' विभक्ति का लोप होकर 'अधि हरि' यह स्थिति हुई)

एकदेशेतिः—जिसका एकदेश विकृत हो जाता है, वह अन्य नहीं हो जाता । (यहाँ 'देश' का अर्थ है—अवयव—अंश या भाग । यदि किसी वस्तु का एक अंश विकृत भी हो जाय तो भी वह अन्य नहीं हो जाती, जिस प्रकार एक हाथ कट जाने पर भी मनुष्य, मनुष्य ही रहता है अन्य नहीं हो जाता) इस न्याय से सिद्ध होने वाली प्रातिपदिक संज्ञा का फल है, उसके आगे सु आदि विभक्तियों का होना ।

इस एकदेश विकृत न्याय' से यद्यपि 'ङि' का लोप हो जाने पर यहाँ प्राति-

अव्ययी भावश्च ।२।४।१८।।

अयं नपुंसकं स्यात् ।

नाव्ययीभावादतोऽम्त्व पञ्चभ्याः ।२।४।८३ ।।

अदन्तादव्ययीभावात् सुपोन लुक्, तस्य तु पञ्चमीं विना अमादेशश्च स्यात् । गाः पातीति गोपास्तस्मिन्नित्यधि गोपम् ।

तृतीया सप्तभ्योर्वहुलम् ।२।४।८४।।

पदिक संज्ञा विकृत हो गई है, तथापि वह अन्य नहीं, अतः अधि हरि में प्रातिपदिक संज्ञा बनी रहेगी, फलतः उसके आगे 'सु' प्रत्यय आयेगा ।

अव्ययीभावश्चेति—'अव्ययीभावश्च' इस सूत्र से अव्ययीभाव होने के कारण अव्यय संज्ञा हुई, और इसीलिए पुनः समस्त पद से आये हुये सु आदि अव्ययों का 'अव्ययादाप्सुपः' सूत्र से लोप हुआ ।

प्रकृत में 'अधिहरि' इस समस्त पद से 'एक देशविकृतन्याय' से आये हुये सु अव्यय के साथ 'अधिहरि सु' इस स्थिति में 'अव्ययीभावश्च' इस सूत्र से उसकी अव्ययीभाव संज्ञा होकर 'अव्ययादाप्सुपः' सूत्र से 'सु' का लोप होने पर 'अधिहरि' यह रूप सिद्ध हुआ ।

अव्ययीभावश्च—यह अर्थात् अव्ययीभाव समास नपुंसकलिङ्ग हो ।

नाव्ययीभावादिति—ह्रस्व अकारान्त अव्ययीभाव से परे सुप का लोप नहीं होता, तथा पञ्चमी विभक्ति को छोड़कर उसको अम् आदेश होता है ।

अधिगोपम्—गाः पाति इति गोपाः—(गायों का पालन करने वाला) 'गोपि' इति अधिगोपम् इस लौकिक विग्रह में, 'गोपा ङि अधि' इस अलौकिक विग्रह में "अव्ययं विभक्तीत्यादि सूत्र से विभत्त्यर्थ में समास, प्रथमानिर्दिष्टम् सूत्र से, 'अव्ययम्' इस प्रथमान्त पद से बोध्य विग्रह में स्थित 'अधि' की उपसर्जन संज्ञा, उपसर्जनं पूर्वम्, सूत्र से 'अधि' का पूर्वनिपात्, 'अधिगोपा ङि' इस स्थिति में समास होने से प्रातिपदिक संज्ञा, 'सुपो धातु प्रातिपदिकयोः' से विभक्ति लोप, पुनः एकदेश विकृत न्याय से 'अधिगोपा' इस समस्त पद से प्रथमैकवचन में पुनः सु प्रत्यय, 'अधिगोपा' सु इस स्थिति में 'अव्ययीभावश्च' इस सूत्र से नपुंसक लिङ्ग हुआ, फलतः 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इस सूत्र से 'पा' के आकार को ह्रस्व, अधिगोप+सु इस स्थिति में 'अव्ययीभावश्च' सूत्र से अव्यय संज्ञा होकर सु का लोप प्राप्त हुआ" नाव्ययीभावादिति सूत्र से सुलोप का निषेध और प्रथमा विभक्ति में उसको अम् आदेश होकर 'अधिगोपम्' रूप बनता है ।

तृतीयेति—ह्रस्वाकारान्त अव्ययीभाव से परे तृतीया व सप्तमी को बहुलता से (विकल्प से) अम् आदेश होता है ।

अदन्ता दव्ययीभावात् तृतीया सप्तम्यो र्बहुलमम्भावः स्यात् । अधिगोपम्, अधिगोपेन, अधिगोपे वा । कृष्णस्य समीपम् उपकृष्णम् उपकृष्णेन । मद्राणां समृद्धिः सुमद्रम् । यवनानां व्यृद्धिः दुर्यवनम् । मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम् । हिमस्यात्ययोऽतिहिमम् । निद्रा सम्प्रति न युज्यते इत्यतिनिद्रम् । हरिशब्दस्य प्रकाश 'इति हरि,' विष्णोः पश्चादनु विष्णु । योग्यता वीप्सा पदार्थानति वृत्ति सादृश्यानि यथार्थाः । रूपस्य योग्य मनुरूपम् । अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम् । शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति ।

इस प्रकार अकारान्त अव्ययीभाव समास से परे तृतीया और सप्तमी विभक्तियों को भी अम् आदेश विकल्प से होगा अतः अधिगोप इस अकारान्त अव्ययी भाव के प्र० में अधिगोपम्, द्वि० में अधिगोपम्, तृ० में अधिगोपेन-अधिगोपम्, च० में अधिगोपम्, पञ्चमी में अधिगोपात्, षष्ठी में अधिगोपम्, स० में अधिगोपे-अधिगोपम्, रूप बनेंगे । तात्पर्य यह कि अकारान्त अव्ययीभाव समास वाले शब्द के पञ्चमी विभक्ति में ही विभक्त्यन्त रूप बनते हैं, तृतीया व सप्तमी में विकल्प से, तथा शेष विभक्तियों में अमादेश हो जाने से विभक्त्यन्त रूप नहीं बनते ।

कृष्णस्य समीपम् **उपकृष्णम्** इस लौकिक विग्रह में तथा 'कृष्ण ङस् उप' इस अलौकिक विग्रह में 'अव्ययं विभक्तिसमीपेत्यादि सूत्र से समीपार्थ में समास, उपसर्जन संज्ञा, उप का पूर्वनिपात, 'उप-कृष्ण ङस्' इस स्थिति में समासत्वात् प्रातिपदिक संज्ञा 'सुपोधातु प्रातिपदिकयोः' विभक्ति लोप, पुनः एकदेश विकृत न्याय से प्रातिपदिकत्वेन प्र० एक में सु प्रत्यय, 'अव्ययी भावश्च' से नपुंसक लिङ्ग, नाव्ययीभावादिति से सु को अमादेश होकर उपकृष्णम्, तृतीयेति से तृतीया व सप्तमी में विकल्प से अमादेश होकर **उपकृष्णम्—उपकृष्णेन, उपकृणष्म्-उपकृष्णे** । शेष विभक्तियों में **उपकृष्णम्** रूप बनेंगे ।

(अव्ययीभाव समास के शेष अकारान्त उदाहरणों में भी यही प्रक्रिया रहेगी, इकारान्त उकारान्त आदि अव्ययीभाव समास वाले शब्दों के आगे सु प्रत्यय की अव्ययीभाव संज्ञा होने से **'अव्ययादाप्सुपः'** से उनका लोप हो जायेगा तथा शेष विभक्तियों में भी उनके वैसे ही रूप बनेंगे) ।

'मद्रणां समृद्धिः **सुमद्रम्**' इस लौकिक विग्रह तथा 'मद्र आम् सु' इस अलौकिक विग्रह में 'अव्ययं विभक्तीत्यादि सूत्र से समृद्धि अर्थ में सु इस अव्यय का मद्र शब्द के साथ समास, पूर्व प्रयोग, विभक्ति लोप, पुनः प्रातिपदिकत्वेन 'सु' अदन्त होने से अमादेश 'सुमद्रम्' रूप सिद्ध होता है ।

यवनानां व्यृद्धिः **दुर्यवनम्** (यवनों की दुर्दशा) यहाँ व्यृद्धि अर्थ में दुर् अव्यय का यवन शब्द के साथ 'यवन आम् दुर्' इस विग्रह में समास, शेष कार्य पूर्ववत् होकर 'दुर्यवनम्' रूप बनेगा ।

अव्ययीभावे चाऽकाले ।६।३।८१।।

सहस्य सः स्यादव्ययीभावे न तु काले। हरेः सादृश्यं स हरि । ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येण

मक्षिकाणाम भावः **निर्मक्षिकम्** (मक्खियों का अभाव) मक्षिका आम् निर् इस विग्रह में 'अव्ययम्' सूत्र से, अर्थ (वस्तु का अभाव) में निर् अव्यय का मक्षिका सुवन्त के साथ समास, शेष कार्य पूर्ववत्, नपुंसक होने से ह्रस्व होकर निर्मक्षिकम् ।

हिमस्य अत्ययः **अतिहिमम्** (वर्फ की समाप्ति) यहाँ अत्यय अर्थात् विनाश अर्थ में अति अव्यय का हिम सुवन्त के साथ 'हिम ङस् अति' इस विग्रह में समास, शेष कार्य पूर्ववत् 'अतिहिमम्' ।

निद्रा संप्रति न युज्यते इति **अतिनिद्रम्** (निद्रा इस समय उचित नहीं) यहाँ असंप्रति (अनौचित्य) अर्थ में अति अव्यय का निद्रा सुवन्त के साथ समास, शेष कार्य पूर्ववत्, नपुंसक लिङ्ग, ह्रस्व होकर 'अतिनिद्रम्' रूप बनता है ।

हरिशब्दस्य प्रकाशः **'इतिहरि'** (हरि शब्द का उच्चारण) यहाँ शब्द प्रादुर्भाव (प्रकट करना) अर्थ में इति अव्यय का हरि सुवन्त के साथ समास, शेष कार्य, 'अव्ययी-भावश्च । अव्यय संज्ञा, सुलोप होकर इतिहरि शब्द बनता है ।

विष्णोः पश्चात् **अनुविष्णु** (विष्णु के बाद) यहाँ पश्चात् अर्थ में अनु अव्यय का विष्णु सुवन्त के साथ (विष्णु ङस् अनु) समास शेष कार्य, अव्यय संज्ञा, सुलोप होकर 'अनुविष्णु ।'

योग्यतेति—यथा शब्द के चार अर्थ हैं—योग्यता, वीप्सा, पदार्थानतिवृत्ति, सादृश्य, इन चारों अर्थों में वर्तमान अव्यय का सुवन्त के साथ 'अव्ययम्' सूत्र से समास होता है ।

रूपस्य योग्यम् **अनुरूपम्** (रूप के योग्य) यहाँ योग्यता अर्थ में अनु अव्यय का रूप सुवन्त के साथ (रूप ङस् अनु) समास, शेष कार्य, नपुंसक लिङ्ग, अमादेश होकर 'अनुरूपम्' ।

अर्थम्-अर्थम् प्रति **प्रत्यर्थम्** (प्रत्येक अर्थ में) यहाँ वीप्सा (वार वार-होना) अर्थ में प्रति का अर्थ के साथ (अर्थ अम् प्रति) समास, शेष कार्य पूर्ववत् होकर 'प्रत्यर्थम् ।'

शक्ति मनतिक्रम्य **यथाशक्ति** (शक्ति का अतिक्रमण न करके अर्थात् शक्ति के अनुसार) यहाँ पदार्थानतिवृत्ति (वस्तु का अतिक्रमण न करना) अर्थ में अति अव्यय का शक्ति सुवन्त के साथ 'शक्ति ङस् अति) समास, शेष कार्य, अव्यय संज्ञा, सुलोप, 'यथाशक्ति' ।

अव्ययीभावे इति—अव्ययीभाव समास में सह को स आदेश होता है, काल-वाची उत्तर पद परे रहते नहीं ।

हरेः सादृश्यम् **सहरि** (हरिका सादृश्य) यहाँ सादृश्य अर्थ में सह अव्यय का

इति-अनुज्येष्ठम् । चक्रेण युगपत्-सचक्रम् । सदृशः सख्या ससखि । क्षत्राणां सम्पत्तिः सक्षत्रम् । तृणमप्यपरित्यज्य-सतृणमत्ति । अग्नि ग्रन्थ पर्यन्त मधीते साग्नि ।

नदीभिश्च ।२।१।२०।।

नदीभिः सह संख्या समस्यते ।

(वा) समाहारे चायमिष्यते । पञ्चगङ्गम् । द्वियमुनम् ।

हरि के साथ (हरि टा सह) समास, शेष कार्य, नाव्ययीभावे सूत्र से सह को स आदेश, अव्यय संज्ञा सुलोप 'सहरि' ।

ज्येष्ठस्य आनुपूर्व्येण इति **अनुज्येष्ठम्** (ज्येष्ठ के क्रम के अनुसार) यहाँ आनुपूर्व्य अर्थ में अनु का ज्येष्ठ के साथ (ज्येष्ठ ङस् अनु) समास, शेष कार्य, नपुंसक, अम् 'अनुज्येष्ठम्' ।

चक्रेण युगपत् **सचक्रम्** (चक्र के साथ) यहाँ युगपद् (एक साथ) अर्थ में सह का चक्र के साथ (चक्र टा सह) समास शेष कार्य, सह को स आदेश, नपुंसक, अम् "सचक्रम्' ।

सदृशः सख्या **ससखि** (सखा के तुल्य) यहाँ सादृश्य (समानता) अर्थ में सह का सखि के साथ (सखि टा सह) समास, शेष कार्य, नाव्ययीभावे से सह को स आदेश, अव्यय संज्ञा, सुलोप, 'ससखि' ।

क्षत्राणां सम्पत्तिः **सक्षत्रम्** (क्षत्रियों की सम्पत्तिः) यहाँ सम्पत्ति अर्थ में सह का क्षत्र के साथ (क्षत्र भिस् सह) समास, शेष कार्य, नाव्ययीभावे से स आदेश, नपुंसक, अमादेश, 'सक्षत्रम्' ।

तृणम् अपि अपरित्यज्य **सतृणम्** (तिन के को भी न छोड़कर अर्थात् सब का सब अत्ति-खाता है) यहाँ साकल्य (सम्पूर्णता) अर्थ में सह का तृण के साथ (तृण टा सह) समास शेष कार्य, स आदेश, नपुंसक, अमादेश होकर 'सतृणम्' ।

अग्नि ग्रन्थ पर्यन्तमधीते-**साग्नि** (अग्नि सम्बन्धी ग्रन्थ तक पढ़ता है) यहाँ अन्त (पर्यन्त) अर्थ में सह का अग्नि के साथ समास, शेष कार्य, सादेश, अव्यय संज्ञा, सुलोप, 'साग्नि' ।

नदीभिश्चेति—नदी विशेष वाचक शब्दों के साथ संख्या वाचक शब्दों का समास हो ।

(वार्तिक) यह समास समाहार में इष्ट है अर्थात् नदी विशेष वाचक शब्दों के साथ संख्यावाचक शब्दों का समास होने पर समस्त पद समाहार (समूह) का बोधक हो ।

पञ्चगङ्गम्—पञ्चानां गङ्गानां समाहारः (पाँच गङ्गाओं का समूह) पञ्चन् जस् गङ्गा जस् इस विग्रह में नदी विशेष गङ्गा शब्द के साथ पञ्चन् इस संख्या वाचक शब्द

तद्धिताः ।४।१।७६।।

आपञ्चम समाप्तेरधिकारोऽयम् ।

अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ।५।४।१०७।।

शरदादिभ्यष्टच् स्यात् समासान्तोऽव्ययीभावे । शरदः समीपम् उपशरदम् । प्रतिविपाशम् ।

(जराया जरश्च) उपजरसम्, इत्यादि ।

का प्रकृत सूत्र से समास, संख्या के प्रथमानिर्दिष्ट होने से पञ्चन् की उपसर्जन संज्ञा, पूर्वनिपात, 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' सूत्र से न लोप । अव्ययीभावत्वात् नपुंसक, ह्रस्व, पञ्चगङ्ग से सु, उसको अमादेश होकर, पञ्चगङ्गम् रूप बनता है ।

द्वियमुनम्—(द्वयोः यमुनयोः समाहारः) दो यमुनाओं का समूह, यहाँ भी सब कार्य पूर्ववत् होकर 'द्वियमुनम्' रूप बनेगा ।

तद्धिता इति—पञ्चम अध्याय की समाप्ति तक तद्धित का अधिकार है, अर्थात् इस सूत्र से पञ्चमाध्यय तक के पूर्व सूत्रों का कार्य तद्धित कार्य कहा जायेगा ।

अव्ययीभावे इति—अव्ययीभाव समास में शरत् आदि शब्दों से समासान्त टच् प्रत्यय हो ।

टच् प्रत्यय का 'अ' शेष रहता है, ये प्रत्यय समस्त पद के अन्त में होने के कारण समासान्त कहलाते हैं । ये तद्धित प्रकरण के अन्तर्गत 'तद्धिताः' इस अधिकार सूत्र के अनुसार, माने जायेंगे । अतः समासान्त प्रत्ययों के होने पर 'कृत्तद्धित समासाश्च' सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा होकर सु आदि प्रत्यय आयेंगे) ।

उपशरदम्—शरदः समीपम् उपशरदम् (शरद् के समीप) 'शरद् ङस् उप' इस विग्रह में 'अव्ययं विभक्तीत्यादि' सूत्र से समीपार्थ में समास, उप का पूर्व प्रयोग, विभक्ति लोप, उपशरत्, शब्द से 'अव्ययीभावे शरदिति' सूत्र से टच् (अ) प्रत्यय, उपशरत्+अ=उपशरद शब्द से सु प्रत्यय, अकारान्त अव्ययीभाव होने से अमादेश "उपशरदम्' ।

विपाशाया अभिमुखम् **प्रतिविपाशम्**—(विपाशा नदी की ओर) यहाँ **'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये'** इस सूत्र से प्रति अव्यय का विपाश् इस नदी विशेष वाचक शब्द के साथ समास, पूर्व निपातादि कार्य, प्रतिविपाश् से टच्, पूर्वोक्त प्रकार से प्रति-विपाशम् रूप सिद्ध होता है ।

(विपाश् शब्द नदी विशेष का वाचक है, 'विपाशा तु विपाट् स्त्रियाम् इत्यमरः')

जराया इति—जरा शब्द को जरस्, आदेश होता है । और समासान्त टच् प्रत्यय होता है ।

जरायाः समीपम्—**उपजरसम्**—(बुढ़ापे के पास) यहाँ 'जरा ङस् उप' इस

अनश्च ।५।४।१०८।।

अन्नन्तादव्ययी भावाद् टच् स्यात् ।

नस्तद्धिते ।६।४।१४४।।

नान्तस्य भस्य टेर्लोपः स्यात् तद्धिते । उपराजम् । अध्यात्मम् ।

नपुंसका दन्यतर स्याम् ।५।४।१०९।।

अन्नन्तं यत् क्लीवं तदन्तादव्ययीभावाट्टज्वा स्यात् । उपचर्मम्, उपचर्म ।

विग्रह में, 'अव्ययम्' सूत्र से समीपार्थ में समास पूर्वनिपात, विभक्ति लोप, प्रकृत सूत्र से जरा को जरस् आदेश, और इसी से टच् प्रत्यय होकर उपजरस इस अकारान्त अव्ययीभाव से सु, नपुंसक, अमादेश होकर 'उपजरसम्' सिद्ध होता है।

अनश्चेति—अन् अन्त वाले अव्ययीभाव समास के शब्दों से टच् प्रत्यय हो।

नस्तद्धिते इति—नकारान्त भ संज्ञक टि का लोप हो तद्धित प्रत्यय परे रहते।

उपराजम्—राज्ञः समीपम् (राजा के पास) 'राजन् ङस् उप' इस विग्रह में 'अव्ययम्' सूत्र से समास, पूर्व प्रयोगादिकार्य, उपराजन् शब्द से 'अनश्च' सूत्र से टच् प्रत्यय 'नस्तद्धिते' सूत्र से 'अन्' इस 'टि' का लोप, उपराज्+अ=उपराज इस अकारान्त से सु, उसका अम् आदेश होकर 'उपराजम्' रूप बनता है। ✓

('टि' तथा 'भ' ये पाणिनीय संज्ञायें हैं। "अचोऽन्त्यादिटि" सूत्र के अनुसार किसी शब्द के अन्तिम स्वर सहित आगे वाला समस्त भाग 'टि' संज्ञक होता है, जैसे राजन् में अन्तिम स्वर 'अ' सहित समस्त भाग 'अन् की 'टि' संज्ञा होती है। 'यचि भम्' इस सूत्र से यकारादि और अजादि प्रत्यय आगे रहने पर पहिले की 'भ' संज्ञा होती है, टच् का 'अ' अजादि प्रत्यय है अतः यहाँ पूर्व की भ संज्ञा होती है अतः 'अन्' यह भ संज्ञक टि है।)

अध्यात्मम्—(आत्मनि अधि) आत्मा के विषय में 'आत्मन् ङि अधि' इस विग्रह में विभक्त्यर्थ में समास, पूर्ववत् शेष कार्य अध्यात्मन्+टच्, टि लोप, अमादेश 'अध्यात्मम्।'

नपुंसकादिति—अन् अन्त वाला जो नपुंसक लिङ्ग शब्द तदन्त अव्ययीभाव से टच् विकल्प से हो।

उपचर्मम् (चर्मणः समीपम्-चर्म के समीप) यहाँ 'चर्मन् ङस् उप' इस विग्रह में समीपार्थ में समास, शेष कार्य, उपचर्मन् इस अन्नन्त नपुंसक लिङ्ग अव्ययीभाव से टच् प्रत्यय, 'अन्' इस 'टि' का लोप होकर उपचर्मम्, जहाँ टच् प्रत्यय न होगा वहाँ उपचर्मन् से न लोप होकर 'उपचर्म' बनेगा।

झयः ।५।४।१११।।

झयन्तादव्ययीभावाट्टज्वा स्यात् । उपसमिधम्' उपसमित् ।

इत्यव्ययीभाव समासः ।।द्वितीयः।।

झय, इति—झय्, 'प्रत्याहार' अन्त वाले अव्ययीभाव से टच् प्रत्यय विकल्प से हो।

उपसमिधम्—(समिधः समीपम्-समिधा के समीप) 'समिध् ङस् उप' इस विग्रह में पूर्ववत् समासादि कार्य होकर उपसमिध् शब्द से झयः सूत्र से टच् प्रत्यय उपसमिध्+अ=उपसमिध' से सु, अकारान्त होने से अमादेश होकर 'उपसमिधम्' टच् के अभाव पक्ष में उपसमिध् ऐसा धकारान्त नपुंसक शब्द रहता है, प्र० एक वचन में तकार होकर 'उपसमित्' रूप वनता है।

इति अव्ययी भाव समास

अथ तत्पुरुष समासः

तत्पुरुषः ।२।१।२२।।

अधिकारोऽयं प्राग्बहुव्रीहेः ।

द्विगुश्च । द्विगुरपि तत्पुरुष संज्ञकः स्यात् ।

द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्त प्राप्तापन्नैः ।२।१।२४।।

द्वितीयान्तं श्रितादिप्रकृतिकैः सुबन्तैः सह वा समस्यते । स च तत्पुरुषः । कृष्णं श्रितः कृष्णश्रितः । इत्यादि ।

तत्पुरुष इति—बहुव्रीहि से पूर्व तक तत्पुरुष का अधिकार है अर्थात् 'तत्पुरुषः' से लेकर 'शेषो बहुव्रीहिः' तक के सूत्रों से किया गया समास तत्पुरुष कहलायेगा।

द्विगुरिति—द्विगु समास भी तत्पुरुष संज्ञक हो। (इस तत्पुरुष संज्ञा करने का फल है, द्विगु समास में भी समासान्त विधि आदि का होना)

द्वितीयेति—द्वितीयान्त सुवन्त का श्रित, अतीत, पतित, गत तथा अत्यस्त (फेंका हुआ) प्राप्त और आपन्न प्रातिपदिकों से वने सुवन्तों के साथ समास हो और वह समास तत्पुरुष संज्ञक हो।

कृष्णश्रितः—कृष्णम् श्रितः—(कृष्ण के आश्रित) 'कृष्ण अम् श्रित सु' इस अलौकिक विग्रह में द्वितीयान्त कृष्णम् का श्रित प्रातिपदिक से वने 'श्रितः' इस सुवन्त के साथ समास हुआ। समास शास्त्र—द्वितीयेत्यादि सूत्र में द्वितीया इस प्रथमान्त से वोध्य 'कृष्णम्' पद की उपसर्जन संज्ञा उसका पूर्वनिपात, फिर प्रातिपदिक संज्ञा, विभक्ति लोप, 'कृष्णश्रित' इस समस्त प्रातिपदिक से एक देश विकृत न्याय से प्रातिपदिक होने से सु प्रत्यय, रुत्व विसर्ग, प्र० एक वचन में 'कृष्णश्रितः' रूप वनता है।

तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन ।२।१।३०।।

तृतीयान्तं तृतीयान्तार्थकृतगुणवचनेनार्थशब्देन च सह वा प्राग्वत् । शङ्कुलया खण्डः—शङ्कुलाखण्डः । धान्येनार्थः धान्यार्थः । तत्कृतेति किम्—अक्षणा काणः ।

(इसी प्रकार सूत्र पठित अन्य सुवन्तों के साथ समास करने पर "दुःखमतीतः—**दुःखातीतः**,—नरकं पतितः—**नरकपतितः**—स्वर्गं गतः—**स्वर्गगतः**, कूपम् अत्यस्तः—**कूपात्यस्तः**, सुखं प्राप्तः—**सुखप्राप्तः**, संकटम् आपन्नः—**संकटापन्नः**" समस्त शब्द बनेंगे ।

(कहा जा चुका है कि तत्पुरुष समास का उत्तर पद प्रधान होता है क्योंकि उसी का क्रिया पद के साथ अन्वय सम्भव होता है । अतः इस समास के दोनों पदों में से प्रथम पद में प्रथमा विभक्ति को छोड़कर द्वितीया से सप्तमी तक कोई भी विभक्ति आ सकती है, अतः जो विभक्ति पूर्व पद में आयेगी, उसी के अनुसार यह समास द्वितीया तत्पुरुष, तृतीया तत्पुरुष आदि कहा जायेगा । उत्तर पदार्थ प्रधान होने के कारण, क्रिया में अन्वित होने से अर्थानुसार उसमें विभक्ति रहती है, वैसे तो उत्तर पद में प्रायः प्रथमा विभक्ति ही देखी जाती है । इस सब का कारण यह है कि तत्पुरुष समास दो प्रकार का होता है—समानाधिकरण—जिसमें दोनों ही पदों में समान विभक्तियाँ रहती हैं अर्थात् प्रथमा विभक्ति रहती है, इसीलिये कर्मधारय तथा द्विगु समास जो कि तत्पुरुष के ही भेद हैं समानाधिकरण तत्पुरुष कहलाते हैं, क्योंकि इनमें दोनों पदों में समान विभक्तियाँ रहती हैं । इसका दूसरा प्रकार है—व्यधिकरण—अर्थात् जिसमें समान विभक्तियाँ न हों, इसीलिए व्यधिकरण तत्पुरुष में पूर्व पद में द्वितीया से सप्तमी तक कोई विभक्ति होती है और उत्तर पद में प्रथमा रहती है ।)

तृतीयेति—तृतीयान्त सुवन्त का, तृतीयान्त के अर्थ से किये गये गुणवाचक शब्द के तथा अर्थ शब्द के साथ समास हो विकल्प से ।

शङ्कुलाखण्डः—(सरौते से किया गया टुकड़ा) शङ्कुलया खण्डः, यहाँ उत्तर पद गुणवाचक है (खण्डित की गई वस्तु से तात्पर्य नहीं, अपितु खण्ड इस गुणवाचक पद से तात्पर्य है) यहाँ तृतीयान्त का अर्थ शङ्कुला (सरौता है) इसी तृतीयान्तार्थ से किया गया यह गुण वाचक शब्द खण्ड है, अतएव 'शङ्कुला टा खण्ड सु' इस विग्रह में तृतीयेति सूत्र से समास, सुप् लोप, शङ्कुलाखण्ड इस प्रातिपदिक से उक्त रूप बनता है ।

धान्यार्थः—धान्येन अर्थः—(धान्य से प्रयोजन) 'धान्य टा अर्थ सु,' समास, सुप् लोप 'धन्यार्थः' रूप सिद्ध होता है ।

तत्कृतेति किमिति—सूत्र में तत्कृत (तृतीयान्तार्थ से कृत गुण वाचक) के साथ समास होता है अतः—

कर्तृकरणे कृता बहुलम् ।२।१।३२।।

कर्तरि करणे च तृतीया कृदन्तेन बहुलं प्राग्वत् । हरिणा त्रातः—हरित्रातः । नखै भिन्नः—नखभिन्नः ।

(प०) कृद्ग्रहणे गति कारक पूर्वस्यापि ग्रहणम् । नखनिर्भिन्नः ।

चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः ।२।१।३३।।

चतुर्थ्यन्तार्थाय यत् तद्वाचिना अर्थादिभ्यश्च चतुर्थ्यन्तं वा प्राग्वत् । यूपाय दारु—यूपदारु । तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एवेष्टः, तेनेह न—रन्धनाय स्थाली ।

अक्ष्णा काणः—(आँख से काना) यहाँ समास नहीं होता क्योंकि कानापन आँख के द्वारा किया हुआ नहीं है ।

कर्तृकरणे इतिः—कर्त्ता और करण में जो तृतीया तदन्त पद का कृदन्त के साथ बहुलतया समास हो ।

हरित्रातः—हरिणा त्रातः (हरि के द्वारा रक्षित) "हरि टा त्रात सु" इस विग्रह में कर्तरि तृतीयान्त हरिणा का त्रातः इस सुबन्त के साथ समास होकर शेष कार्य पूर्ववत् होंगे ।

नखभिन्नः—(नखैः भिन्नः—नखों से काटा हुआ, 'नख भिस् भिन्न सु' इस विग्रह में समास, शेष कार्य पूर्ववत् । यहाँ करण में तृतीया विभक्ति है ।

कृद्ग्रहण, इतिः—कृदन्त के ग्रहण में गति और कारक पूर्वक कृदन्त का भी ग्रहण होता है । अर्थात् जो कार्य कृदन्त को कहा गया है, वह गति (प्र परा आदि उपसर्ग) तथा कर्म आदि कारक पूर्वक कृदन्त को भी हो, इसका फल यह होता है कि तृतीयान्त शब्द का निर् इस गति संज्ञकपूर्वक भिन्न शब्द के साथ भी समास होता है, अतः नखभिन्नः की तरह **'नखनिर्भिन्नः'** यह रूप भी बनता है ।

चतुर्थीति—चतुर्थ्यन्त के अर्थ के लिये जो वस्तु हो, उसके वाचक पद के साथ, तथा अर्थ (के लिये) बलि, हित, सुख और रक्षित शब्दों के साथ, चतुर्थ्यन्त का समास हो ।

यूपदारु—यपाय दारु (यज्ञ स्तम्भ के लिये लकड़ी) यहाँ चतुथ्यन्त के अर्थ-यूप के लिये दारु-लकड़ी है अतः 'यूप ङे. दारु सु' इस विग्रह में समास तथा शेष कार्य होकर "यूपदारु" रूप बनता है ।

तदर्थेनेति—सूत्र गत तदर्थेन पद का अभिप्राय है, प्रकृति का विकृति भाव अर्थात् चतुर्थ्यन्त का अर्थ विकृति तथा उत्तर पद का अर्थ प्रकृति होना चाहिए, उसी दशा में इस सूत्र से समास होगा अन्यथा नहीं ।

तेनेति—इस कारण यहाँ समास नहीं होता—रन्धनाय स्थाली (राँधने के लिये डेगची) यहाँ स्थाली और रन्धन में प्रकृति-विकृति भाव नहीं है—स्थाली की विकृति रन्धन नहीं है ।

(वा) अर्थेन नित्य समासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम् ।

द्विजार्थः सूपः, द्विजार्था यवागुः, द्विजार्थं पयः । भूतवलिः । गोहितम् । गोसुखम् । गोरक्षितम् ।

पञ्चमी भयेन । २।१।३७।।

चौराद्भयं चौरभयम् ।

स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन ।२।१।३९।।

पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः ।६।३।२।।

अलुग् उत्तरपदे । स्तोकान्मुक्तः । अन्तिकादागतः । अभ्याशादागतः । दूरादागतः । कृच्छ्रादागतः ।

(वार्तिक) **अर्थेनेति**—अर्थ शब्द के साथ नित्य समास होता है और समस्त पद का लिङ्ग विशेष्य के अनुसार होता है ।

द्विजार्थः सूपः—द्विजाय अयम् (ब्राह्मण के लिये यह दाल) (नित्य समास होने के कारण यहाँ अस्त्रपद-विग्रह है) 'द्विज ङे अर्थ सु' इस विग्रह में वार्तिक से समास, द्विजार्थ इस समस्त पद से सूपः इस विशेष्य के अनुसार पुल्लिग प्र० एकवचन में '**द्विजार्थः**' रूप बना है । इसी प्रकार द्विजाय इयम्=**द्विजार्था यवागुः** यहाँ विशेष्यानुरोध से स्त्रीलिङ्ग, तथा द्विजाय इदम्="**द्विजार्थं पयः**' यहाँ नपुंसक लिंग होता है ।

भूतवलिः—भूतेभ्यः वलिः—भूतों के लिये वलि । 'भूत भ्यस् वलि सु' इस विग्रह में चतुर्थीति सूत्र से समास, तथा शेष कार्य पूर्व होकर भूतवलिः रूप बनता है । इसी प्रकार गवे हितम् (गौ के लिये हितकर) 'गो. ङे. हित सु', समासादिकार्य होकर **गोहितम्**, एवं **गोसुखम्** (गवे सुखम्) **गोरक्षितम्** (गोभ्यः रक्षितम्) प्रयोग बनते हैं ।

पञ्चमीति—पञ्चभ्यन्त का भय वाचक शब्दों के साथ समास हो ।

चौरभयम्—चौरात् भयम् (चौर से भय) 'चौर ङसि भय सु' इस विग्रह में समास शेष कार्य 'चौरभयम्' ।

स्तोकेति—स्तोक (थोड़ा) अन्तिक (समीप) दूरार्थ वाचक शब्द तथा कृच्छ्र (कष्ट) इन पदों का क्त प्रत्ययान्त पदों के साथ समास हो ।

पञ्चम्याः इति—स्तोक आदि शब्दों से परे पञ्चमी का लोप न हो, उत्तर पद परे रहते ।

(उत्तर पद शब्द समास के चरम अवयव में रूढ है अर्थात् उत्तर पद शब्द का अर्थ समास का ही उत्तर पद है)

स्तोकान्मुक्त : (स्तोकात् मुक्तः) थोड़े से मुक्त हुआ ।

षष्ठी ।२।२।८।।

सुबन्तेन प्राग्वत् । राजपुरुषः ।

पूर्वा पराधरोत्तरमेकदेशि नैकाधिकरणे ।२।२।१।।

अवयविना सह पूर्वादयः समस्यन्ते । एकत्व संख्याविशिष्टश्चेदवयवी । षष्ठी समासापवादः । पूर्वं कायस्य पूर्वकायः । अपरकायः । एकाधिकरणे किम्— पूर्वश्छात्राणाम् ।

अर्धं नपुंसकम् ।२।२।२।।

समांशवाची अर्धशब्दो नित्यं क्लीवे, स प्राग्वत् । अर्धं पिप्पल्याः— अर्धपिप्पली ।

अन्तिकादागतः (अन्तिकात् आगतः) पास से आया हुआ ।

अभ्याशादागतः (अभ्याशात् आगतः) पास से आया हुआ ।

दूरादागतः—(दूरात् आगतः) दूर से आया हुआ ।

कृच्छ्रादागतः (कृच्छ्रात् आगतः) कष्ट से आया हुआ ।

यहाँ सर्वत्र स्तोकेति सूत्र से समास, 'पञ्चम्याः' सूत्र से पञ्चमी विभक्ति का अलुक्, अर्थात् लोप का निषेध-लोप नहीं होता ।

षष्ठीति—षष्ठ्यन्त का सुबन्त के साथ समास हो ।

राजपुरुषः—(राज्ञः पुरुषः—राजा का आदमी) 'राजन् ङस् पुरुष सु' इस विग्रह में समास, न लोप 'राजपुरुषः' ।

पूर्वापरेति—पूर्व (आगे का) ऊपर (पीछे का) अधर (नीचे का) तथा उत्तर (ऊपर का) इन अवयव वाचक पदों का अवयवी वाचक शब्दों के साथ समास होता है, यदि अवयवी एकत्व संख्या विशिष्ट हो अर्थात् एक वचनान्त हो ।

(सूत्र में एकदेशी का अर्थ है अवयवी, एको देशोऽस्या स्तीति एकदेशी अर्थात् अवयवी, अवयवी का एक देश उसका अवयव होता है । एकाधिकरण का अर्थ है एक वस्तु अर्थात् एक वचनान्त शब्द ।)

षष्ठी समासेति—यह षष्ठी समास का अपवाद है ।

पूर्वकायः—पूर्वं कायस्य—(शरीर का अग्र भाग) 'पूर्व अम् काय ङस्' इस विग्रह में समास, 'पूर्वापरेति' समास विधायक सूत्र में प्रथमान्त से वोध्य 'पूर्व' शब्द की उपसर्जन संज्ञा और पूर्व निपात, विभक्ति लोप, 'पूर्वकायः' ।

(षष्ठी समास के अपवाद होने का यह फल है कि 'पूर्व, अपर, अधर, उत्तर, इन शब्दों का पूर्व निपात हो सके, यदि 'षष्ठी' सूत्र से समास होता तो प्रथमान्त पद

सप्तमी शौण्डैः ।२।१।४०।।

सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः प्राग्वत् । अक्षेषु शौण्डः—अक्षशौण्डः इत्यादि ।

द्वितीया तृतीयेत्यादि योगविभागादन्यत्रापि तृतीयादिविभक्तीनां प्रयोगवशात् समासो ज्ञेयः ।

दिक्संख्ये संज्ञायाम् ।२।१।५०।।

पूर्वेषुकामशमी । सप्तर्षयः । संज्ञाया मेवेति नियमार्थं सूत्रम् । तेनेह न—उत्तरा वृक्षाः, पञ्च ब्राह्मणाः ।

बोध्य काय' पद का ही पूर्व प्रयोग होता, अतएव इस सूत्र द्वारा यह समास विधान किया गया है ।)

अपरकाय—अपरं कायस्य (शरीर का पिछला भाग) यहाँ भी पूर्ववत् समास तथा शेष कार्य होंगे ।

एकाधिकरणे इति—अवयवी के एक वचनान्त होने पर ही समास होता है अतएव 'पूर्वः छात्राणाम्' यहाँ छात्राणम् इस अवयवी के बहुवचनान्त होने से यहाँ समास नहीं होता, सन्धि होकर **'पूर्वश्छात्राणाम्'** बनता है ।

अर्धमिति—बराबर भाग का वाचक अर्ध शब्द जो नित्य नपुंसक लिङ्ग है, उसका सुवन्त के साथ समास हो ।

अर्धपिप्पली—अर्धं पिप्पल्याः (पिप्पली का आधा भाग) 'अर्ध अम् पिप्पली ङस्' इस विग्रह में समास, समास सूत्र में प्रथमान्त पद से बोध्य 'अर्धम्' का पूर्व प्रयोग, विभक्तिलोप, अर्ध पिप्पली' यहाँ भी पूर्व पद प्रधान है ।

सप्तमीति—सप्तम्यन्त का शौण्ड आदि शब्दों के साथ समास हो ।

अक्षशौण्डः—अक्षेषु शौण्डः—(पासों में प्रवीण) 'अक्ष सुप् शौण्ड सु' इस विग्रह में समास, अक्ष का पूर्व निपात, शेष कार्य होने पर 'अक्षशौण्डः' ।

द्वितीयेति—द्वितीया श्रितातीत आदि 'सप्तमी शौण्डैः' तक समास विधायक सूत्रों में द्वितीया, तृतीया आदि योग विभाग करने से प्रयोगानुसार अन्यत्र (उक्त स्थलों से भिन्न स्थानों में भी) समास जानना चाहिए । तात्पर्य यह कि द्वितीया, तृतीया चतुर्थी, पञ्चमी, सप्तमी, ये पृथक् सूत्र भी रहें और उक्त सूत्र भी रहें जिससे कि उक्त सूत्रों द्वारा तो उन शब्दों के साथ द्वितीयान्त आदि पदों का समास हो सके और शेष प्रयोगों में जो कि इनसे भिन्न भी हों, योग विभाग के द्वारा द्वितीया आदि सूत्रों से समास हो सके ।

दिक्संख्ये इति—दिशा वाचक और संख्या वाचक शब्दों का संज्ञा अर्थ में समर्थ सुवन्त के साथ समास हो ।

तद्धितार्थोत्तर पद समाहारे च २।१।५१।।

तद्धितार्थे विषये, उत्तरपदे च परतः, समाहारे च वाच्ये, दिक् संख्ये प्रागवत् । पूर्वस्यां शालायां भवः । पूर्वा शाला इति समासे जाते—

(वा) सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः ।

दिक्पूर्वपदाद् संज्ञायां ञः ।४।२।१०७।।

अस्माद्भवाद्यर्थे ञः स्याद् असंज्ञायाम् ।

पूर्वेषुकामशमी—पूर्वा इषुकामशमी—यह किसी प्राचीन नगरी का नाम है । 'पूर्वा सु इषुकामशमी सु' इस विग्रह में दिकसंख्ये सूत्र से समास होकर 'पूर्वेषुकामशमी' बनता है ।

सप्तर्षयः—सप्त च ते ऋषयः (सात ऋषि) 'सप्तन् जस् ऋषि जस्' इस विग्रह में समास, शेष कार्य, प्र० वहु व० में 'सप्तर्षयः' ।

(इस सूत्र से लेकर 'उपमानानि सामान्य वचनैः' सूत्र तक समानाधिकरण तत्पुरुष समास है, अतः दोनों पदों में समान विभक्तियाँ रहेंगी । इससे पूर्व व्यधिकरण तत्पुरुष था अतएव दोनों पदों में भिन्न-भिन्न विभक्तियाँ थीं ।)

संज्ञायामेवेति—इनका समास संज्ञा में ही हो, इस नियम के लिये यह सूत्र है । तात्पर्य यह कि 'जव विशेषणं विशेष्येण वहुलम्' द्वारा यहाँ समास हो ही सकता था, तो फिर सूत्र का विधान व्यर्थ था अतः नियमार्थ यह सूत्र है कि दिक् वाची तथा संख्यावाची शब्दों का समास संज्ञा में ही हो, इस नियम होने के कारण यहाँ समास न होगा, **उत्तरा वृक्षाः, पञ्च ब्राह्मणाः** क्योंकि यहाँ संज्ञा नहीं है ।

१५५ तद्धितार्थेति—तद्धितार्थ के विषय में, उत्तरपद परे रहते, समाहार के वाच्य रहते दिशावाचक और संख्यावाचक पदों का समास हो ।

पूर्वस्यामिति—यहाँ तद्धितार्थ के विषय का उदाहरण है, पूर्वस्यां शालायां भवः (पूर्वशाला में होने वाला) यहाँ 'भवः' यह तद्धितार्थ है, क्योंकि 'तत्र भवः' सूत्र से भवार्थ में तद्धित प्रत्यय होता है । यहाँ पूर्वा-दिशा वाचक शब्द का शाला के साथ समास होने पर, विभक्ति लोप होकर पूर्वाशाला यह स्थिति हुई—

वार्तिकः—सर्वनाम को वृत्तिमात्र में अर्थात् कृदन्त आदि पाँचों वृत्तियों में पुंवद्भाव होता है ।

प्रस्तुत उदाहरण में समास वृत्ति है, पूर्वा यह सर्वनाम शब्द है, इसका पुंवद्भाव होने पर टाप प्रत्यय की निवृत्ति होकर पूर्वशाला बना ।

दिक् पूर्वेति—दिशा वाचक शब्द जिसके पूर्व में हो ऐसे शब्द से भव आदि अर्थों में ञ प्रत्यय हो, यदि संज्ञा न हो ।

प्रस्तुत उदाहरण पूर्वशाला शब्द के पूर्व, दिशा वाचक पूर्व शब्द है, यहाँ भव

तद्धितेष्वचामादेः ।७।२।११७।।

ञिति णिति च तद्धितेष्वचामादे रचो वृद्धिः स्यात् । यस्येति च—पौर्वशालः । पञ्च गावो धनं यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ ।

(वा) द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम् ।

गोरतद्धितलुकि ।५।४।९२।।

गोऽन्तात्तत्पुरुषाट्टच् स्यात् समासान्तो न तु तद्धित लुकि । पञ्चगवधनः ।

तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः ।१।२।४२।।

संख्या पूर्वो द्विगुः ।२।२।५२।।

तद्धितार्थेत्यत्रोक्तस्त्रिविधः संख्या पूर्वो द्विगुसंज्ञः स्यात् ।

अर्थ भी है, संज्ञा भी नहीं है, अतः ञ प्रत्यय हुआ, ञ का 'अ' शेष रहा अतएव यह प्रत्यय ञित् कहलाया ।

तद्धितेष्विति—ञित् और णित् तद्धित प्रत्यय परे रहते अचों में आदि जो अच् उसको वृद्धि हो ।

पूर्वशाला+ञ (अ) यह ञित् प्रत्यय के आगे रहने पर आदि अच् उकार को 'औ' वृद्धि, 'यस्येति च' सूत्र से आकार लोप पौर्वशाल्+अ='पौर्वशाल' प्रातिपदिक से प्र० एकवचन में 'पौर्वशालः' रूप बनता है । इसका विग्रह है 'पूर्वा ङि शाला ङि' ।

पञ्चेति—पञ्च गावो धनं यस्य (जिसके पांच गायें धन है) इस तीन पद के बहुव्रीहि समास में—

वार्तिक—द्वन्द्वेति—द्वन्द्व और तत्पुरुष में उत्तर पद परे रहते नित्य समास होता है ।

गोरिति—गो शब्द जिसके अन्त में हो ऐसे तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय हो, जहाँ तद्धित प्रत्यय का लोप न हुआ हो ।

पञ्चगवधनः—पञ्च, गावो, धनं यस्य (पाँच गायें जिसका धन है) यहाँ तीन पद का बहुव्रीहि समास होता है पर इसके पूर्व पञ्च और गावः का उत्तर पद 'धन' परे रहते 'तद्धितार्थ' सूत्र से समास, विभक्ति लोप, न लोप, होकर पञ्चगो+धन बना, यहाँ यह तत्पुरुष समास वार्तिक के अनुसार नित्य समास है क्योंकि यहाँ 'धन' यह उत्तर पद है । अतः पञ्च गो+धन इस स्थिति में गोरतद्धितेति सूत्र से गो शब्दान्त तत्पुरुष-पञ्चगो के आगे टच् (अ) प्रत्यय हुआ, अवादेश होकर 'पञ्चगवधनः' रूप बनता है ।

तत्पुरुष इति—समानाधिकरण तत्पुरुष को कर्मधारय समास कहते हैं (समानाधिकरण=समान विभ यन्त विषयक समास) जिसका समान अधिकरण या अभिधेय

द्विगुरेकवचनम् ।२।४।१।।

द्विग्वर्थः समाहारः एकवत् स्यात् ।

स नपुंसकम् २।४।१७।।

समाहारे द्विगुर्द्वन्द्वश्च नपुंसकं स्यात् । पञ्चानां गवां समाहारः पञ्चगवम् ।

विशेषणं विशेष्येण बहुलम् ।२।१।५७।।

भेदकं भेद्येन समानाधिकरणेन बहुलं प्राग्वत् । नीलमुत्पलम्—नीलोत्पलम् । बहुल ग्रहणात् क्वचिन्नित्यम्—कृष्णसर्पः । क्वचिन्न—रामो जामदग्न्यः ।

हो, वह समानाधिकरण कहलाता है। जहाँ पूर्व तथा उत्तर पद दोनों समान—एक वस्तु के लिये ही प्रयुक्त हों, जैसे 'नीलोत्पलम्' इस समास में नील एवं उत्पल दोनों ही पूर्वोत्तर पद एक ही कमल के लिये प्रयुक्त हुये हैं, अतः यह समानाधिकरण तत्पुरुष अर्थात् कर्मधारय समास है। ऐसे पद विग्रह में भी समान विभक्तिक रहते हैं—"नीलं च तद् उत्पलम्" यहाँ नील व उत्पन्न दोनों के आगे एक ही 'सु' प्रथमैक वचन प्रत्यय है।

संख्येति—'तद्धितार्थ' सूत्र द्वारा विहित तीनों प्रकार का समास यदि संख्या-पूर्व हो तो द्विगु कहलाता है।

द्विगुरिति—द्विगु समास का अर्थ—समाहार (समुदाय) एक वचनान्त होता है।

स इति—समाहार में द्विगु और द्वन्द्व समास नपुंसक लिङ्ग होते हैं।

पञ्चगवम्—(पञ्चानां गवां समाहारः पञ्चगवम् (पाँच गायों का समुदाय) "पञ्चन् आम् गो आम्" इस विग्रह में समाहार अर्थ में 'तद्धितार्थ' सूत्र से समास, विभक्ति लोप, न लोप, गोरतद्धितेति सूत्र से टच् (अ) अवादेश होकर 'पञ्चगव' इस स्थिति में 'संख्या पूर्वं' इस सूत्र से द्विगु संज्ञा, द्विगुरिति सूत्र से एक वचन का विधान, 'स इति' सूत्र से नपुंसक लिङ्ग होने से, सु को अमादेश होकर 'पञ्चगवम्' रूप वनता है।

विशेषणमिति—विशेषण का विशेष्य के साथ बहुलता से समास हो और वह समास समानाधिकरण-कर्मधारय कहलाता है।

(भेदक=विशेषण, क्योंकि यह अन्य पदार्थों से भेद वतलाता है, जैसे 'कृष्णा गौः' यहाँ कृष्णा यह विशेषण अन्य नील पीतादि गायों का व्यावर्तक या भेदक है। भेद्य=विशेष्य-जिसका अन्य पदार्थों से भेद किया जाता है। भेद्य भेदक दोनों ही एक ही वस्तु को वतलाते है अतएव वे समानाधिकरण कहलाते हैं।

समास विधायक सूत्र में 'विशेषणम्' यह प्रथमान्त पद है अतः इसके द्वारा वोध्य सभी विशेषण वाची पदों का पूर्व प्रयोग ही होता है।

नीलोत्पलम्—नीलं च यत् उत्पलम् (नीला जो कमल) 'नील सु उत्पल सु' इस विग्रह में विशेषणमिति सूत्र से समास, नीलोत्पल प्रातिपदिक से 'नीलोत्पलम्' रूप बना।

उपमानानि सामान्य वचनैः ।२।१।५५।।

घन इव श्यामः घनश्यामः ।

(वा) शाक पार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम् ।

शाकप्रियः पाथिवः शाकपार्थिवः । देवपूजको ब्राह्मणः देवब्राह्मणः ।

नञ् ।२।२।६।।

नञ् सुपा सह समस्यते ।

बहुलेति—सूत्र में बहुल ग्रहण सामर्थ्य से यह समास कहीं नित्य होता है और कहीं नहीं भी होता है।

कृष्णसर्पः—(काला साँप) 'कृष्ण सु सर्प सु' इस विग्रह में समास, विभक्ति लोप होकर 'कृष्ण सर्पः' बनता है, यहाँ नित्य समास होने से "कृष्णः च असौ सर्पः" इस विग्रह द्वारा काला जो सर्प इस प्रकार बोध नहीं होता अपितु कृष्णसर्प, साँपों की एक विशेष जाति है। अतः कृष्णः सर्पः ऐसा वाक्य प्रयुक्त नहीं होता।

रामो जामदग्न्यः—यहाँ बहुल ग्रहण के कारण विशेषण विशेष्य रहते हुए भी समास नहीं होता।

उपमानानीति—उपमान वाचक सुवन्तों का समान धर्मवाचक (सामान्य वचन) सुवन्तों के साथ समास हो।

जिससे किसी की समता दिखाई जाय वह उपमान कहलाता है, जिस धर्म से समता बताई जाती है उसे साधारण धर्म कहते हैं।

घनश्याम—घन इव श्यामः—(मेघ के समान श्याम वर्ण वाला) 'घन सु श्याम सु" इस विग्रह में समास, विभक्ति लोप, 'घनश्यामः' यहाँ उपमान वाचक घन शब्द का साधारण धर्मवाचक श्याम शब्द के साथ समास हुआ है। यहाँ लक्षणा शक्ति से प्राप्त इव शब्द का विग्रह वाक्य में स्पष्टता के लिये प्रयोग किया गया है, घन शब्द, घन के समान' इस अर्थ में लाक्षणिक है।

(वार्तिक) शाकेति—शाकपार्थिव आदि समासों की सिद्धि के लिये उत्तर पद का लोप कहना चाहिए।

शाकपार्थिवः—शाक प्रियः पार्थिवः—(शाक पसन्द करने वाला राजा) यहाँ शाक प्रिय और पार्थिव का समास होकर उत्तर पद प्रिय का वार्तिक से लोप हुआ।

देवब्राह्मण—देवपूजकः ब्राह्मणः (देवताओं की पूजा करने वाला ब्राह्मण) देवपूजक और ब्राह्मण का समास होकर पूजक इस उत्तर पद का लोप हुआ है।

नञिति—नञ् का सुवन्त के साथ समास हो, (निषेधार्थक न ही नञ् है अत-एव यह नञ् समास कहलाता है।)

न लोपो नञः ।६।३।७३।।

नञो नस्य लोपः स्यात् उत्तर पदे । न ब्राह्मणः—अब्राह्मणः ।

तस्मान्नुडचि ।६।३।७४।।

लुप्तनकारान्नञ उत्तरपदस्या जादेर्नुडागमः स्यात् । अनश्वः । नैकधेत्यादौ तु न शब्देन सह सुप्सुपेति समासः ।

कुगतिप्रादयः ।२।२।१८।।

एते समर्थेन नित्यं समस्यन्ते । कुत्सितः पुरुषः कुपुरुषः ।

ऊर्यादिच्विडाचश्च ।१।४।६१।।

न लोप इति—उत्तर पद परे रहते नञ् के नकार का लोप हो ।

अब्राह्मणः—न ब्राह्मणः—(जो ब्राह्मण से भिन्न क्षत्रिय आदि हो) न ब्राह्मण सु, इस विग्रह में नञ् सूत्र से समास, विभक्ति लोप, 'न लोपो नञः' सूत्र से नकार का लोप होकर 'अब्राह्मणः' बना ।

तस्मादिति—जिस नञ् के नकार का लोप हो गया हो उससे पर अजादि उत्तर पद को नुट् का आगम हो ।

अनश्वः—न अश्वः (घोड़े से भिन्न) 'न अश्व सु' इस विग्रह में 'नञ्' सूत्र से समास, 'न लोपो नञः' सूत्र से न लोप, तस्मादिति सूत्र से अजादि उत्तर पद अश्व परे रहते, लुप्तनकारवान् 'अ' के आगे नुट् (न्) का आगम होकर 'अनश्वः' बना ।

नैकधेति—नैकधा (अनेक प्रकार से) यहाँ न के साथ एकधा का 'सुप्सुपा' सूत्र से केवल समास होता है । यदि यहाँ नञ् समास किया जाता, तो नकार का लोप होकर और नुट् का आगम होकर 'अनेकधा' रूप बनता ।

कुगतीति—कु, गति संज्ञक, और प्र आदि का समर्थ सुबन्त के साथ समास हो ।

कुपुरुष—कुत्सितः पुरुषः—बुरा मनुष्य । यहाँ कु अव्यय का पुरुष सुबन्त के साथ समास होकर 'कुपुरुषः' बनेगा ।

(गति संज्ञक और प्र आदि के उदाहरण आगे दिये गये है, यद्यपि क्रिया के योग में प्रादि उपसर्गों की गति संज्ञा होती है तथापि इनके पृथक् ग्रहण का प्रयोजन यह है कि जहाँ इनका क्रिया के साथ योग न होगा वहाँ गति संज्ञा न होने से प्रादि के साथ समास न हो सकेगा जैसे 'सुपुरुषः' यहाँ 'सु' इस प्रादि का क्रिया के साथ योग न होकर सुबन्त पुरुषः के साथ योग है, यहाँ इसकी गति संज्ञा नहीं, अतएव 'सुपुरुषः' आदि प्रयोगों की सिद्धि के लिये ही यहाँ गति संज्ञक से पृथक् प्रादि का ग्रहण है)

ऊर्यादीति—ऊरी आदि, च्वि प्रत्ययान्त तथा डाच् प्रत्ययान्त शब्द क्रिया के योग में गति संज्ञक होते हैं ।

ऊर्यादयः, च्व्यन्ता डाजन्ताश्च क्रिया योगे गति संज्ञाः स्युः। ऊरीकृत्य। शुक्लीकृत्य। पटपटा कृत्य। सुपुरुषः।

(वा) प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया। प्रगत आचार्यः—प्राचार्यः।

(वा) अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया। अतिक्रान्तो मालामिति विग्रहे—

एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते।१।२।४४।।

विग्रहे यन्नियत विभक्तिकं तदुपसर्जन संज्ञं स्यान् न तु तस्य पूर्वनिपातः।

ऊरीकृत्य—(स्वीकार करके) यहाँ कृत्वा-कृ धातु के योग में स्वीकारार्थ ऊरी शब्द की प्रकृत सूत्र से गति संज्ञा हुई है, अतः ऊरी इस गति संज्ञक का 'कुगतिप्रादयः' से कृत्वा के साथ समास होगा समास के फलस्वरूप 'समासेऽनञ् पूर्वे क्त्वोल्यप्' सूत्र से क्त्वा को ल्यप् आदेश होकर 'ऊरीकृत्य' रूप बनता है।

शुक्लीकृत्य—अशुक्लं शुक्लं कृत्वा (जो सफेद नहीं उसे सफेद बनाकर) यहाँ अभूततद्भाव (जो वैसा नहीं था उसका वैसा करना या होना) अर्थ में 'कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरिच्विः' सूत्र से च्वि प्रत्यय होकर उसका सर्वापहारिलोप हो जाता है 'अस्य च्वौ' सूत्र से शुक्लगत अकार को ईकार होकर शुक्ली रूप बनता है, अतः इस च्वि प्रत्ययान्त शब्द की प्रकृत सूत्र से कृत्वा के योग में गति संज्ञा होने से समास और फलतः क्त्वा को ल्यप् होकर उक्त रूप बनता है।

पटपटाकृत्य—पटत्-पटत् इति कृत्वा—(पट-पट करके), यहाँ 'पटत्' इस अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण शब्द से कृ धातु के योग में डाच् प्रत्यय होता है। 'डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम्' सूत्र के डाच् परे रहते 'पटत्, को द्वित्व होकर पटत् पटत्+डाच् (आ) कृ बनता है। डित् होने से डाच् परे रहते द्वितीय 'पटत्' की 'अत्' इस टि का लोप होकर, पूर्व 'पटत्' के तकार और उत्तर पद के पकार दोनों के स्थान में पर रूप होकर पटपट्+आ='पटपटा' डाच् प्रत्ययान्त की कृत्वा इस क्रिया के योग में गति संज्ञा, समास, क्त्वा को ल्यप् होकर 'पटपटाकृत्य' यह रूप बनता है।

सुपुरुषः—शोभनः पुरुषः—(अच्छा पुरुष), यहाँ प्रादि 'सु' का पुरुष के साथ 'कुगतिप्रादयः' से समास होकर 'सुपुरुषः' बनता है।

(वा) प्रादय इति—प्र आदि का 'गत' आदि अर्थ में प्रथमान्त के साथ समास होता है।

प्राचार्यः—प्रगत आचार्यः—(प्रकृष्ट आचार्य) यहाँ 'प्र' का आचार्यः इस प्रथमान्त के साथ 'गत' अर्थ में समास होकर 'आचार्यः' बनता है।

(वा) अत्यादय इतिः—अति आदि का 'क्रान्त' आदि अर्थ में द्वितीयान्त के साथ समास हो।

एकविभक्तीतिः—विग्रह में जिस पद की एक (नियत) निश्चित विभक्तिः होती है उसकी उपसर्जन संज्ञा होती है, किन्तु उसका पूर्वनिपात नहीं होता।

गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य ।१।२।४८।।

उपसर्जनं यो गो शब्दः, स्त्री प्रत्ययान्तं च तदन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः स्यात् । अतिमालः ।

(वा) अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया । अवक्रुष्टः कोकिलया अवकोकिलः ।

(वा) पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या । परिग्लानोऽध्ययनाय पर्यध्ययनः ।

'उपसर्जनं पूर्वम्' सूत्र से उपसर्जन संज्ञक का पूर्व निपात किया गया है। अर्थात् अब तक उपसर्जन संज्ञा का फल पूर्व निपात था । पर इस सूत्र द्वारा की गई उपसर्जन संज्ञा का प्रयोजन अन्य कार्य है पूर्व प्रयोग करना नहीं ।)

गोस्त्रियोरितिः—उपसर्जन संज्ञक जो-जो शब्द, अथवा स्त्री प्रत्ययान्त शब्द, वह जिसके अन्त में हो उस प्रातिपदिक को ह्रस्व होता है ।

अतिमालः—मालाम् अतिक्रान्तः (माला का जो अतिक्रमण कर गया हो) इस विग्रह में 'मालाम्' इस द्वितीयान्त के साथ क्रान्त अर्थ में अति का वार्तिक द्वारा समास, अति का पूर्व निपात, विभक्ति लोप, 'अतिमाला' इस दशा में 'नियत विभक्तिक-माला 'शब्द की एक विभक्ति सूत्र से उपसर्जन संज्ञा, गोस्त्रियोरिति सूत्र से उपसर्जन संज्ञक स्त्री प्रत्यान्त-अतिमाला के अन्त के आकार को ह्रस्व होने पर 'अतिमालः' रूप बनता है ।

(सूत्र विधान के अनुसार यहाँ माला शब्द नियत विभक्तिक है, क्योंकि किसी भी कारक के साथ प्रयुक्त होने पर—अतिक्रान्तं मालाम्, अतिक्रान्तेन मालाम् आदि विभिन्न विभक्तियों के साथ विग्रह करने पर भी 'मालाम्' शब्द नियत विभक्ति वाला अर्थात् द्वितीया विभक्ति में ही रहता है ।)

(वा) अवादय इति—अव आदि का क्रुष्ट आदि अर्थ में तृतीयान्त के साथ समास होता है ।

अवकोकिलः—अवक्रुष्टः कोकिलया—(कोकिल के द्वारा कूजित) यहाँ अव का कोकिला के साथ समास, पूर्व निपात, विभक्ति लोप, होकर अवकोकिला शब्द की उपसर्जन संज्ञा, गोस्त्रियोरिति सूत्र से आकार को ह्रस्व होकर 'अवकोकिलः' रूप बनता है ।

(वा) पर्यादय इतिः—परि आदि का ग्लान आदि अर्थों में चतुर्थ्यन्त के साथ समास हो ।

पर्यध्ययनः—परिग्लानः अध्ययनाय (पढ़ने के लिये थका हुआ) यहाँ परि का चतुर्थ्यन्त अध्ययन के साथ समास हुआ है ।

(वा) निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या । निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः— निष्कौशाम्बिः ।

तत्रोपपदं सप्तमी स्थम् । ३।१।९२।।

सप्तम्यन्ते पदे कर्मणीत्यादौ वाच्यत्वेन स्थितं कुम्भादि तद्वाचकं पदमुपपद संज्ञं स्यात् ।

उपपदमतिङ् । २।२।१९।।

उपपदं सुवन्तं समर्थेन नित्यं समस्यते, अतिङन्तश्चायं समासः । कुम्भं करोतीति-कुम्भकारः । अतिङ् किम्—मा भवान् भूत, 'माङि लुङ्' इति सप्तमी निर्देशाद् माङ् उपपदम् ।

(वा) निरादय इतिः—निर् आदि का निष्क्रान्त आदि अर्थ में पञ्चम्यन्त के साथ समास हो ।

निष्कौशाम्बिः—निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः (कौशाम्बी से निकला हुआ) यहाँ निर् का पञ्चम्यन्त कौशाम्बी से समास, पूर्व निपात, विभक्तिलोप, उपसर्जन संज्ञा, गोस्त्रियोरिति सूत्र से ईकार को ह्रस्व होकर 'निष्कौशाम्बिः' ।

तत्रेतिः—सप्तम्यन्त पद—कर्मणि इत्यादि में वाच्य रूप से स्थित जो कुम्भ आदि, उसका वाचक शब्द उपपद संज्ञक हो, अर्थात् 'कर्मण्यण' सूत्र में 'कर्मणि' यह सप्तम्यन्त पद है, इसमें कुम्भ आदि अर्थ वाच्य रूप में रहते हैं, क्योंकि अर्थ सदा अपने वाचक पद में वाच्य रूप में स्थित रहता है और वाचक पद अपने अर्थ में सदा वाचक रूप में स्थित रहता है अर्थात् शब्द और अर्थ में (शब्द और तद्बोध्य अर्थ 'वस्तु') में वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध रहता है अतः 'कर्मणि' इस वाचक शब्द में वाच्यत्वेन स्थित कुम्भ रूप अर्थ (वस्तु) है इसका वाचक शब्द 'कुम्भ' है, 'कुम्भं करोति' यहाँ यह 'करोति' क्रिया का कर्म भी है अतः इसकी उपपद संज्ञा होती है । अतएव वृत्तिकार ने "कर्मणि इत्यादौ वाच्यत्वेन स्थितं यत्कुम्भादि तद्वाचकं पदम् उपपद संज्ञं स्यात्" लिखा है ।

उपपदमिति—उपपद सुवन्त का समर्थ के साथ समास होता है, यह समास अतिङ् होता है अर्थात् तिङन्त पद के साथ नहीं होता ।

कुम्भकारः—कुम्भं करोति—(घड़ा बनाने वाला) यहाँ पहिले द्वितीयान्त कुम्भम् उपपद रहते कृ धातु से 'कर्मण्यण्' सूत्र से अण् प्रत्यय, ऋकार को वृद्धि होकर कुम्भ अम् कार इस स्थिति में 'उपपदमतिङ' सूत्र से समास होगा, क्योंकि यहाँ 'कर्मण्यण' इस सूत्र में स्थित 'कर्मणि' इस सप्तम्यन्त से बोध्य 'कुम्भ अम्' की तत्रेति सूत्र से उपपद संज्ञा है, समासत्वात् प्रातिपदिक संज्ञा होने से विभक्ति लोप होकर 'कुम्भकार' बना इसका प्रथमैक वचन में 'कुम्भकारः' बनता है ।

(वा) गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समास वचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः ।
व्याघ्री । अश्वक्रीती । कच्छपी, इत्यादि ।

(यहाँ उत्तर पद-कार-सुवन्त नहीं है, कार इस कृदन्त प्रातिपदिक से सु आदि विभक्ति प्रत्यय आने के पूर्व ही यहाँ समास हो जाता है जैसा कि 'गति कारकेत्यादि' अग्रिम वार्तिक द्वारा निर्देश किया गया है। अतएव वृत्तिकार ने केवल 'समर्थेन समस्यते' कहा है 'समर्थेन सुवन्तेन' नहीं, अतएव यह समास उपपद समास कहलाता है।)

(यह नित्य समास है अतएव यहाँ 'कुम्भं करोति' यह अस्वपद विग्रह होता है 'कुम्भंकारः' ऐसा स्वपद विग्रह नहीं।)

अतिङ् किमिति—यह समास तिङन्त के साथ नहीं होता, ऐसा कहा गया है इसलिए "मा भवान् भूत्' यहाँ समास नहीं होगा। यद्यपि यहाँ 'माङिलुङ्' इस सूत्र में 'माङि' यह सप्तम्यन्त पद वोध्य माङ् उपपद है, तथापि 'भूत्' (अभूत्) यह तिङन्त पद है अतः इसके साथ समास न होगा।

(वा) गतिकार केति—गति संज्ञक, कारक, और उपपद को कृदन्त पदों के साथ, 'सुप्' आने के पूर्व ही समास हो।

व्याघ्री—(वाधिन) यहाँ 'व्याजिघ्रति' जो विशेष रूप से चारों ओर सूँघती हो; इस विग्रह में वि+आङ् पूर्वक घ्रा धातु से 'आतश्चोपसर्गे' सूत्र से क प्रत्यय, कित् होने से धातु के आकार का लोप, वि+आ+घ्र+अ=व्या+घ्र इस दशा में 'घ्र' के आगे सुप् आने के पूर्व 'वार्तिक' से गति समास हुआ क्योंकि यहाँ घ्रा धातु के योग में 'वि+आ' की गति संज्ञा है। तव व्याघ्र शब्द से (इसके जाति वाचक होने के कारण) 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' सूत्र से ङीष् प्रत्यय होकर 'व्याघ्री' शब्द बनता है।

यहाँ यदि वार्तिक के अभाव में 'घ्र' के आगे सुप् आने के वाद समास होता, तो सुप् आने के पूर्व ही 'घ्र' शब्द से लिङ्ग बोधक प्रत्यय 'टाप्' पहिले आ जाता क्योंकि 'स्वार्थ द्रव्य लिङ्ग संख्याकारकाणि प्रातिपदिकार्थः' के अनुसार संख्या कारक बोधक सुप् की अपेक्षा प्रथम परिगणित होने से लिङ्ग अन्तरङ्ग है अतः 'घ्र' शब्द से सुप् आने के पूर्व ही लिङ्ग बोधक प्रत्यय पहिले हो जायेगा। केवल 'घ्र' शब्द जाति वाचक नहीं, अतः इससे जातेरस्त्रीत्यादि सूत्र से ङीष् प्रत्यय तो सम्भव न हो सकेगा अतः लिङ्ग बोधक प्रत्यय टाप् हो जायेगा फिर सुवुत्पत्ति और समास करने पर व्याघ्रा यह अनिष्ट रूप बनेगा अतः सुप् आने के पूर्व ही समास विधान किया गया है जिससे कि व्या+घ्र का समास होकर व्याघ्र यह जाति वाचक शब्द बन सके और फलतः ङीष् प्रत्यय होकर व्याघ्री यह शब्द बन जाय तब इससे सु प्रत्यय आये।

तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याऽव्ययादेः ।५।४।८६।।

संख्याव्ययादेरङ्गुल्यन्तस्य समासान्तोऽच् स्यात् । द्वे अङ्गुली प्रमाण मस्य-द्वयङ्गुलम् । निर्गतमङ्गुलिभ्यः निरङ्गुलम् ।

अहः सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः ।५।४।८७।।

एभ्यो रात्रेरच् स्याच्चात्संख्याव्ययादेः । अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम् ।

अश्वक्रीती—अश्वेन क्रीता—(घोड़े के द्वारा खरीदी गई) यहाँ "कर्तृकरणे कृता वहुलम्" से 'अश्व टा' इस तृतीया करण कारक का क्रीत इस कृदन्त के साथ, सुवुत्पत्ति के पूर्व उक्त वार्तिक के सामर्थ्य से समास हुआ, अश्वक्रीत इस शब्द से 'क्रीतात्करण पूर्वात्' इस सूत्र से ङीष् प्रत्यय होकर अश्वक्रीती वन जाने पर सु प्रत्यय, उसका लोप होकर अश्वक्रीती प्रयोग वनता है । यदि यहाँ सुवुत्पत्ति के वाद समास होता तो पहिले लिङ्ग वोधक प्रत्यय टाप् हो जाने पर 'अश्वक्रीता' से फिर अकारान्त न होने के कारण ङीष् प्रत्यय न होता ।

कच्छपी—कच्छेन पिवति (जो कच्छ-तीर या किनारा से पीती है, कच्छपी) यहाँ 'सुपिस्थः' सूत्र में 'सुपि' इस योग-विभाग से सुवन्त कच्छ उपपद रहते पा धातु से क प्रत्यय, आकार लोप, कच्छ टा+प इस स्थिति में सुवुत्पत्ति से पूर्व प के साथ 'कर्तृकरणे कृता वहुलम्' से समास, विभक्ति लोप होने पर कच्छप इस जाति वाचक से 'जातेरित्यादि सूत्र से ङीष् होकर कच्छपी रूप वना, यहाँ भी व्याघ्री के समान यदि सुवुत्पत्ति के वाद समास होता तो लिङ्ग वोधक प्रत्यय टाप् पहिले हो जाता और फिर अकारान्त न रहने से जाति लक्षण ङीष् न हो पाता ।

तत्पुरुषस्येति—संख्या वाचक और अव्यय जिसके आदि में हों और अंगुलि शब्द अन्त हो ऐसे तत्पुरुष समास से समासान्त अच् प्रत्यय हो ।

द्वयङ्गुलम्—द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य (दो अङ्गुल लम्वा) यहाँ "द्वि औ अङ्गुलि औ" इस विग्रह में 'प्रमाणम्' इस तद्धितार्थ में 'तद्धितार्थेत्यादि सूत्र से समास, विभक्ति लोप, 'द्व्यङ्गुलि' इस तत्पुरुष से प्रकृत सूत्र द्वारा अच् प्रत्यय, 'यस्येति च' से इकार लोप होकर प्रथमैक वचन में नपुं० लिङ्ग में 'द्व्यङ्गुलम्' रूप वना ।

निरङ्गुलम्—निर्गतम् अङ्गुलिभ्यः—(अङ्गुलियों से निकला हुआ) इस विग्रह में निर् का अङ्गुलि के साथ 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्याः' से समास, विभक्तिलोप, निरङ्गुलि तत्पुरुष से अच् प्रत्यय, इकार लोप होकर 'निरङ्गुलम्' रूप वनता है ।

अहरिति—अहः, सर्व, एकदेश, संख्यात, और पुण्य इन शब्दों से, संख्या और अव्यय से परे रात्रि शब्द से समासान्त अच् प्रत्यय हो ।

अहर्ग्रहणमिति—सूत्र में अहन् शब्द का ग्रहण द्वन्द्व समास के लिये है अर्थात्

रात्राह्नाहाः पुंसिः ।२।४।२९।।

एतदन्तौ द्वन्द्वतत्पुरुषौ पुंस्येव । अहश्च रात्रिश्चाहोरात्रः । सर्वरात्रः, संख्यातरात्रः ।

(वा) संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम् । द्विरात्रम् । त्रिरात्रम् ।

अहन् और रात्रि शब्द का द्वन्द्व समास ही होता है, तत्पुरुष नहीं । पर इस सूत्र से अच् प्रत्यय वहाँ भी होता है । शेष तत्पुरुष समास हैं ।

रात्रेति—रात्र, अह्न, और अहः ये शब्द जिनके अन्त में हों, वे द्वन्द्व व तत्पुरुष पुल्लिङ्ग में हों ।

अहोरात्रः—अहश्च रात्रिश्च अनयोः समाहारः (दिन और रात का समुदाय) यहाँ 'अहन् सु रात्रि सु' इस विग्रह में समाहार द्वन्द्व समास होकर 'अहः' इति सूत्र से समासान्त अच् प्रत्यय, इकार लोप, नकार को 'अहन' सूत्र से रुत्व, 'हशि च' से उत्व, गुण, अहोरात्र बना, यहाँ "रात्रेति सूत्र से पर होने के कारण 'स नपुंसकम्' से प्राप्त नपुंसकत्व एवं अपवादत्वात् परवल्लिंगता को भी बाध कर पुल्लिग होने से 'अहोरात्रः' रूप बनता है ।

सर्वरात्रः—सर्वा रात्रयः (सब रातें) या सर्वा चासौ रात्रिश्च इस विग्रह में सर्वा शब्द का रात्रि शब्द के साथ "पूर्व-कालैक सर्वजरत्पुराणेत्यादि' सूत्र से कर्मधारय तत्पुरुष समास, पुंवत्कर्मधारयेत्यादि सूत्र से सर्वा शब्द को पुंवद्भाव होकर तथा 'अहः इति' सूत्र से अच् प्रत्यय होकर सर्वरात्रि+अ इस स्थिति में 'यस्येति च' से इकार लोप, रात्रेति सूत्र से पुल्लिग, सर्वरात्रः रूप बना ।

संख्यातरात्र—संख्याता रात्रिः (गिनी हुई रात) इसकी सिद्धि भी सर्वरात्र की भाँति होगी ।

अहः इति सूत्र में एक देश का अर्थ है एक अंश या भाग, इसका उदाहरण होगा—**'पूर्वरात्र'**: पूर्वं रात्रेः (रात्रि का पूर्व भाग) यहाँ पूर्वापरेति सूत्र से एक देश समास होकर, अहः इति सूत्र से अच् प्रत्यय रात्रेति सूत्र से पुल्लिग होकर 'पूर्वरात्रः' बनेगा ।

वार्तिक संख्येति—संख्या पूर्वक रात्र शब्द नपुंसक लिंग होता है ।

द्विरात्रम्—द्वयोः रात्र्योः समाहारः (दो रात्रियों का समुदाय) इस विग्रह में द्वि शब्द का रात्रि शब्द के साथ, समाहार अर्थ में 'तद्धितार्थेत्यादि सूत्र से समास, अहः इति सूत्र से अच् प्रत्यय, इकार लोप, द्विरात्र शब्द से रात्रेति सूत्र से पुल्लिग प्राप्त था इसका इस वार्तिक से बाध होकर नपुंसक लिंग हुआ, तब 'द्विरात्रम्' रूप बना ।

त्रिरात्रम्—तिसृणां रात्रीणां समाहारः—(तीन रातों का समुदाय) इसकी भी सिद्धि द्विरात्रम् की भाँति होगी ।

राजाहः सखिभ्यष्टच् ।५।४।९१।।

एतदन्तात् तत्पुरुषाट् टच् स्यात् । परमराजः ।

आन्महतः समानाधिकरण जातीययोः ।६।३।४६।।

महत आकारोऽन्तादेशः स्यात्समानाधिकरणे उत्तरपदे जातीये च परे । महाराजः । प्रकार वचने जातीयर्—महाप्रकारो महाजातीयः ।

द्व्यष्टनः संख्यायाम बहुव्रीह्यशीत्योः ।६।३।४७।।

आत्स्यात् । द्वौ च दश च-द्वादश । अष्टाविंशतिः ।

राजेतिः—राजन्, अहन् सखि अन्त वाले तत्पुरुष शब्दों से समासान्त टच् प्रत्यय हो ।

परमराजः—परमश्चासौ राजा च—(श्रेष्ठ राजा) यहाँ परम शब्द का राजन् शब्द के साथ (विशेषण विशेष्य का) कर्मधारय तत्पुरुष समास, तथा प्रकृत सूत्र से टच् (अ) प्रत्यय होकर परमराजन्+अ इस स्थिति में 'न स्तद्धिते' सूत्र से 'अन्' इस 'टि' का लोप होकर प्र० एक व० में परमराजः रूप बनता है ।

आन्महत इति—महत् शब्द को आकार अन्तादेश हो, समानाधिकरण उत्तरपद और जातीयर् प्रत्यय परे रहते ।

महाराजः—महान् चासौ राजा च (बड़ा राजा) इस विग्रह में महत् और राजन् का समानाधिकरण समास, प्रकृत सूत्र से महत् के तकार को आकारादेश होकर पूर्ववत् 'महाराजः' रूप बनता है ।

महाजातीयः—महा प्रकारः (बड़ा सा) यहाँ महत् शब्द से 'प्रकार वचने जातीयर्' से पहिले जातीयर् प्रत्यय हुआ तब प्रकृत सूत्र से आकारान्ता देश होकर 'महाजातीयः' रूप बना है ।

(वास्तव में महाजातीयः पद तद्धितान्त है, समस्त पद नहीं, इस प्रकरण में यह उदाहरण केवल उसका आकारान्तादेश दिखाने के लिये दिया गया है ।)

द्व्यष्टन इति—द्वि और अष्टन् शब्द को आकार अन्तादेश हो, संख्या अर्थ में, बहुव्रीहि समास में और अशीति शब्द परे रहते न हो ।

द्वादश—द्वौ च दश च (दो और दश अर्थात् बारह) इस विग्रह में द्वि का दशन् के साथ द्वन्द्व समास, प्रकृत सूत्र से द्वि के इकार को आकारान्ता देश, द्वा दशन् शब्द से प्र० एक व० में सु प्रत्यय, उसका लोप, न् का लोप होकर द्वादश बनता है ।

अष्टाविंशतिः—अष्टौ च विंशतिश्च (आठ और बीस अर्थात् अट्ठाइस) यहाँ भी द्वन्द्व समास, आकारान्ता देश होकर प्र० एक व० में अष्टाविंशतिः रूप बनता है ।

त्रेस्त्रयः ।६।३।४८।।

त्रयोदश, त्रयोविंशतिः, त्रयस्त्रिशत् ।

परवल्लिङ्गं द्वन्द्व तत्पुरुषयोः ।२।४।२३।।

एतयोः पर पदस्यैव लिङ्गं स्यात् । कुक्कुट मयूर्याविमे ।

मयूरी कुक्कुटाविमौ । अर्ध पिप्पली ।

(वा) द्विगु प्राप्तापन्नालं पूर्वं गति समासेषु प्रतिषेधो वाच्यः ।

पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः—पुरोडाशः ।

त्रेरिति—त्रिशब्द को त्रयस् (आदेश) हो संख्या वाची उत्तर पद परे रहते किन्तु बहुव्रीहि समास में तथा अशीति शब्द परे रहते नहीं होता ।

त्रयोदश—त्रयश्च दश च (तीन और दश अर्थात् तेरह) यहाँ भी पूर्ववत् द्वन्द्व समास, प्रकृत सूत्र से त्रि को त्रयस् आदेश, सकार को रुत्व एवं उत्व, गुण होकर त्रयोदश रूप बनता है ।

इसी प्रकार त्रयश्च विंशतिश्च **त्रयोविंशति** और त्रयश्च त्रिशत् च **त्रयस्त्रिंशत्** रूप बनते हैं ।

परवदिति—द्वन्द्व व तत्पुरुष समास में परपद के समान लिंग होता है ।

कुक्कुट मयूर्यो—इमे—(ये मुर्गा और मोरनी) कुक्कुटश्च मयूरी च इस विग्रह में द्वन्द्व समास होकर, परपद—मयूरी-स्त्रीलिंग है अतः प्रकृत सूत्र के अनुसार समस्त पद से भी स्त्रीलिंग ही हुआ । इसी स्त्रीलिंग के बताने के लिये ही 'इमे' शब्द का आगे प्रयोग किया गया है ।

मयूरीकुक्कुटौ-इमौ-यहाँ मयूरी च कुक्कुटश्च इस विग्रह में द्वन्द्व समास करके, परपद कुक्कुट के पुंल्लिग होने के कारण समस्त पद से भी पुंल्लिग हुआ, इसीलिये 'इमौ' द्वारा पुंल्लिग का निर्देश किया गया है ।

अर्धपिप्पली—अर्धं पिप्पल्याः (पिप्पली का अर्ध भाग) यहाँ 'अर्ध नपुंसकम्' सूत्र से तत्पुरुष समास होने पर प्रकृत सूत्र से परपद पिप्पली के स्त्रीलिंग होने से समस्त पद भी स्त्रीलिंग हुआ ।

'वार्तिक'-द्विगुप्राप्तेति—द्विगु समास और जिस समास में प्राप्त आपन्न तथा अलं शब्द पूर्व पद में है, तथा गति समास में परपद के समान लिंग नहीं होता ।

पञ्चकपालः—पुरोडाशः—पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः—(पांच कपालों में बना हुआ पुरोडाश) यहाँ इस विग्रह में तद्धितार्थ में 'तद्धितार्थेत्यादि सूत्र से द्विगु समास, विभक्ति लोप होकर 'पञ्च कपाल' शब्द बना, यहाँ परपद-कपाल नपुंसक लिंग है किन्तु वार्तिक के सामर्थ्य से समस्त पद भी नपुंसक लिंग नहीं हुआ अपितु विशेष्य—पुरोडाशः के पुंल्लिग होने से समस्त पद से भी पुंल्लिग ही हुआ ।

प्राप्तापन्ने च द्वितीयया ।२।२।४।।

एतौ समस्येते । अकारश्चानयोरन्तादेशः । प्राप्तो जीविकां प्राप्त-जीविकः । आपन्न जीविकः । अलं कुमार्यै-अलं कुमारिः । अतएव ज्ञापकात् समासः । निष्कौ-शाम्बिः ।

प्राप्तेति—प्राप्त और आपन्न शब्दों का द्वितीयान्त के साथ समास हो और इनके अन्त को अकार आदेश हो ।

प्राप्तजीविकः—प्राप्तः जीविकाम्—जिसे जीविका मिल गई हो । यहाँ प्रकृत सूत्र से तत्पुरुष समास हुआ । विग्रह में नियत विभक्तिक होने से जीविका शब्द की 'एक विभक्ति चाऽपूर्वनिपाते' सूत्र से उपसर्जन संज्ञा और गो स्त्रियो रूप सर्जनस्य' सूत्र से उसे ह्रस्व होने पर 'प्राप्तजीविक' यहाँ पूर्व सूत्र से परपद जीविका के स्त्रीलिंग होने के कारण, समस्त पद से भी स्त्रीलिंग प्राप्न था, वार्तिक से उसका निषेध होकर विशेष्यानुसार पुल्लिग हुआ ।

आपन्नजीविकः—आपन्नो जीविकाम् (जीविका को प्राप्त) यहाँ भी सभी कार्य पूर्ववत् होंगे ।

अलंकुमारिः—अल कुमार्यै (कुमारी के लिये योग्य) इस विग्रह में तत्पुरुष समास होता है, कुमारी की उपसर्जन संज्ञा होकर ह्रस्व होता है, यहाँ परपद कुमारी के स्त्रीलिंग होने से समस्त पद से भी स्त्रीलिंग प्राप्त था, वार्तिक से उसका निषेध होकर विशेष्यानुसार पुल्लिग हुआ ।

अतएवेति—उपर्युक्त वार्तिक में अलंपूर्वक समास में परपद के समान लिंग होने का निषेध किया गया है, इससे यह पता चलता है अलम् का भी सुवन्त के साथ समास होता है, यद्यपि काशिकाकार ने यहाँ 'पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या' इस वार्तिक के अनुसार समास माना है।

निष्कौशाम्बिः—यहाँ प्रादि समास होने से परपद कौशम्वी-स्त्रीलिंग है अतः समस्त पद से भी स्त्रीलिंग प्राप्त था, उसका वार्तिक द्वारा निषेध होकर विशेष्यानुसार पुल्लिग हुआ, यहाँ भी उपसर्जन संज्ञा और ईकार को ह्रस्व होकर 'निष्कौशम्बिः' पुल्लिग रूप होगा ।

(यद्यपि यहाँ 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या) से निरादि समास ही है तथापि वार्तिक में 'गति समास' ग्रहण करने के कारण इसे उसका ही उदाहरण सिद्ध करने के लिये यहाँ 'प्रादि' समास मानना चाहिए । वार्तिकस्थ गतिसमास प्रादि का उपलक्षण है, क्योंकि मुख्य गति समास में लिंग की चर्चा असम्भव ही है अतएव 'गति समास' में 'गतेः समासो येन' यह विग्रह करके 'कुगतिप्रादयः से यहाँ प्रादि समास मानना ही समीचीन है ।)

अधर्चाः पुंसि च ।२।४।२१।।

अर्धर्चादयः शब्दाः पुंसि क्लीबे च स्युः । अर्धर्चः । अर्धर्चम् । एवं ध्वजतीर्थ शरीर मण्डपीयूष देहाकुंश पात्र सूत्रादयः । सामान्ये नपुंसकम् । मृदु पचति । प्रातः कमनीयम् ।

अधर्चा इति—अर्धर्च आदि शब्द पुल्लिग एवं नपुंसक लिंग दोनों में होते हैं ।

अर्धर्च—ऋचः अर्धम् (ऋचा का आधा भाग) इस विग्रह में (अर्धं नपुंसकम्' से समास 'ऋक् पूरब्धूः पथामानक्षे' सूत्र से 'अ' प्रत्यय होकर अर्धर्च यह अकारान्त तत्पुरुष बनता है, यहाँ ऋच् शब्द स्त्रीलिंग है, समस्त पद से भी स्त्रीलिंग प्राप्त था, पर प्रकृत सूत्र से यहाँ पुल्लिग 'अर्धर्चः' और नपुंसक लिंग 'अर्धचम्' दोनों रूप होंगे ।

एवमिति—इसी प्रकार ध्वज, तीर्थ, शरीर, मण्ड, पीयूष, देह, अंकुश, पात्र सूत्र आदि शब्द दोनों लिंगों में होते हैं ।

सामान्य इति—जहाँ लिंग विशेष की प्रतीति नहीं होती, वहाँ सामान्यतः नपुंसक लिंग होता है, जैसे 'मृदु पचति, प्रातः कमनीयम' यहाँ मृदु और कमनीयम् में सामान्यतः नपुंसक लिंग है ।

इति तत्पुरुष समासः

अथ बहुव्रीहि समासः

शेषो बहुव्रीहिः ।२।२।२३।।

अधिकारोऽयं प्राग् द्वन्द्वात् ।

अनेकमन्य पदार्थे ।२।२।२४।।

अनेकं प्रथमान्तमन्यस्य पदस्यार्थे वर्तमानं वा समस्यते स बहुव्रीहिः ।

सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ ।२।२।३५।।

सप्तम्यन्तं विशेषणञ्च बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात् । अतएव ज्ञापकाद् व्यधिकरण पदो बहुव्रीहिः ।

हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् ।६।३।६।।

शेष इति—द्वन्द्व से पूर्व तक इस बहुव्रीहि का अधिकार है । 'उक्तादन्यः शेषः के अनुसार यहाँ शेष पद से प्रथमान्त पद का ही समास मुख्यतया लिया जायेगा, क्योंकि द्वितीया से सप्तमी तक समास बताया जा चुका है ।

अनेकमिति—अन्य पद के अर्थ में वर्तमान अनेक प्रथमान्त पदों का समास हो विकल्प से, और वह समास बहुव्रीहि हो ।

सप्तमीति—सप्तम्यन्त और विशेषण का बहुव्रीहि समास में पूर्व प्रयोग हो ।

अतएवेति—प्रकृत सूत्र में सप्तम्यन्त पद का पूर्व प्रयोग कहा गया है, इसी से यह सिद्ध होता है कि व्यधिकरण पदों का अर्थात् भिन्न विभक्तिक पदों का भी बहुव्रीहि समास होता है अर्थात् जहाँ सभी प्रथमान्त पदों का समास होगा वहाँ वह समानाधिकरण बहुव्रीहि कहलायेगा जैसे प्राप्तम् उदकम् यं स प्राप्तोदकः यहाँ दोनों पद प्रथमान्त है पर जहाँ एक पद प्रथमान्त और दूसरा अन्य विभक्तिक होगा वहाँ व्यधिकरण बहुव्रीहि होगा जैसे कण्ठे कालोयस्य यहाँ एक पद सप्तम्यन्त है ।

हलदन्तादिति—हलन्त और अदन्त से परे सप्तमी का अलुक् (लोप न) हो, संज्ञा अर्थ में ।

हलान्ताद् अदन्तात् सप्तम्या अलुक्। कण्ठेकालः। प्राप्त मुदकं यं प्राप्तोदको ग्रामः। ऊढरथोऽनड्वान्। उपहृतपशू रुद्रः। उद्धृतौदना स्थाली। पीताम्बरो-हरिः। वीर पुरुषकोग्रामः।

(वा) प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तर पदलोपः। प्रपतति पर्णः प्रपर्णः।

कण्ठेकालः—(नीलकण्ठ-पक्षी या शिव जी) कण्ठे कालो यस्य सः इस लौकिक एवं 'कण्ठ ङि काल सु' इस अलौकिक विग्रह में 'सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ' में सप्तमी ग्रहण रूप प्रमाण से व्यधिकरण बहुव्रीहि समास हुआ और इसी से सप्तम्यन्त कण्ठे का पूर्व प्रयोग हुआ, समासत्वात् प्रातिपदिक संज्ञा होने से ङि और सु विभक्तियों का लोप प्राप्त हुआ पर हलदन्तादिति सूत्र से सप्तमी के लोप का निषेध होने से केवल सु का लोप होकर 'कण्ठेकाल' इस अकारान्त प्रातिपदिक से प्र० एक व० में कण्ठेकालः, रूप बनता है।

'अनेक मन्य पदार्थे' सूत्र के अनुसार अनेक प्रथमान्तों का, जो कि अन्यार्थ में, अन्य विभक्तियों के अर्थ में वर्तमान हों, समास होता है, अर्थात् यह समास समानाधिकरण बहुव्रीहि होता है, अन्यार्थ में वर्तमान कहने से यह समास द्वितीयादि के अर्थ में होगा प्रथमा विभक्ति के अर्थ में नहीं क्योंकि प्रथमा विभक्ति तो समास के अन्दर ही है, अन्य नहीं। जिसके अर्थ में यह होता है उसका निर्देश विग्रह में यत् शब्द के द्वारा किया जाता है। द्वितीयार्थ से लेकर सप्तम्यर्थ तक के उदाहरण नीचे दिये गये हैं—

प्राप्तोदको ग्रामः—प्राप्तम् उदकं यं स (जिसको जल प्राप्त हो गया है, ऐसा ग्राम) यहाँ द्वितीयार्थ में प्राप्त और उदक प्रथमान्तों का अनेकेति सूत्र से समास, विभक्ति लोप होकर उक्त रूप बनता है। (बहुव्रीहि समास के शब्द प्रायः विशेषण होते हैं अतः समस्त पद में लिङ्ग वचन विशेष्यानुसार होते हैं।)

ऊढरथोऽनड्वान्—ऊढो रथो येन स (जिसने रथ चलाया है ऐसा बैल) यहाँ तृतीयार्थ में अनेकेति सूत्र से समास होकर उक्त रूप बना है।

उपहृतपशू रुद्रः—उपहृतः पशुः यस्मै स (जिसे पशु भेंट किया गया है ऐसे शिव जी) यहाँ चतुर्थ्यर्थ में समास है।

उद्धृतौदना स्थाली—उद्धृतम् ओदनं यस्याः सा (जिससे चावल निकाल लिये गये हैं ऐसी स्थाली) यहाँ पञ्चम्यर्थ में समास है।

पीताम्बरो हरिः—पीतम् अम्बरं यस्य स (जिसका वस्त्र पीला हो ऐसे हरि) यहाँ षष्ठ्यर्थ में समास है।

वीर पुरषको-ग्रामः—वीराः पुरुषा यस्मिन् स (जिसमें वीर पुरुष हों ऐसा ग्राम) यहाँ सप्तम्यर्थ में समास होकर समासान्त कप् प्रत्यय हुआ है।

वार्तिक-प्रादिभ्य इति—प्र आदि से परे धातु से बना हुआ जो शब्द तदन्त

(वा) नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः। अविद्यमान पुत्रः अपुत्रः।

स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रिया मपूरणी प्रियादिषु ।६।३।३४।।

उक्तपुंस्कादनूङ् ऊङोऽभावोऽस्यामिति बहुव्रीहिः निपातनात् पञ्चम्या अलुक् षष्ठ्याश्च लुक्। तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्ते यदुक्तपुंस्कं तस्मात्पर ऊङोऽभावो यत्र तथा भूतस्य स्त्रीवाचक शब्दस्य पुंवाचकस्येव रूपं स्यात्। समानाधिकरणे स्त्री लिङ्गे उत्तर पदे न तु पूरण्यां प्रियादौ च परतः। गोस्त्रियोरिति ह्रस्व—चित्रगुः। रूपवद्भार्यः। अनूङ् किम्-वामोरूभार्यः। पूरण्यां तु—

का अन्य पद के साथ समास होता है और पूर्वपद के अन्तर्गत उत्तरपद धातुज-धातु से बने हुये शब्द का लोप होता है, विकल्प से।

प्रपर्णः—प्रपतितानि पर्णानि यस्मात् स (जिससे पत्ते गिर गये हैं ऐसा वृक्ष) यहाँ 'प्र' से परे धातुज शब्द 'पतित' है, तदन्त शब्द-प्रपतित का पर्ण के साथ समास हुआ और इसी से 'पतित' का लोप विकल्प से होने पर प्रपर्णः तथा प्रपतित-पर्णः ये दो रूप बनते हैं।

वार्तिक-नञ् इति—नञ् से परे विद्यमानतार्थ वाचक जो पद तदन्त का अन्य पद के साथ समास हो और विकल्प से विद्यामानार्थक शब्द का लोप हो।

अपुत्रः—अविद्यमानः पुत्रो यस्य स-जिसका पुत्र विद्यमान न हो, यहाँ नञ् से पर विद्यमान शब्द है तदन्त अविद्यमान पद का पुत्र के साथ समाम, विद्यमान पद का विकल्प से लोप होने पर अपुत्रः और अविद्यमानपुत्रः रूप बनते हैं।

स्त्रिया इति—प्रवृत्तिनिमित्त समान होने पर जो शब्द उक्तपुंस्क है और उससे पर ऊङ् प्रत्यय नहीं है, ऐसे स्त्रीवाचक शब्द का पुल्लिङ्ग वाचक के समान रूप हो जाता है समानाधिकरण, स्त्रीलिङ्ग, उत्तर पद परे होने पर किन्तु पूरणी संख्या-प्रथमा आदि और प्रिया आदि शब्द परे होने पर नहीं।

सूत्र में 'भाषितपुंस्कादनूङ्' यह एक समस्त पद है। जिसका अर्थ है—उक्त पुंस्क शब्द से परे जहाँ ऊङ् प्रत्यय नहीं है। 'भाषितपुंस्क' यह पूर्वपद है और 'अनूङ्' यह उत्तर पद है, पूर्व पद की पञ्चमी विभक्ति का समास होने पर भी निपातन से लोप नहीं हुआ है। अनूङ्' इस उत्तर पद में बहुव्रीहि समास है—'ऊङ्ः अभावः यस्याम् (जिसमें ऊङ् का अभाव हो) इस प्रकार 'भाषितपुंस्कादनूङ्' इस समस्त पद के आगे षष्ठी विभक्ति है क्योंकि यह शब्द 'स्त्रियाः' का विशेषण है, पर इस षष्ठी का भी निपातन से लोप हो गया है अतएव इसका अर्थ होगा—भाषित पुंस्क शब्द से परे ऊङ् प्रत्यय रहित जो स्त्रीवाचक शब्द।

अप्पूरणीप्रमाण्योः ।५।४।११६।।

पूरणार्थ प्रत्ययान्तं यत्स्त्रीलिङ्गं तदन्तात् प्रमाण्यन्ताच्च बहुव्रीहेरप्स्यात् । कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः कल्याणी पञ्चमा रात्रयः । स्त्री प्रमाणी यस्य स स्त्रीप्रमाणः । अप्रियादिषु किम्—कल्याणीप्रियः' इत्यादि ।

भाषित पुंस्क का अर्थ है—'उक्त पुंस्क'—इसी का अर्थ वृत्तिकार ने 'तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्ते यदुक्तपुंस्कं तस्मात् पर' यह अर्थ किया है, अर्थात् प्रवृत्तिनिमित्त—प्रयोग का कारण अर्थात् जो शब्द समान निमित्त को लेकर पुल्लिङ्ग तथा अन्य लिङ्गों में प्रयुक्त होता है वह भाषितपुंस्क कहलाता है ।

चित्रगुः—चित्रा गावो यस्य—(जिसके चितकवरी गायें हो) यहाँ चित्रा और गौ इन प्रथमान्तों का षष्ठयर्थ में समास, विभक्ति लोप होकर प्रकृत सूत्र से स्त्रीवाचक चित्रा को पुंवद्भाव होगा जिसका फल स्त्रीलिङ्ग बोधक टाप् प्रत्यय की निवृत्ति हो जायेगी, चित्र रह जायेगा (यहाँ चित्रा शब्द चित्रत्व के कारण पुलिङ्ग स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग में भी प्रयुक्त होता है अतएव यह समान प्रवृत्तिनिमित्त वाला भाषितपुंस्क स्त्रीवाचक शब्द है, इसमें ऊङ् प्रत्यय भी नहीं है; गो पद में भी प्रथमा विभक्ति होने से समानाधिकरण, तथा गौ शब्द स्त्रीलिङ्ग भी है तथा यहाँ उत्तर पद गो, पूरणी संख्या (प्रथम द्वितीय तृतीय आदि पूरण प्रत्ययान्त) तथा प्रिया आदि भी नहीं है, 'चित्रगो' इस स्थिति में 'गोस्त्रियोः' सूत्र से गो के ओ को 'उ' ह्रस्व होगा । चित्रगु इस प्रातिपदिक से चित्रगुः यह प्रथमा विभक्ति का रूप वनेगा ।

रूपवद्भार्यः—रूपवती भार्या यस्य (जिसकी भार्या रूपवती हो) यहाँ समास होने पर प्रकृत सूत्र से 'रूपवती' शब्द को पुंवद्भाव होकर, रूपवद् तथा भार्या के आकार को 'गोस्त्रियोः' से ह्रस्व होकर रूपवद्भार्य इस प्रातिपदिक से रूपवद्भार्यः रूप बनता है ।

अनूङ् किमिति—सूत्र के अनुसार ऊङ् प्रत्ययान्त स्त्रीवाचक शब्द को पुवद्भाव नहीं होता अतः "वामोरूः भार्या यस्य (सुन्दर ऊरुओं वाली जिसकी भार्या हो) यहाँ 'वामोरू' शब्द में ऊङ् प्रत्यय है अतः भार्या के साथ समास होने पर पुंवद्भाव नहीं होता, ह्रस्व होकर वामोरूमार्यः से वामोरूभार्यः बनता है ।

पूरणी संख्या परे होने पर तो—

पूरणार्थक प्रत्ययान्त जो स्त्रीलिङ्ग शब्द तदन्त तथा प्रमाणी शब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त अप् प्रत्यय हो ।

कल्याणीपञ्चमाः रात्रयः—कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणाम्—जिन रात्रियों में पाँचवीं रात कल्याणदायिनी हो । यहाँ उत्तरपद—पञ्चमी । पूरणार्थ प्रत्ययान्त है, इसलिये पुंवद्भाव नहीं हुआ तब प्रकृत सूत्र से अप् (अ) प्रत्यय होकर 'यस्येति च'

बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच् ।५।४।११३।।

स्वाङ्गवाचि सक्थ्यक्ष्यन्ताद् बहुव्रीहेः षच् स्यात् । दीर्घसक्थः । जलजाक्षी । स्वाङ्गात् किम्—दीर्घसक्थि शकटम् । स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः । अक्ष्णोऽदर्शनात् ५।४।७६।। इति वक्ष्यमाणोऽच् ।

द्वित्रिभ्यां षः मूर्ध्नः ।५।४।११५।।

सूत्र से ईकार का लोप, स्त्रीत्व विवक्षा में टाप्, प्रथमा वि० में कल्याणी पञ्चमा रूप बना ।

स्त्रीप्रमाणः—स्त्री प्रमाणी यस्य (जिसे स्त्री प्रमाण हो) यहाँ भी प्रमाणीशब्दान्त होने से पुंवद्भाव न होगा, तब अच्, यस्येति च, ईकार लोप होकर 'स्त्री प्रमाणः' रूप बनता है ।

अप्रियादिष्विति—'स्त्रियाः पुंवद्भाषित०' सूत्र के अनुसार प्रिया आदि शब्द परे होने पर पुंवद्भाव नहीं होता अतः यहाँ कल्याणी प्रिया यस्य स इस विग्रह में प्रिया शब्द के उत्तर पद होने के कारण पुंवद्भाव न होगा, उत्तर पद को 'गोस्त्रियोः' से ह्रस्व होकर 'कल्याणी प्रियः' रुप बनेगा ।

जिसके अन्त में स्वाङ्गवाची सक्थि, और अक्षि शब्द हों ऐसे बहुव्रीहि से समासान्त षच् प्रत्यय हो ।

दीर्घसक्थः—दीर्घे सक्थिनी यस्य (जिसके ऊरु बड़े हों) यहाँ समास होने पर प्रकृत सूत्र से षच् (अ) प्रत्यय, यस्येति च इकार लोप, दीर्घसक्थ से प्र० एक० में 'दीर्घसक्थः' रूप बनता है ।

जलजाक्षी—जलजे इव अक्षिणी यस्याः सा (जिसकी आँखें कमल के समान हों) यहाँ समास होकर प्रकृत सूत्र से षच् प्रत्यय यस्येति चेति' इकार लोप, जलजाक्ष से, प्रत्यय के षित् होने के कारण 'षिद्गौरादिभ्यश्च' सूत्र से ङीष्, होकर उक्त रुप बना है ।

स्वाङ्गात्किमिति—प्राणी में स्थित अंग, स्वाङ्ग कहलाता है, अतः मूर्ति आदि के अंग, स्वाङ्ग न कहे जायेंगे, प्रकृत सूत्र स्वाङ्गवाची सक्थि तथा अक्षि से षच् प्रत्यय हो अतः—

दीर्घसक्थि—शकटम्—यहाँ षच् न होगा क्योंकि यहाँ सक्थि स्वाङ्गवाची न होकर शकट—'गाड़ी' के अंग का वाची है । एवं **स्थूलाक्षा** वेणुयष्टिः यहाँ भी स्थूले अक्षिणी यस्याः सा जिसकी बड़ी-बड़ी आँखें हों ऐसी वांस की छड़ी) अक्षि शब्द स्वाङ्ग वाची नहीं अतः षच् प्रत्यय न होकर 'अक्ष्णोऽदर्शनात्' इस अग्रिम सूत्र से अच् प्रत्यय होकर 'यस्येतिच' से इकार लोप होकर स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् 'स्थूलाक्षा' बनता है ।

द्वित्रिभ्यामितिः—द्वि और त्रि से परे मूर्धन् शब्द को समासान्त ष प्रत्यय हो, बहव्रीहि समास में ।

आभ्यां मूर्ध्नः षः स्यात्, बहुव्रीहौ । द्विमूर्धः । त्रिमूर्धः ।

अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः ।५।४।११७।।

आभ्यां लोम्नोऽप्स्याद् बहुव्रीहौ । अन्तर्लोमः । बहिर्लोमः ।

पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः ।५।४।१३८।।

हस्त्यादिवर्जिता दुपमानात्परस्य पादशब्दस्य लोपः स्याद् बहुव्रीहौ । व्याघ्रस्येव पादावस्य व्याघ्रपात् । अहस्त्यादिभ्यः किम्—हस्तिपादः । कुसूल पादः ।

संख्यासु पूर्वस्य ।५।४।१४०।।

द्विमूर्धः—द्वौ मूर्धानौ यस्य (जिसके दो सिर हों) यहाँ बहुव्रीहि समास, प्रकृत सूत्र से ष (अ) प्रत्यय, 'नस्तद्धिते' से अन् इस टि का लोप 'द्विमूर्ध इस अकारान्त समस्त शब्द से 'द्विमूर्धः' बनता है ।

त्रिमूर्धः—त्रयो मूर्धानः यस्य—पूर्ववत् ।

अन्तरिति—अन्तर् और बहिर, से परे लोमन् शब्द को समासान्त अप् प्रत्यय हो, बहुव्रीहि समास में ।

अन्तर्लोमः—अन्तर् अन्तर्गतानि लोमानि यस्य (जिसके लोम भीतर हों) समास, प्रकृत सूत्र से अप् प्रत्यय, 'अन्' इस टि का लोप, अन्तर्लोम' इस अकारान्त शब्द से प्र० एक व० में उक्त रूप बनता है ।

बहिर्लोम—बहिर्गतानि लोमानि यस्य (जिसके लोम बाहर हों) इसकी भी सिद्धि पूर्ववत् होगी ।

पादस्येति—हस्ति आदि से भिन्न उपमान से परे पाद शब्द के अन्त का समासान्त लोप हो, बहुव्रीहि समास में ।

व्याघ्रपात्—व्याघ्रस्य इव पादौ यस्य—जिसके पाद व्याघ्र के पाद के समान हों । यहाँ उपमान वाचक व्याघ्र से पर पाद शब्द के अन्त अकार का, समास करने के बाद, प्रकृत सूत्र से लोप होकर व्याघ्रपाद्, प्र० एक व० में तकार होकर व्याघ्रपात् बना है ।

अहस्त्यादिभ्यः किमिति—हस्त्यादि उपमानों से भिन्न उपमान से पर होने पर ही अकार का लोप होता है अतः—

हस्तिपादः—हस्तिनः इव पादौ यस्य इस विग्रह में हस्ति-उपमान से पर पाद के अन्त का लोप न होगा ।

कुसूल पादः कुसूलस्येव पादौ यस्य, यहाँ भी समासान्त अकार लोप न होगा अतः 'कुसूलपादः बनेगा ।

संख्येति—संख्या या सु जिसके पूर्व में हो ऐसे पाद शब्द के अन्त का समासान्त लोप हो, बहुव्रीहि समास में ।

पादस्य लोपः स्यात् समासान्तो बहुव्रीहौ । द्विपात् । सुपात् ।

उद्विभ्यां काकुदस्य ।५।४।१४८।।

लोपः स्यात् । उत्काकुत् । विकाकुत् ।

पूर्णाद्विभाषा ।५।४।१४९।। पूर्णकाकुत् । पूर्णकाकुदः ।

सुहृद् दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः ।५।४।१५०।।

सुदुर्भ्यां हृदयस्य हृभावो निपात्यते । सुहृन्मित्रम् । दुर्हृदमित्रम्।

उरः प्रभृतिभ्यः कप् ।५।४।१५१।।

सोऽपदादौ ।८।३।३८।।

द्विपात्—द्वौ पादौ यस्य (जिसके दो पैर हों) यहाँ समास होने के बाद संख्या पूर्व पाद के अकार का प्रकृत सूत्र से लोप होकर द्विपात्, एवं-सुपात्—शोभनौ पादौ यस्य जिसके सुन्दर पैर हों । यहाँ भी पूर्ववत् सभी कार्य होंगे ।

अद्विभ्यामिति—उद् और वि से परे काकुद शब्द के अन्त का समासान्त लोप हो, बहुव्रीहि में ।

उत्काकुत्—उद्गतं काकुदं यस्य (जिसका काकुद (तालु) उठ गया हो) यहाँ उद्+काकुद का समास, प्रकृत सूत्र से अन्त्य अकार लोप होकर उक्त रूप बनता है ।

विकाकुत्—विगतं काकुदं यस्य (जिसका तालु नष्ट हो गया हो) इसकी भी सिद्धि पूर्ववत् होगी ।

पूर्णादिति—पूर्ण शब्द से परे काकुद शब्द के अन्त का लोप विकल्प से हो ।

पूर्णकाकुत्—पूर्णं काकुदं यस्य (जिसका काकुद पूर्ण हो गया हो) यहाँ समासोत्तर प्रकृत सूत्र से दकार के अकार का लोप होकर पूर्ण काकुत्, लोपाभाव पक्ष में पूर्ण काकुदः यह रूप बनेगा ।

सुहृदिति—सु और दुर् से पर हृदय शब्द को हृत् आदेश निपातन से हो, क्रमशः मित्र और शत्रु अर्थ में, बहुव्रीहि समास में ।

सुहृत्—शोभनं हृदयं यस्म (जिसका हृदय स्वच्छ हो, अर्थात् मित्र) यहाँ समास होकर शब्द को प्रकृत सूत्र से हृत् आदेश होगा ।

दुर्हृत्—दुष्टं हृदयं यस्य (जिसका हृदय दुष्ट हो अर्थात् शत्रु) इसकी भी पूर्ववत् सिद्धि होगी ।

उर इति—उरस् आदि शब्दों से समासान्त कप् प्रत्यय हो, बहुव्रीहि में ।

स इति—पाश, कल्प, क और काम्य परे रहते विसर्ग को स होता है ।

पाश कल्पक काम्येषु विसर्गस्य सः ।

कस्कादिषु च ।८।३।४८।।

एष्विण उत्तरस्य विसर्गस्य षः स्यादन्यत्र तु सः । इति सः—व्यूढोरस्कः ।

इणः षः ।८।३।३९।।

इणः उत्तरस्य विसगस्य षः पाशकल्पक काम्येषु परेषु । प्रियसपिष्कः ।

निष्ठाः ।२।२।३६।।

निष्ठान्तं बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात् । युक्तयोगः ।

शेषाद्विभाषा ।५।४।१५४।।

अनुक्त समासान्ताद् बहुव्रीहेः कप् वा स्यात् । महायशस्कः । महायशाः ।

इति बहुव्रीहिः

कस्कादिष्विति—कस्क इत्यादिगणपठित शब्दों में इण् (प्रत्याहार) से परे विसर्ग को पत्व होता है तथा अन्य शब्दों को स होता है ।

व्यूढोरस्कः—व्यूढम् उरः यस्य (जिसका वक्षः स्थल विशाल हो) इस विग्रह में व्यूढ+उरस् का समास उर इति सूत्र से समासान्त कप् प्रत्यय, 'खरवसानयोरित्यादि सूत्र से (सकार को रुत्व होने पर) र् को विसर्ग, व्यूढोरः+क इस स्थिति में सोऽपदादौ सूत्र से विसर्ग को सकार होकर व्यूढोरस्कः रूप बनता है ।

कस्क आदि गणपठित शब्दों में तो षकार होता है, अन्यत्र सकार होता है, यह बताना ही यहाँ इस सूत्र के उल्लेख का प्रयोजन है ।

इण इति—इण् से परे विसर्ग को षकार होता है, पाश, कल्प, क, काम्य आदि परे रहते ।

प्रिय सपिष्कः—प्रियं सर्पिः यस्य (जिसको घृत प्रिय हो) इस विग्रह में समास करने के वाद, कप् प्रत्यय होकर, सर्पिस् के सकार को रुत्व विसर्ग होने पर प्रिय-सर्पिः+क इस दशा में प्रकृत सूत्र से इण्—'इ' से पर विसर्ग को पत्व होकर प्रिय सर्पिष्कः रूप बनता है ।

निष्ठेति—निष्ठा प्रत्ययान्त शब्द का पूर्व प्रयोग हो ।

युक्तयोगः—युक्तः योगः येन (जिसने योग धारण क्रिया हो) यहाँ समास होकर प्रकृत सूत्र से निष्ठा (क्त) प्रत्ययान्त युक्त शब्द का पूर्व प्रयोग होकर युक्तयोगः रूप बनता है ।

शेषादिति—जिससे किसी समासान्त प्रत्यय का विधान नहीं किया गया हो ऐसे बहुव्रीहि समास से कप् प्रत्यय विकल्प से हो ।

महायशस्कः—महत् यशः यस्य (जिसका बड़ा यश हो) यहाँ समास होने पर प्रकृत सूत्र से कप् प्रत्यय, (आन्महतः) सूत्र से महत् के तकार को आकार होकर महायशस्कः और कप् के अभाव पक्ष में महाशस् प्रातिपपिक से सु प्रत्यय, 'सु' का लोप' सकार से पूर्व अकार को दीर्घ, सकार का रुत्व विसर्ग होकर महायशाः प्र० एक व० में बनेगा।

इति बहुव्रीहि समासः

अथ द्वन्द्व समासः

चार्थे द्वन्द्वः ।२।२।२९।।

अनेकं सुवन्तं चार्थे वर्तमानं वा समस्यते; स द्वन्द्वः । समुच्चयान्वाचयेतरेतर-योग समाहाराश्चार्थः । तत्र 'ईश्वरं गुरुं च भजस्व' इति परस्पर निरपेक्षस्यानेकस्यै कस्मिन्नन्वयः समुच्चयः । 'भिक्षामट गां चानय' इति अन्यतरस्यानुषङ्गिकत्वेनान्वयोऽन्वा-चयः । अनयो रसामर्थ्यात् समासो न ।

धवखदिरौ छिन्धि इति । मिलिताना मन्वय इतरेतर योगः । 'संज्ञा इति समूहः परिभाषम्' समाहारः ।

चार्थे इति—च के अर्थ में वर्तमान अनेक सुवन्तों का विकल्प से समास हो और उस समास की द्वन्द्व संज्ञा हो ।

समुच्चयेति—समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतर योग और समाहार ये चार 'च' के अर्थ हैं ।

तत्रेतिः—परस्पर निरपेक्ष अनेक पदार्थों का एक पदार्थ में अन्वय होना **समुच्चय** कहलाता है जैसे ईश्वरं गुरुं च भजस्व' ईश्वर और गुरू का भजन करो । इस वाक्य में ईश्वर और गुरु पदार्थ एक दूसरे से निरपेक्ष हैं—एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखते पर दोनों का स्वतन्त्र रूप से भजन क्रिया में अन्वय है अतः यहाँ 'च' का प्रथम अर्थ है ।

जब उन पदार्थों में से, जिनका समुच्चय किया जा रहा है, एक का आनु-षङ्गिकतया—गौण रूप से अन्वय होता है तब उसे **अन्वाचय** कहते हैं जैसे 'भिक्षामट गां चानय 'भिक्षा माँगो और गाय को ले आओ' इस वाक्य में प्रधान कार्य माँगना है, 'भिक्षा माँगते हुए यदि गाय मिल जाय तो उसे भी लेते आना' इस प्रकार 'गाय का लाना' आनुषङ्गिक गौण—अमुख्य कार्य है अतः यहाँ 'च' का द्वितीय अर्थ है ।

अनयोरिति—समुच्चय और अन्वाचय इन दो अर्थों में सामर्थ्य न होने के कारण समास नहीं होता।

जहाँ अनेक पदार्थों का एक दूसरे के प्रति आकांक्षा होने से परस्पर सम्बन्ध होता है उसे सामर्थ्य माव्यपेक्षा कहते हैं समुच्चय में दोनों पदार्थ निरपेक्ष तथा अन्वाचय एक, एक आनुषङ्गिक और एक मुख्य होता है अतएव इन दोनों में परस्पर आकांक्षा न रहने के कारण सामर्थ्याभाव में समास नहीं होता है।

धवखदिराविति—परस्पर मिले हुये (साकांक्ष) पदार्थों का एक में अन्वय होना **इतरेतर योग**—कहलाता है (इतर=अन्य का इतर=अन्य के साथ सम्वन्ध) जैसे 'धवखदिरौ छिन्धि' (धव और खदिर को काटो) यहाँ इस वाक्य में धव और खदिर का एक साथ मिलकर 'काटना' क्रिया में अन्वय होने से यहाँ दो परस्पर साकांक्ष पदों का इतरेतर योग है। फिर भी दोनों का अपना-अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी रहता है अतएव समासोत्तर इनमें द्विवचन का प्रयोग किया जाता है।

समाहार का अर्थ है—समूह, जैसे 'संज्ञापरिभाषम्' संज्ञा और परिभाषा का समूह। यहाँ संज्ञा और परिभाषा को समुदाय रूप में एक मान लिया जाता है, अर्थात् इनका अपना-अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं रहता अपितु दोनों का मिलकर एक समूह के रूप में अन्य अर्थ के साथ अन्वय होता है।

धवखदिरौ—(धव और खदिर) धवश्च खदिरश्च इस लौकिक तथा 'धव सु+खदिर सु। इस अलौकिक विग्रह में इतरेतर योग' में 'चार्थे द्वन्द्वः' से समास, विभक्ति लोप होकर 'धवखदिर' यह समस्त पद बनता है, पुनः प्रातिपदिक संज्ञा होने से औ विभक्ति लाई जायेगी क्योंकि इतरेतर योग समास में पदार्थों का स्वतन्त्र व्यक्तित्व रहता है। अतः 'धवखदिरौ' यह प्रथमा द्विवचन का रूप होगा।

द्वन्द्व समास दो से अधिक पदों में भी होता है अतः अन्त में वहुवचन का भी प्रयोग होता है।

संज्ञा परिभाषम्—(संज्ञा और परिभाषा का समूह) 'संज्ञा च परिभाषा च' तयोः समाहारः, इस विग्रह में समास होने पर विभक्ति लोप, संज्ञापरिभाषा इस समस्त पद से प्रथमा एक वचन में सुप्रत्यय होगा। समाहार समास में सदा नपुंसक लिङ्ग एक वचन ही होता है अतः यहाँ नपुंसक लिङ्ग ही होगा, नपुंसक लिङ्ग होने "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" से आकार को ह्रस्व होकर संज्ञापरिभाष वन जायेगा तब नपुं० में सु का अमादेश होकर उक्त रूप वनेगा।

(द्वन्द्व समास के दो या दो से अधिक पद प्रधान रहते हैं 'उभय पदार्थ प्रधान द्वन्द्व समास होता है' ऐसा वतलाया जा चुका है अतः किस पद को पूर्व में रखा जाय ? इस प्रश्न के समाधान के लिये यहाँ उपसर्जन संज्ञा से काम न चल सकेगा

राजदन्तादिषु परम् ।२।२।३१।।

एषु पूर्व प्रयोगार्हं परं स्यात् । दन्तानां राजा राजदन्तः ।

(वा) धर्मादिष्वनियमः ।

अर्थधर्मौ, धर्मार्थावित्यादि ।

द्वन्द्वे घि ।२।२।३२।।

द्वन्द्वे घि संज्ञं पूर्वं स्यात् । हरिश्च हरश्च हरिहरौ ।

अजाद्यन्तम् ।२।२।३३।।

क्योंकि समास शास्त्र 'चार्थे द्वन्द्वः' इस सूत्र में 'अनेक मन्य पदार्थे' से 'अनेकम्' की अनुवृत्ति है अतः 'अनेकम्' इस प्रथमान्त से बोध्य सभी प्रथमान्त पद हो जायेंगे तो फिर किसका पूर्व प्रयोग किया जाय ? इसका समाधान यह है कि उन प्रयोगों को छोड़कर जिनके लिये विशेष नियम सूत्र हैं, सर्वत्र स्वेच्छानुसार किसी का भी पूर्व-प्रयोग किया जा सकता है ।

राजदन्ता दिष्विति—राजदन्त आदि शब्दों में जिस शब्द का पूर्व प्रयोग प्राप्त हो, उसका पर प्रयोग हो ।

राजदन्तः—दन्तानां राजा (दांतों का राजा) इस विग्रह में यहाँ 'षष्ठी' सूत्र से समास होता है, फलतः 'षष्ठी' इस प्रथमान्त से बोध्य 'दन्त' की उपसर्जन संज्ञा होने से उसीका पूर्व प्रयोग प्राप्त था, पर प्रकृत सूत्र से उसका पर प्रयोग होने से 'राजदन्तः' यह रूप बनेगा ।

वार्तिक धर्मादिष्विति—धर्म अर्थ आदि शब्दों में किसको प्रथम रखा जाय ? इसका नियम नहीं है, किसी को भी इच्छानुसार पूर्व या पर में रखा जा सकता है ।

अर्थधर्मौ—(अर्थ और धर्म) अर्थश्च धर्मश्च, अर्थ सु+धर्म सु इस विग्रह में इतरेतर योग अर्थ में द्वन्द्व समास, विभक्ति लोप होकर, वार्तिक द्वारा पूर्व प्रयोग विषयक नियम न होने से अर्थधर्मौ तथा धर्मार्थौ, ये दोनों ही रूप बनेंगे ।

द्वन्द्वे इति—द्वन्द्व समास में घि संज्ञक पद का पूर्व प्रयोग होता है ।

हरिहरौ—हरिश्च हरश्च (हरि=विष्णु 'हर=शिव) हरि सु+हर सु' इस विग्रह में इतरेतर योग में द्वन्द्व समास होकर घि संज्ञक हरि शब्द का प्रकृत सूत्र से पूर्व प्रयोग होने से "हरिहरौ" यह रूप बनता है ।

(पाणिनि मुनि ने 'शेषो घ्यसखि "सूत्र के द्वारा सखि शब्द को छोड़कर प्रायः इकारान्त उकारान्त शब्दों की घि संज्ञा की है । अतः इकारान्त होने से 'हरि की घि संज्ञा है)

अजादीति—द्वन्द्व समास में अजादि अदन्त पद का पूर्व प्रयोग हो अर्थात् जो पद अजादि (स्वरादि) तथा अदन्त (ह्रस्व अकारान्त हो) उसका पूर्व प्रयोग हो ।

इदं द्वन्द्वे पूर्वं स्यात् । ईश कृष्णौ ।

अल्पाच्तरम् । शिव केशवौ ।।

पिता मात्रा ।१।२।७०।।

मात्रा सहोक्तौ पिता वा शिष्यते । माता च पिता च पितरौ; माता पितरौ वा ।

ईश कृष्णौ—ईशश्च कृष्णश्च (ईश और कृष्ण) ईश सु+कृष्ण सु इस विग्रह में इतरेतर योग द्वन्द्व समास, अजादि तथा अकारान्त 'ईश' शब्द का प्रकृत सूत्र से पूर्व प्रयोग होकर उक्त रूप बनता है ।

अल्पाजिति—द्वन्द्व समास में उस पद का पूर्व प्रयोग हो जिस में दूसरे की अपेक्षा अल्प अच् (स्वर) हों ।

शिवकेशवौ—शिवश्च केशवश्च (शिव और केशव) शिव सु+केशव सु इस विग्रह में इतरेतर द्वन्द्व समास, केशव की अपेक्षा अल्प अच् वाले शिव का पूर्व प्रयोग होकर उक्त रूप बनता है ।

पितेति—मातृ शब्द के साथ कथन होने पर पितृ शब्द विकल्प से शेष रहता है ।

पितरौ—माता च पिता च (माता और पिता) इस विग्रह में यहाँ माता के साथ पिता का कथन है, दोनों पदों का इतरेतर द्वन्द्व समास होने पर प्रकृत्त सूत्र के अनुसार पितृ पद शेष रहेगा । पर 'यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी भवति' जो शेष रहता है वह लोप होने वाले का भी अर्थ बतलाता है । इस सिद्धान्त के अनुसार शेष बचा हुआ पितृ शब्द, माता का भी अर्थ बतलायेगा जिसका कि समासोत्तर लोप हो गया है । अतः एक ही पितृ शब्द के माता और पिता इन दो प्रातिपदिकों के अर्थ को बोधित करने के कारण इसके आगे दो वचन का प्रयोग होगा अतः 'पितरौ' रूप बनेगा ।

माता-पितारौ—माता च पिता च (माता और पिता) यहाँ एक शेष के वैकल्पिक होने के कारण उसके अभाव पक्ष में समास होने पर मातृ-पितृ इस स्थिति में 'पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते' गौरव की दृष्टि से माता, पिता की अपेक्षा दशगुना अधिक श्रेष्ठ है इत्यादि बचनों के अनुसार 'अभ्यर्हितं च' इस वार्तिक के द्वारा पूज्य होने के कारण मातृ शब्द का पूर्व प्रयोग होगा, तब मातृ-पितृ इस दशा में "आनङ् ऋतो द्वन्द्वे" इस से मातृ शब्द के ऋकार को आनङ् आदेश होकर तथा न लोप होकर 'माता पितृ' यह रूप बनेगा, तब दो का प्रातिपदिक होने से इसके आगे दो वचन का प्रयोग होकर "माता-पितरौ" यह रूप बनेगा ।

(इन समासों को जिनमें एक शेष रहता है 'एक शेष' समास कहते हैं ।

द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य सेनाङ्गानाम् ।२।४।२।।

एषां द्वन्द्व एकवत् । पाणिपादम् । मार्दङ्गिक वैणविकम् । रथिकाश्वारोहम् ।

द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे ।५।४।१०६।।

चवर्गान्ताद् दषहन्ताच्च द्वन्द्वा टृच् स्यात् समाहारे । वाक् च त्वक् च वाक्त्वचम् । त्वक्स्रजम् । शमीदृषदम् । वाक्त्विषम् । छत्रोपानहम् । समाहारे किम्-प्रावृट् शरदौ ।

इति द्वन्द्वः

यह कोई पृथक् समास नहीं है अपितु यह 'एक शेष वृत्ति' नाम की एक विशेष विधि है ।)

द्वन्द्वश्चेति—प्राणी तूर्य (बाजे) और सेना इनके अंगों के वाचक शब्दों का द्वन्द्व समास एक वचनान्त हो ।

वास्तव में यह सूत्र एक प्रकार से नियम सूत्र है एक वचनान्त कहने का तात्पर्य यह है कि इन शब्दों का समाहार द्वन्द्व समास ही हो, समाहार द्वन्द्व होने से स्वभावतः नपुंसक लिङ्ग एक वचन होगा ही, अतः सूत्र का तात्पर्य समाहार द्वन्द्व नियमार्थ है, इनसे इतरेतर द्वन्द्व न होगा ।

पाणि पादम्—पाणी च पादौ च (हाथ और पैर) यहाँ हाथ और पैर प्राणी के अंग हैं, अतः इनका समाहार द्वन्द्व समास होने पर द्वन्द्वश्चेति सूत्र से एक वचनान्त होने के कारण तथा समाहार के नपुं० लिग होने के कारण 'पाणिपादम्' यह रूप बनेगा ।

मार्दङ्गिकवैणविकम्—मार्दङ्गिकश्च वैणविकश्च (मृदंग बजाने वाला और वेणु बजाने वाला) यहाँ इन शब्दों के तूर्य (वाद्य) के अंग होने के कारण समाहार द्वन्द्व समासोत्तर, प्रकृत सूत्र से एक वचनान्त होने से 'मार्दङ्गिक वैणविकम्' रूप बनता है ।

रथिकाश्वारोहम्—रथिकाश्च अश्वारोहाश्च (रथिक और घुड़सवार) यहाँ इन दोनों शब्दों के सेनांग होने के कारण समाहार द्वन्द्व समासोत्तर प्रकृत सूत्र के अनुसार एक वचन में उक्त रूप बनता है ।

द्वन्द्वादिति—चवर्गान्त, दकारान्त, षकारान्त, और हकारान्त द्वन्द्व समास से समासान्त टच् प्रत्यय हो समाहार द्वन्द्व में ।

वाक्त्वचम्—वाक् च त्वक् च तयोः समाहारः (वाणी और त्वचा का समुदाय) यहाँ वाच् और त्वच् पदों का समाहार द्वन्द्व समास होने पर चवर्गान्त होने के कारण प्रकृत सूत्र से समासान्त टच् (अ) प्रत्यय होकर 'वाक्त्वच' ऐसा अकारान्त समस्त पद बनता है, समाहार होने के कारण नपुं० एक वचन में उक्त रूप बनता है ।

त्वक् स्रजम्—त्वक् च स्रक् च तयोः समाहारः (त्वचा और माला) यहाँ पूर्ववत् समास, पूर्व चकार को 'चोः कुः' से कुत्व, स्रज् के जकार के चवर्ग होने के कारण प्रकृत सूत्र से टच् प्रत्यय, शेष कार्य पूर्ववत् होकर उक्त रूप बनता है।

शमीदृषदम्—शमी च दृषद् च तयोः समाहारः (शमी और पाषाण) यहाँ पूर्ववत् समास दृशद् के दकारान्त होने से प्रकृत सूत्र से टच्, शेष कार्य पूर्वत्त् होकर उक्त रूप बनता है।

वाक्त्विषम्—वाक् च त्विट् च तयोः समाहारः (वाणी और कान्ति) पूर्ववत् समास, त्विष् शब्द के षकारान्त होने से प्रकृत सूत्र से टच्, शेष कार्य पूर्ववत् होकर उक्त रूप बनता है।

छत्रो पानहम्—छत्रञ्च उपानच्च तयोः समाहारः (छत्र और जूते) यहाँ छत्र और उपानह् का पूर्ववत समास, हकारान्त होने से प्रकृत सूत्र से टच्, शेष कार्य पूर्ववत् होकर उक्त रुप बनता है।

समाहारे किमिति—सूत्र द्वारा समाहार द्वन्द्व में ही टच् प्रत्यय का विधान है। अतः 'प्रावृट् च शरच्च' इस इतरेतर योग द्वन्द्व में टच् प्रत्यय न होने से 'प्रावृट् शरदौ' यह रूप बनेगा।

इति द्वन्द्व समास

अथ समासान्ताः

ऋक्पूरब्धूः पथा मानक्षे ।५।४।७४।।

अ अनक्षे इतिच्छेदः । ऋगाद्यन्तस्य समासस्य अ प्रत्ययोऽन्तावयवः । अक्षे या धूस्तदन्तस्य तु न । अधर्चः । विष्णुपुरम् । विमलापं सरः । राजधुरा । अक्षे तु— अक्षधूः, दृढधू रक्षः । सखिपथः । रम्यपथो देशः ।

ऋक्पूरिति—ऋच्, पुर्, अप्, धुर्, और पथिन् शब्द जिनके अन्त में हों, उस समास को समासान्त अ प्रत्यय हो, परन्तु अक्ष (रथ के चक्र का मध्य भाग) में जो धुर् (धुरी) तदन्त शब्द से 'अ' प्रत्यय न हो । सूत्र में 'आनक्षे' पद में अ+अनक्षे ऐसा पदच्छेद है, जिसका अर्थ है, इन शब्दों के अन्त वाले शब्दो से 'अ' प्रत्यय हो पर अक्ष में जो धुर् वहाँ न हो ।

अर्धर्चः—अर्धम् ऋचः (ऋचा का आधा) यहाँ 'अर्धं नपुंसकम्' सूत्र से समास, ऋच् शब्दान्त होने से प्रकृत सूत्र से 'अ' प्रत्यय होकर, अर्धर्च इस अकारान्त शब्द से 'अर्धर्चादयः पुंसि च' इससे पुल्लिङ्ग में होने के कारण 'अर्धर्चः' रुप बनता है ।

विष्णु पुपम्—विष्णोः पूः इति विष्णुपुरम् (विष्णु की नगरी) यहाँ षष्ठी तत्पुरुष समास, प्रकृत्त सूत्र से 'अ' प्रत्यय होकर विष्णुपुर इस अकारान्त प्रातिपदिक से नगर वाचक होने से नपुंसक लिङ्ग होने से 'विष्णु पुरम्' रूप बना है ।

विमलापं सरः—विमला आपः यत्र (जहाँ निर्मल जल हों वह सरोवर) यहाँ बहुव्रीहि समास, प्रकृत सूत्र से 'अ' प्रत्यय होकर "विमालाप" इस अकारान्त से 'सरः' का विशेषण होने से नपुंसक लिङ्ग में 'विमलापम्' रूप बनता है ।

राजधुरा—राज्ञः धूः (राजा का भार) यहाँ षष्ठी तत्पुरुष समास, प्रकृत सूत्र से अ प्रत्यय, राजन् के नकार का लोप होकर राजधुर इस अकारान्त शब्द से स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् प्रत्यय होकर राजधुरा रूप बनता है ।

अक्ष्णोऽदर्शनात् ।५।४।७६।।

अचक्षुः पर्यायादक्ष्णोऽच्स्यात् समासान्तः । गवामक्षीव गवाक्षः ।

उपसर्गादध्वनः ।५।४।८५।।

प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः ।

न पूजनात् ।५।४।६९।।

पूजनार्थात् परेभ्यः समासान्ता न स्युः ।

(वा) स्वस्तिभ्यामेव । सुराजा । अतिराजा ।

इति समासान्ताः

अक्षेतु-अक्षधूः—सूत्र द्वारा अक्ष की धुर् के लिये 'अ' प्रत्यय का विधान न करने के कारण 'अक्षधूः' यहाँ 'अ' प्रत्यय नहीं हुआ, रकार को विसर्ग होकर 'अक्षधूः' रूप बना है, यहाँ भी षष्ठी तत्पुरुष समास है ।

दृढधूः—अक्षः—दृढा धूर्यस्य (जिसकी धुरा दृढ़ हो ऐसा अक्ष) यहाँ बहुव्रीहि समास में भी 'अ' प्रत्यय न होने से 'दृढधूः' यही रूप बना है ।

सखि पथ—सख्युः पन्थाः (मित्र का मार्ग) यहाँ षष्ठी तत्पुरुष समास में सखिपथिन् से प्रकृत सूत्र से 'अ' प्रत्यय; भ संज्ञा, 'भस्य टेर्लोपः' से इन् इस 'टि' का लोप होकर 'सखि पथ' इस अकारान्त शब्द से उक्त रूप बनता है ।

रम्य पथः—रम्याः पन्थानो यत्र-जिसमें रमणीक मार्ग हों ऐसा देश । यहाँ बहुव्रीहि समास में प्रकृत सूत्र से 'अ' प्रत्यय, टि लोप होकर 'रम्य पथः' रूप बना है ।

अक्ष्ण इति—नेत्र वाचक से भिन्न अक्षि शब्द से समासान्त अच् प्रत्यय हो ।

गवाक्षः—गवाम् अक्षि इव—गायों की आँखों जैसा, गवाक्ष झरोखा खिड़की आदि । यहाँ अक्षि शब्द नेत्र वाचक नहीं है क्योंकि उसका यहाँ उपमान के रूप में प्रयोग हुआ है । अतः प्रकृत सूत्र से यहाँ 'अच्' प्रत्यय, 'यस्येति च' से इकार लोप होकर, गो+अक्ष=अवादेश गवाक्ष से प्र० एक व० में 'गवाक्षः' रूप बनता है ।

उपसर्गादिति—उपसर्ग से परे अध्वन् शब्द को समासान्त अच् प्रत्यय हो ।

प्राध्वः—प्रगतः अध्वानम् (मार्ग पर चला हुआ जो रथ) यहाँ पर प्र+अध्वन् का 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इस वार्तिक से प्रादि समास होकर, प्रकृत सूत्र से अच् प्रत्यय, अन् इस 'टि' का लोप होकर प्राध्व इस अकारान्त प्रातिपदिक से 'प्राध्वः' यह रूप बनता है ।

न पूजनादिति—प्रशंसा सूचक शब्दों से परे, समस्त पदों से समासान्त प्रत्यय न हो ।

कृत्याः ७।१।६५।।

'ण्वुल् तृचौ'' इत्यतः प्राक् कृत्यसंज्ञाः स्युः ।

कर्तरि कृत् ३।४।६७।।

कृत्प्रत्ययः कर्तरि स्यात् । इति प्राप्ते ।

जैसे यत् ण्यत् क आदि प्रत्यय । असरूप—अर्थात् वे प्रत्यय जो दूसरे से स्वरूपतः भिन्न हैं ।

सामान्य नियमानुसार सभी अपवाद प्रत्यय अपने उत्सर्ग प्रत्ययों के, अपने स्थल में, नित्य बाधक होते हैं, पर इस प्रकरण में उत्सर्ग अपवाद प्रत्ययों के लिये यह विशेष नियम है कि जो असरूप अपवाद प्रत्यय हैं, वे उत्सर्ग प्रत्ययों के विकल्प से बाधक होंगे, नित्य नहीं, जैसे इसी प्रकरण में तव्यत् तव्य अनीयर् प्रत्यय हैं, जो कि सभी प्रकार की धातुओं से हो सकते हैं अतएव ये उत्सर्ग प्रत्यय हैं, यत् तथा ण्यत् प्रत्यय भी इसी प्रकरण के हैं, पर वे विशेष धातुओं से ही होते हैं अतएव वे अपवाद प्रत्यय हैं, साथ ही, ये प्रत्यय स्वरूपतः उत्सर्ग प्रत्ययों से भिन्न भी हैं, क्योंकि अनुबन्ध लोप होने पर उत्सर्ग प्रत्ययों का तव्य, अनीय शेष रहता है और अपवाद प्रत्ययों का य शेष रहता है, अतः ण्यत् यत् आदि प्रत्यय उक्त प्रत्ययों के विकल्प से बाधक होंगे अतः कृ. धातु से कर्तव्यम् करणीयम् तथा कार्यम् भी रूप बनेंगे ।

परन्तु सरूप (समान रूप वाले जैसे अण् और क प्रत्यय, क्योंकि अनुबन्ध लोप होने पर इन दोनों का 'अ' शेष रहता है) प्रत्यय उत्सर्ग के नित्य बाधक होंगे । 'कर्मण्यण्' से अण् प्रत्यय होता है वह उत्सर्ग प्रत्यय है, क्योंकि कर्म उपपद रहते वह किसी भी धातु से हो सकता है, क प्रत्यय अपवाद प्रत्यय है क्योंकि वह कुछ विशेष धातुओं से ही होता है अतः क 'प्रत्यय' अण् प्रत्यय का नित्य बाधक होगा । जैसे 'गाम् ददाति गोदः' यहाँ गोदः में क प्रत्यय है, यहाँ 'गाम्' इस कर्म के उपपद रहते अण् प्रत्यय भी हो सकता था पर क प्रत्यय उसका नित्य बाधक हो जायेगा अतः गोदः आदि क प्रत्यय के स्थल में अण् प्रत्यय न हो सकेगा ।

परन्तु उत्सर्ग अपवाद का यह बाध्य बाधक भाव नियम 'स्त्रियाँ क्तिन्'' इस सूत्र से अधिकार में विहित स्त्री प्रत्ययों में नहीं लगता है, अर्थात् यहाँ अपवाद प्रत्यय उत्सर्ग के नित्य बाधक रहेंगे, जैसे चिकीर्षा आदि प्रयोगों में 'अ प्रत्ययात्' सूत्र से अ प्रत्यय होता है, वहाँ क्तिन् प्रत्यय (उत्सर्ग प्रत्यय) न हो सकेगा ।

कृत्या इति—'ण्वुल् तृचौ' इस आगे वाले सूत्र से पहिले के सभी प्रत्ययों की कृत्य संज्ञा होती है, अर्थात् ये सभी प्रत्यय कृत्य प्रत्यय कहलायेंगे ।

कर्तरीति—कृत् प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में हों । इससे सभी प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में प्राप्त हुये—

तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः ३।४।७०।।

एते भावकर्मणो रेव स्युः ।

तव्यत्तव्यानीयरः ।३।१।६६।।

धातो रेते प्रत्ययाः स्युः । एधितव्यम्, एधनीयं त्वया । भावे औत्सर्गिक मेकः बचनं क्लीबत्वञ्च । चेतव्यश्चयनीयो वा धर्मस्त्वया ।

तयोरिति—कृत्य क्त और खलर्थ प्रत्यय भाव और कर्म में ही हों, अर्थात् ये प्रत्यय कर्त्ता में न हों ।

(अतएव इन प्रत्ययों के भाव और कर्म में होने के कारण कर्त्ता के अनुक्त होने से, कर्त्ता में तृतीया तथा सकर्मक धातुओं के कर्म में प्रथमा विभक्ति होती है।)

तव्यदितिः—धातु से तव्यत् तव्य और अनीयर् प्रत्यय हों ।

(तव्यत् और तव्य दोनों ही प्रत्ययों के योग में शब्द रूप एक सा ही बनता है, केवल वैदिक स्वर भेद ही होता है, तव्यत् के अन्तिम त् की और अनीयर् के रेफ की इत् संज्ञा होती है और उनका लोप हो जाता है ।)

एधितव्यम्, एधनीयम् त्वया (तुझे बढ़ना चाहिये) वृद्ध्यर्थक (बढ़ने अर्थ में) एध, धातु से तव्यत् तव्य तथा अनीयर् प्रत्यय करने पर, तव्यत् प्रत्यय द्वारा वलादि आर्ध धातु के परे होने के कारण इट् का आगम हुआ (इट् में केवल 'इ' शेष रहता है, अनीयर् प्रत्यय करने पर इट् न होगा क्योंकि वह वलादि (वल् प्रत्याहार) नहीं है, एधितव्य और एधनीय ऐसी स्थिति में 'कृत्तद्धित समासाश्च सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा करने पर सु प्रत्यय, नपुंसक लिङ्ग में सु को अम् आदेश करने पर उक्त रूप सिद्ध होंगे ।

"आर्ध धातुकस्येड् बलादेः" वल प्रत्याहार जिसके आदि में हो, ऐसे आर्ध धातुक प्रत्यय के आगे रहने पर सेट् धातु को इट् का आगम हो, इस सूत्र से तव्यत् द्वारा वलादि आर्धधातुक प्रत्यय के आगे रहने पर इट् आगम हुआ । सेट् अनिट् धातुओं का परिगणन तिङन्तप्रकरण में किया गया है, सर्वत्र उसी के अनुसार सेट् व अनिट् धातुओं का परिचय प्राप्त करना चाहिये । तिङ् शित (शकारेत्संज्ञक) प्रत्ययों को छोड़कर शेष प्रत्यय आर्धधातुक कहे जाते हैं ।

भाव इति—भाव में सामान्यतः एक वचन और नपुंसकलिङ्ग होता है ।

(प्रत्ययों के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि अकर्मक धातुओं से प्रत्यय कर्त्ता या भाव में तथा सकर्मक से कर्त्ता व कर्म में होते हैं, जहाँ कर्म में या भाव में प्रत्यय होगा वहाँ अनुक्तकर्त्ता में तृतीया विभक्ति होगी, जहाँ सकर्मक धातु से कर्त्ता

(वा) केलिमर उपसंख्यानम् । पचेलिमा माषाः, पक्तव्या इत्यर्थः । भिदेलिमाः सरलाः भेत्तव्या इत्यर्थः । कर्मणि प्रत्ययः ।

में प्रत्यय होगा वहाँ कर्त्ता उक्त हो जाने से कर्त्ता में प्रथमा व कर्म में द्वितीया होगी इसी प्रकार सकर्मक से कर्म में प्रत्यय होने पर कर्म में प्रथमा विभक्ति होगी)

एध धातु अकर्मक है और तयोरेवेति सूत्र के नियम के अनुसार सभी कृत्य प्रत्यय अकर्मक से भाव में और सकर्मक से कर्म में होंगे अतः यह भाव में प्रत्यय हुए हैं। भाव में प्रत्यय करने पर सर्वत्र एक वचन नपुंसक लिङ्ग होता है अतएव एधनीयम् एधितव्यम् में नपुंसक लिङ्ग एक वचन है, 'त्वया' यह कर्त्ता में तृतीया है।

चेतव्यश्चयनीयो वा धर्मस्त्वया (तुझे धर्म अर्पित करना चाहिये) यहाँ चिञ् (चुनना-सकर्मक) धातु से कर्म में तव्य और अनीयर् प्रत्यय करने पर इकार को 'ए' गुण होने से चेतव्य तथा अनीयर् के आगे रहने पर एकार को अयादेश करने पर चयनीय रूप बनेंगे (कृदन्तत्वात् प्रातिपदिक संज्ञा-सु प्रत्यय, 'धर्मः' इस शब्द के पुंल्लिग एक वचन होने से, चेतव्य और चयनीय के आगे भी रुत्वविसर्ग होकर उक्त रूप सिद्ध होंगे।

(वा) कर्म व भाव में तव्यत् आदि के समान केलिमर प्रत्यय का भी उप-संख्यान (कथन) करना चाहिये।

(केलिमर् प्रत्यय के ककार और रेफ इत् संज्ञक हैं, एलिम शेष रहता है)

इस प्रकरण में कई स्थानों पर गुण की आवश्यकता पड़ेगी। अतः 'गुण' के प्रयोग को समझ लेना चाहिये। इस प्रकरण में गुण करने वाले मुख्यतया दो सूत्र हैं "सार्वधातुकार्धधातुकयोः" अर्थात् सार्वधातुक या आर्धधातुक प्रत्ययों के आगे रहने पर इगन्त अङ्ग (इक् प्रत्याहार जिसके अन्त में हो ऐसा शब्द स्वरूप) को गुण होता है तथा दूसरा सूत्र है "पुगन्त लघूपधस्य च" अर्थात् पुगन्त (पुक् आगम जिसके अन्त में हो) और लघूपध (जिसको उपधा में लघु हो) अङ्ग के इक् को गुण हो सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्ययों के आगे रहने पर। स्वरान्त (इ उ ऋ ऌ) अन्त वाली धातुओं में प्रथम सूत्र से तथा लघूपध धातुओं में द्वितीय सूत्र से सर्वत्र गुण समझना चाहिए।

पचेलिमाः माषाः—(माष (उरद) पकाने योग्य हैं) यहाँ पच् (पकाना सकर्मक) धातु से केलिमर् (एलिम) प्रत्यय होने पर पचेलिम बना, कर्म में प्रत्यय होने से कर्म (माषाः) के अनुसार पुल्लिङ्ग तथा बहुवचन में पचेलिमाः रूप बना।

भिदेलिमाः सरलाः—(सरल वृक्ष काटने चाहिये) यहाँ भी पूर्ववत् भिद (तोड़ना-काटना सकर्मक) धातु से केलिमर प्रत्यय होने पर भिदेलिम, 'सरलाः' कर्म के अनुसार पुल्लिङ्ग बहुवचन में भिदेलिमा रूप बनता है।

कृत्यल्युटो बहुलम् ।३।३।११३।।

क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः, क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव । विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य, चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ।।

स्नात्यनेन स्नानीयम् चूर्णम् । दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः ।

अचो यत् ।३।१।९७।।

अजन्ताद्धातोर्यत् स्यात् । चेयम् ।

ईद्यति ।६।४।६५।।

यति परे आत् ईत् स्यात् । देयम् । ग्लेयम् ।

मूल में पचेलिमाः का अर्थ पक्तव्याः तथा भिदेलिमाः का अर्थ भेत्तव्याः लिखा गया है ।

कर्मणीति—उक्त दोनों प्रयोगों में धातुओं के सकर्मक होने से कर्म में प्रत्यय हुए हैं ।

कृत्येति—कृत्य एवं ल्युट् प्रत्यय बहुलता से होते हैं ।

बहुल शब्द का अर्थ है—बहुत प्रकार से होना आगे इसी बहुलता का वर्णन है—

क्वचिदिति—कहीं विधि की नित्य प्रवृत्ति होना, कहीं न होना, कहीं विकल्प से प्रवृत्ति होना और कहीं कुछ अन्य ही प्रकार का हो जाना । इस प्रकार विधि का बहुत प्रकार का विधान देखकर बाहुलक को (विद्वान्) चार प्रकार का कहते हैं ।

स्नानीयम्—चूर्णम् (जिससे स्नान किया जाता है वह चूर्ण स्नानीय कहलाता है) यहाँ स्ना (पवित्र होना-अकर्मक) धातु से करण अर्थ में (बाहुलकात्) अनीयर् प्रत्यय होकर 'स्नानीयम्' रूप बना ।

दानीयः विप्रः (देने योग्य ब्राह्मण, जिसे दिया जाय) यहाँ दा (देना सकर्मक) धातु से सम्प्रदान अर्थ में अनीयर् प्रत्यय होकर दानीयः रूप बना ।

इन दोनों प्रयोगों में क्रमशः करण एवं सम्प्रदान में प्रत्यय हुये हैं जो कि किसी अन्य सूत्र से नहीं हो सकते थे । अतः बाहुलक नियम से ये प्रत्यय हुये हैं ।

अच इति—अजन्त धातुओं से यत् प्रत्यय हो ।

चेयम्—(चुनने योग्य) चिञ् (चुनना सकर्मक) धातु से यत् प्रत्यय, गुण, चेय, प्रातिपदिक संज्ञा, सामान्य में नपुंसक लिङ्ग, सु प्रत्यय, अम्, आदेश, होकर 'चेयम्' रूप बना ।

ईदित—यत् प्रत्यय परे रहते आकार को ईकार होता है ।

देयम्—(देने योग्य या देना चाहिये) दा (देना सकर्मक) धातु से 'अचो यत्'

पोरदुपधात् ।३।१।९८।।

पवर्गान्तादवुपधाद्यत् स्यात् । ण्यतोऽपवादः । शप्यम् । लभ्यम् ।

एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् ।३।१।१०९।।

एभ्यः क्यप् स्यात् ।

ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ।६।१।७१।।

इत्यः । स्तुत्यः । शासु-अनुशिष्टौ ।

सूत्र से यत् प्रत्यय हुआ, ईद्यति सूत्र से यत् प्रत्यय परे रहते धातु के 'आ' को ईकार होकर गुण होने पर देय, प्रातिपदिक संज्ञा, सु प्रत्यय, सामान्य में नपुंसक लिङ्ग, सु को अम् आदेश होकर देयम्, रूप बनता है।

ग्लेयम्—(ग्लानि करने योग्य) ग्लै (ग्लानि करना अकर्मक) धातु से यत् प्रत्यय करने पर "आदेच उपदेशेऽशिति" सूत्र से ऐकार को आत् आदेश, ग्ला+यत् इस स्थिति में 'देयम्' की भाँति अन्य सब कार्य होकर 'ग्लेयम्' रूप बनता है।

पोरिति—पवर्ग अन्त वाली तथा अकारोपध (जिनकी उपधा में अकार हो) धातुओं से यत् प्रत्यय हो।

ण्यत् इति—'ऋहलोर्ण्यत्' सूत्र से होने वाले ण्यत् प्रत्यय का यह अपवाद (बाधक) है।

शप्यम्—(शाप के योग्य) शप् (शाप देना या शपथ लेना) धातु से (इसके पवर्गान्त एवं अकारोपध होने से) यत् प्रत्यय होने से 'शप्यम्' रूप बना (यहाँ हलन्त धातु होने से ण्यत् प्रत्यय प्राप्त था उसको बाधकर यत् प्रत्यय हुआ है।)

लभ्यम् (पाने योग्य, पाना चाहिये) लभ् (पाना आत्मने पदी, सकर्मक) धातु से पूर्ववत् यत् प्रत्यय करने पर लभ्यम् रूप बनता है।

एतीति—इण्, स्तु, शास्, वृ, दृ, और जुष् धातुओं से क्यप् प्रत्यय हो। (यहाँ शास् तथा जुष् हलन्त धातुओं से ण्यत् तथा शेष अजन्त धातुओं से 'अचोयत्' सूत्र से अच् प्रत्यय प्राप्त था उसको बाधकर इससे क्यप् प्रत्यय होता है।)

ह्रस्वस्येति—ह्रस्व को तुक् का आगम हो, पित् कृत् प्रत्यय परे रहते (पित्-जिस प्रत्यय से पकार की इत् संज्ञा हुई हो)

इत्यः (जाने योग्य) इण् (जाना अकर्मक) धातु से क्यप् प्रत्यय हुआ (पकार तथा ककार इत् संज्ञक हैं 'य' शेष रहता है। इकार के ह्रस्व होने के कारण ह्रस्वस्येति सूत्र से तुक् का आगम उ 'क्' इत् संज्ञक है 'त्' शेष रहता है, इत्य प्रातिपदिक संज्ञा, सु प्रत्यय, प्रथमैक वचन में 'इत्यः' रूप बनता है।

शास इदङ्हलोः ।६।४।३४।।

शास उपधाया इत्स्यादङि हलादौ क्ङिति । शिष्यः । वृत्यः । आदृत्यः । जुष्यः ।

मृजे र्विभाषा ।३।१।११३।।

मृजेः क्यब्वा स्यात् । मृज्यः ।

ऋहलोर्ण्यत् ।३।१।१२४।।

स्तुत्यः (स्तुति करने योग्य) स्तु (स्तुति करना) धातु से क्यप् प्रत्यय, शेष कार्य पूर्ववत् होने से 'स्तुत्यः' रूप बनता है ।

शिष्यः (अनुशासन करने योग्य) शास् धातु अनुशासन करने अर्थ में है, शास् धातु से "एतीन्नि" सूत्र से क्यप् प्रत्यय करने पर 'शास्+क्यप्' ऐसी स्थिति में—

शास इति—शास् धातु की उपधा को इकार आदेश हो, अङ् या हलादि कित् ङित् परे रहते ।

"शासः" इस सूत्र से हलादि कित्—क्यप् प्रत्यय परे रहते शास् की उपधा आकार को इकार होने पर शिस्+य इस स्थिति में "शासि वसिघसीनां च" सूत्र से सकार को मूर्धन्यादेश षकार होने पर शिष्य-प्रथमैक वचन में 'शिष्यः' यह रूप बनता है ।

वृत्यः (वरण करने योग्य) वृ (वरण करना) धातु से क्यप् तथा तुक् होकर 'वृत्यः' रूप बनता है ।

आदृत्यः (आदर करने योग्य) आङ् पूर्वक दृ (आदर करना) धातु सें क्यप् तथा तुक् होकर 'आदृत्यः' रूप बनता है ।

जुष्यः (सेवा करने योग्य) जुष् (प्रीति तथा सेवा करना) धातु से क्यप् होकर 'जुष्यः' रूप बनता है ।

(यहाँ इन प्रयोगों में क्यप् प्रत्यय के कित् होने के कारण कहीं भी गुण नहीं होता) इस प्रकरण में गुण व वृद्धि का निषेधक सूत्र है 'ग्क्ङिति च' अर्थात् गित् कित् और ङित् प्रत्ययो के आगे रहने पर इक् (इ उ ऋ लृ) को प्राप्त गुण और वृद्धि न हों । अतः गकार ककार तथा ङकार इत् संज्ञा वाले प्रत्ययों के आगे आने पर गुण वृद्धि न हो सकेंगे ।)

मृजेरिति—मृज् धातु से विकल्प से क्यप् प्रत्यय हो ।

मृज्यः (शुद्ध करने योग्य) मृज् (शुद्ध करना) धातु से क्यप् होकर 'मृज्यः' रूप बनता है । (मृज् धातु के हलन्त होने के कारण यहाँ प्राप्त ण्यत् प्रत्यय का यह विकल्प से बाधक है)

ऋहलोरिति—ऋवर्णान्त और हलन्त धातुओं से ण्यत् प्रत्यय हो ।

ऋवर्णान्ताद्धलन्ताच्च धातोर्ण्यत् स्यात् । कार्यम् । हार्यम् । धार्यम् ।

चजोः कुघिण्यतोः ।७।३।२५।।

चजोः कुत्वं स्यात् घिति ण्यति च परे ।

मृजेर्वृद्धिः ।७।१।११४।।

मृजेरिकोवृद्धिः स्यात्, सार्वधातुकार्धधातुकयोः । मार्ग्यः ।

भोज्यं भक्ष्ये ।७।३।६९।।

भोग्य मन्यत् ।

इति कृत्य प्रक्रिया ।

कार्यम् (करने योग्य) कृ (करना सकर्मक) धातु से ण्यत् प्रत्यय होकर कृ+ण्यत् इस स्थिति में ण्यत् प्रत्यय के णित् होने के कारण, उसके आगे रहने पर 'अचोञ्णिति' सूत्र से धातु के ऋकार को आर् वृद्धि होकर 'कार्यम्' रूप बनता है ।

हार्यम् (हरण करने योग्य) हृ (हरण करना) धातु से ण्यत् प्रत्यय तथा वृद्धि होकर हार्यम् रूप बनता है ।

धार्यम् (धारण करने योग्य) धृ (धारण करना) धातु से ण्यत् तथा वृद्धि होकर 'धार्यम्' रूप बनता है।

चजोरिति—चकार व जकार को कुत्व (कवर्ग आदेश, होता है, घित् और ण्यत् प्रत्यय परे रहते ।

मृजेरिति—मृज् धातु के इक् को वृद्धि हो, सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते ।

मार्ग्यः (शुद्ध करने योग्य) मृज धातु से क्यप् प्रत्यय के अभाव पक्ष में ण्यत् प्रत्यय होने पर जकार को गकार आदेश, तब मृजेर्वृद्धिः सूत्र से ऋकार को आर् वृद्धि होकर मार्ग्यः रूप बनता है (यहाँ वृद्धि विधायक उक्त दोनों सूत्रों से वृद्धि न हो सकती थी, क्योंकि न तो यह धातु स्वरान्त ही था और न अकारोपध, अतएव इस सूत्र का प्रणयन किया गया है ।)

इस प्रकरण में वृद्धि करने वाले मुख्य सूत्र 'अचोञ्णिति' तथा 'अतउपधायाः" हैं । प्रथम सूत्र द्वारा "ञित् और णित् प्रत्यय परे रहने पर अजन्त अंग, (स्वरान्त धातुओं) को वृद्धि होती है और द्वितीय सूत्र से ञित् णित् प्रत्ययों के आगे रहने पर अकार उपधा वाली धातुओं को वृद्धि होती है ।

भोज्यमिति—भक्षण करने योग्य अर्थ में 'भोज्य' रूप बनता है अर्थात् इस सूत्र से भक्षणार्थक भुज् धातु से, ण्यत् प्रत्यय परे रहते, चजोः सूत्र से प्राप्त कुत्व के अभाव का निपातन (विधान) किया जाता है ।

भोग्य मन्यत्—अर्थात् पालनार्थक भुज् धातु से ण्यत् प्रत्यय परे भोग्यम् रूप बनता है अर्थात् यहाँ कुत्व हो जाता है।

भोज्यम्—(भक्षण करने योग्य) भुज (पालन-उपभोग और भक्षण करना) धातु से भक्षण अर्थ में ण्यत् प्रत्यय होने से प्राप्त कुत्व के अभाव का इस सूत्र से निपातन होने पर भोज्यम् रूप बनेगा। उकार को गुण होकर ओकार हो जायेगा।

भोग्यम्—(उपभोग करने योग्य) भुज् धातु से उपभोग अर्थ में ण्यत् प्रत्यय होने पर कुत्व तथा गुण करने पर भोग्यम् रूप बनता है।

इति कृत्य प्रक्रिया

अथ पूर्वकृदन्तम्

ण्वुल्तृचौ ।३।१।१३३।।

धातोरेतौ स्तः । कर्तरि कृदिति कर्त्रर्थे ।

युवोरनाकौ ।७।१।१।।

यु वु एतयोरनाकौ स्तः । कारकः । कर्त्ता ।

नन्दि ग्रहि पचादिभ्योल्युणिन्यचः ।३।१।१३४।।

ण्वुल्तृचाविति—धातु से ण्वुल् और तृच् प्रत्यय हों ।

(ण्वुल् का वु और तृच् का तृ शेष रहता है, अन्य भाग इत् संज्ञक है)

कर्तरीति—ये प्रत्यय 'कर्तरि कृत्' सूत्र से कर्त्ता अर्थ में होते हैं ।

युवोरिति—यु और वु इनको क्रमशः अन और अक आदेश हों ।

कारकः करोतीति (करने वाला) कृ (करना, सकर्मक) धातु से कर्त्ता अर्थ में प्रकृत सूत्र से ण्वुल् प्रत्यय होने पर वु को उक्त सूत्र से अक आदेश होने पर, ऋकार को आर् वृद्धि होकर कारक शब्द स्वरूप की प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमैक वचन में कारकः यह रूप बनता है ।

कर्त्ता (करने वाला) कृ धातु से तृच् प्रत्यय, गुण होकर 'कर्तृ' की प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमैक वचन में कर्त्ता रूप बनता है ।

नन्दीति—नन्दि आदि धातुओं से ल्यु प्रत्यय, ग्रह आदि धातुओं से णिनि प्रत्यय, और पच् आदि धातुओं से अच् प्रत्यय हो ।

(इन प्रत्ययों के अनुबन्धों का लोप होने पर ल्यु का यु, णिनि का इन्, तथा अच् का अ शेष रहता है । णिनि प्रत्यय के णित् होने के कारण यथा स्थान वृद्धि भी होगी ।)

नन्द्यादेर्ल्युः, ग्रह्यादेर्णिनिः, पचादेरच् स्यात् । नन्दयतीति नन्दनः, जनमर्दयतीति जनार्दनः, लवणः, स्थायी, मन्त्री । पचादिराकृतिगणः ।

इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः ।३।१।१३५।। एभ्यः कः स्यात् । बुधः, कृशः, ज्ञः, प्रियः, किरः ।

नन्दनः नन्दयति इति (आनन्दित करने वाला) प्रेरणार्थक णिच् प्रत्ययान्त नन्दि धातु से ल्यु प्रत्यय होकर, यु को अन आदेश, तथा 'णेरनिटि' सूत्र से णिच के इकार का लोप करने पर नन्दन इस प्रातिपदिक से 'नन्दनः' रूप बनता है ।

जनार्दनः—जनमर्दयति इति (लोगों को गति देने वाला भगवान्) जन उपपद णिच् प्रत्ययान्त अर्द (गति, याचना) धातु से ल्यु प्रत्यय, यु को अन आदेश, "जन अर्द् इ अन" इस स्थिति में णि लोप होने पर 'जनार्दनः' रूप बनता है ।

लवणः—लुनाति इति (काटने वाला या नमक) लूञ् (काटना) धातु से ल्यु प्रत्यय, अन आदेश, गुण, अवादेश लव्+अन इस स्थिति में निपातन से नकार को णत्व होकर 'लवण' प्रातिपदिक से 'लवणः' रूप बनता है ।

ग्राहीः—गृह्णाति इति (ग्रहण करने वाला), ग्रह (ग्रहण करना) धातु से णिनि प्रत्यय, णित् प्रत्यय परे होने से 'अत उपधायाः' सूत्र से उपधा अकार को वृद्धि होकर ग्राहिन् इस शब्द स्वरूप की प्रातिपदिक संज्ञा, सुप्रत्यय, प्रथमैक वचन में 'ग्राही' यह रूप बनता है ।

स्थायी—तिष्ठति इति (ठहरने वाला-स्थिर) स्था (ठहरना) धातु से णिनि प्रत्यय होकर-अनुबन्धन लोप होने पर स्था+इन् इस स्थिति में 'आतो युक् चिण्कृतोः' से आकारान्त स्था धातु के आगे युक् का आगम होने पर स्थायिन् प्रादिपदिक से प्रथमैक वचन में स्थायी रूप बनता है ।

मन्त्री—मन्त्रयति इति (मन्त्रण-सलाह देने वाला) णिच् प्रत्ययान्त चुरादि मन्त्रि (गुप्त वार्त्तालाप करना) धातु से णिनि प्रत्यय, 'मन्त्र् इ इन्' इस स्थिति में णि लोप होकर मन्त्रिन् प्रातिपदिक से पुंल्लिग प्रथमैक वचन में 'मन्त्री' रूप बनेगा ।

पचादिरिति—पचादि आकृति गण है, इस गण में पठित शब्दों से अच् प्रत्यय होता है, पच्+अच्=पचः पचति इति (पकाने वाला) ।

इगुपधेति—इक् उपधा वाली धातुओं जैसे बुध्, कृश आदि, ज्ञा, प्री, कॄ धातुओं से क प्रत्यय हो । (क प्रत्यय में अ शेष रहता है, प्रत्यय के कित् होने के कारण "ग्क्ङिति च' सूत्र से गुण का निषेध होता है ।)

बुधः—बुध्यते इति (ज्ञाता; विद्वान्) बुध् (जानना) धातु से क प्रत्यय होने पर 'बुधः' रूप बनता है ।

आतश्चोपसर्गे ।३।१।१३६।।

प्रज्ञः । सुग्लः ।

गेहे कः ।७।१।१४४।।

गेहे कर्तरि ग्रहेः कः स्यात् । गृहम् ।

कर्मण्यण् ।३।२।१।।

कर्मण्युपपदे धातोरण् प्रत्ययः स्यात् । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः ।

कृशः (कृश्यतिइति—दुवला, क्षीण) कृश् (दुवला होना) धातु से क प्रत्यय होने पर कृशः सिद्ध होता है ।

ज्ञः—जानाति इति (जानने वाला) ज्ञा (जानना) धातु से क प्रत्यय, कित् होने से "आतो लोप इटि च' सूत्र से आकार का लोप, 'ज्ञः' रूप सिद्ध होता है ।

प्रियः—प्रीणाति इति (प्रसन्न करने वाला) प्री (क्र्यादि, तृप्त करना) धातु से क प्रत्यय "अचिश्नु धातु-भ्रुवां य्वोरिय ङुवङौ" सूत्र से प्री गत ई को इयङ् (इय) आदेश करने पर 'प्रियः' रूप बनता है ।

'किरः'—किरति (विखेरने वाला) कॄ (विखेरना) धातु से क प्रत्यय, "ॠत इद्धातोः" सूत्र से ॠकार को इर् आदेश करने पर 'किरः' रूप बनता है ।

आतश्चेति—उपसर्गपूर्वक आकारान्त धातु से क प्रत्यय हो ।

प्रज्ञः—प्रकर्षेण जानातीति (अच्छी तरह जानने वाला) प्र+ज्ञा (जानना) धातु से क प्रत्यय करने पर आकार का लोप होकर 'प्रज्ञः' रूप बनता है ।

सुग्लः—सुग्लायतीति (अच्छी तरह ग्लानि करने वाला) ग्लै (ग्लानि करना) धातु से क प्रत्यय, आदेच उपदेशेऽशिति" सूत्र से ऐकार को आकार आदेश, आकार का लोप 'सुग्ल' प्रातिपदिक से प्रथमैक वचन में सुग्लः रूप बनता है ।

गेह इति—यदि गेह (घर) कर्त्ता हो, अर्थात् उस शब्द से घर अर्थ प्रकट होता हो तो ग्रह धातु से क प्रत्यय हो ।

गृहम्—गृह्णाति धान्यादिकम् (जो धान्य आदि को अपने अन्दर रखता है) ग्रह (ग्रहण करना) धातु से क प्रत्यय, ग्रहिज्येति, सूत्र से र् को ऋ सम्प्रसारण, गृह्+अ इस दशा में गृह प्रातिपदिक से नपुं० प्रथमैक वचन में गृहम् रूप बनता है । गृह शब्द पुल्लिग में सदा बहुवचनान्त ही रहता है 'गृहाः' । गृह शब्द 'अर्धचादि गण पठित होने के कारण पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग दोनो में प्रयुक्त, होता है ।

कर्मणीति—कर्म उपपद रहते धातु से अण् प्रत्यय होता है, (अण् में 'अ' शेष रहता है, णित् होने से वृद्धि भी होती है ।)

कुम्भकार : कुम्भं करोति (घड़ा बनाने वाला) कुम्भ+कृ (करना) धातु से

आतोऽनुपसर्गे कः ।२।२।३।।

आदन्ताद्धातो रनुपसर्गात् कर्मण्युपपदे कः स्यात् । अणोऽपवादः । आतो लोपः । गोदः । धनदः । कम्बलदः । अनुपसर्गे किम्—गोसन्दायः ।

(वा) मूलविभुजादिभ्यः कः ।

मूलानि विभुजति मूलविभुजो रथः । आकृति गणोऽयम् । महीध्रः । कुध्रः ।

कुम्भम् इस कर्म के उपपद रहते अण् प्रत्यय, ऋकार को आर् वृद्धि, कुम्भकार इस प्रातिपदिक से पुल्लिग प्रथमैक वचन में कुम्भकारः रूप बनता है ।

इस प्रकरण में सूत्र के सप्तम्यन्त पद से वोध्य पद उपपद कहलाता है, इस उपपद का अपने उत्तरवर्ती पद के साथ 'उपपदमतिङ्' सूत्र से समास होता है, समास करने पर उपपद तथा अन्य पद के आगे की विभक्तियों का 'सुपो धातु प्रातिपदिकयोः' से लोप हो जाता है, यथा प्रस्तुत उदाहरण में कुम्भम् यह कर्म उपपद है, और यह 'कर्मण्यण्' सूत्र में 'कर्मणि' इस पद द्वारा वोध्य है। अतः कुम्भ अम् कृ इस अवस्था में अण् प्रत्यय तथा वृद्धि करने पर कुम्भ अम् कार इस स्थिति में समास तथा अम् विभक्ति का लोप होकर कुम्भकार इस शब्द की पुनः प्रातिपदिक संज्ञा होकर सु प्रत्यय आने पर कुम्भकारः यह रूप बनेगा । उपपद वाले उदाहरण में सर्वत्र ऐसा ही समझना चाहिए ।

आत इति—उपसर्ग रहित आदन्त (दीर्घ आकारान्त धातुओं से कर्म उपपद रहित क प्रत्यय हो ।

यह 'क' प्रत्यय 'कर्मण्यण' सूत्र के अण् प्रत्यय का सरूप प्रत्यय होने के कारण नित्य बाधक है ।

'आतो लोप इटि च' से 'आ' का लोप होता है ।

गोदः—गाम् ददाति इति (गाय देने वाला) गो+अम् दा (देना) धातु से क प्रत्यय, आकार लोप, गो+अम् द इस स्थिति में पूर्ववत् समास विभक्ति लोप, गोद इस कृदन्त शब्द स्वरूप की प्रातिपदिक संज्ञा प्रथमैक वचन में 'गोदः' रूप बनता है ।

धनम् ददाति **'धनदः'**, कम्बलम् ददाति **'कम्बलदः'**, रूप भी इसी प्रकार सिद्ध होंगे ।

सूत्र में उपसर्ग रहित धातु से क प्रत्यय होता है अतः—गाम् सन्ददाति **'गोसन्दायः** यहाँ पर सम् उपसर्गपूर्वक दा धातु से क प्रत्यय न होगा, तब 'कर्मण्यण्' से अण् प्रत्यय 'आतो युक् चिण्कृतोः' से युक् का आगम होने पर 'गोसन्दाय' प्रातिपदिक से पुल्लिग प्रथमैक वचन में रूप बनेगा ।

(वा) मूलेति—मूलविभुज आदि शब्दों से क प्रत्यय हो ।

चरेष्टः ।३।२।१६।। अधिकरणे उपपदे । कुरुचरः ।

भिक्षासेनादायेषु च ।३।२।१७।।

भिक्षाचरः । सेनाचरः । आदायेति ल्यबन्तम्-आदायचरः ।

कृञो हेतु ताच्छील्यानुलोम्येषु ।३।२।२०।।

मूलविभुजो रथः—मूलानि विभुजति (जड़ों को कुचलने वाला रथ) मूल शस् वि+भुज् धातु से क प्रत्यय, उपपद समास, विभक्ति लोप, मूलविभुज-प्रातिपदिक संज्ञा 'मूलविभुजः' रूप बनता है ।

आकृतीति—मूलविभुज आदि आकृतिगण है । अतः—

महीध्रः—महीम् धरति (पृथ्वी की धारणा करने वाला) मही अम् धृ धातु से क प्रत्यय, कित् होने से गुण निषेध, ऋकार को यण् होने से 'महीध्रः' यह रूप बनेगा ।

कुध्रः—कुं धरति (पृथिवी को धारण करने वाला, कु अम् धृ+क प्रत्यय, गुणाभाव होने पर यण् 'कु अम् ध्र' इस स्थिति में समास विभक्ति लोप, कुध्रः रूप सिद्ध होता है ।

चरेरिति—अधिकरण उपपद रहते चर् धातु से ट प्रत्यय होता है ।

(ट प्रत्यय के ट् की इत् संज्ञा है, टित् होने में स्त्रीत्व विवक्षा में "टिड्ढाणञ्" से ङीष् प्रत्यय होता है ।)

कुरुचरः—कुरुषु चरति (कुरु प्रदेश में घूमने वाला) कुरु सुप् चर् (गति और भक्षण) धातु से ट प्रत्यय उपपद समास, विभक्ति लोप, कुरुचर से कुरुचरः रूप बनता है ।

स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय होकर कुरुचरी रूप बनेगा ।

भिक्षेति—भिक्षा, सेना और आदाय उपपद रहते चर् धातु से ट प्रत्यय होता है ।

भिक्षाचरः—भिक्षाम् चरति (भिक्षा माँगने वाला) भिक्षा अम् चर्+ट प्रत्यय, समास विभक्ति लोप, भिक्षाचरः रूप बनता है ।

सेनाचरः—सेनायां चरति अथवा सेनां चरति—प्रविशति (सेना में घूमने वाला अथवा सेना में प्रवेश करने वाला) पूर्ववत् ट प्रत्यय, समास, विभक्ति लोप, सेनाचरः रूप सिद्ध होता है ।

आदायचरः—आदाय (ल्यप् प्रत्ययान्त शब्द है । लेकर चलने वाला, आदाय+चर से ट प्रत्यय, आदायचरः रूप सिद्ध होता है ।)

कृञ इति—हेतु ताच्छील्य (वैसा ही स्वभाव होना) आनुलोम्य (अनुकूलता) इन अर्थों के द्योतित रहने पर कृञ् धातु से ट प्रत्यय हो ।

एषु द्योत्येषु करोतेष्टः स्यात् ।

अतः कृकमि कंस कुम्भ पात्र कुशाकर्णीष्वनव्ययस्य ।८।३।४६।।

आदुत्तरस्यानव्ययस्य विसर्गस्य समासे नित्यं सादेशः करोत्यादिषु परेषु । यशस्करी विद्या । श्राद्धकरः । वचन करः ।

एजेः खश् ।३।२।२८।।

ण्यन्तादेजेः खश् स्यात् ।

अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् ।६।३।६७।।

अरुषो द्विषतोऽजन्तस्य च मुमागमः स्यात्, खिदन्ते परे नत्वव्ययस्य । शित्वाच्छवादिः । जनमेजयतीति जनमेजयः ।

अत इति—अकार के आगे आने वाले उस विसर्ग को जो अव्यय से परे न हो, समास में नित्य सकार आदेश हो कृञ् धातु, कम् धातु, कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा और कर्णी शब्द परे रहते ।

यशस्करी विद्या—यशः करोति (यश का हेतु विद्या) यशस् अम् कृ धातु से प्रकृत सूत्र से हेतु अर्थ में ट प्रत्यय । ऋ को अर् गुण, उपपद समास, विभक्ति लोप, 'यशः कर' इस स्थिति में "अतः कृकमि" इति सूत्र से कृञ् धातु के आगे रहते विसर्ग को सकारादेश, टित् होने से "टिड्ढाणञ्" सूत्र ङीप् प्रत्यय, यशस्करी रूप बनता है ।

श्राद्धकरः—श्राद्धं करोति-श्राद्धं कर्तुं शीलमस्य (श्राद्ध करने का जिसका स्वभाव हो) श्राद्ध अम् कृ+ट, गुण, समास, विभक्ति लोप, श्राद्धकर, प्रथमैक वचन में श्राद्धकरः ।

वचनकरः—वचनं करोति (कहे हुये को करने वाला आज्ञापालक) वचन अम् कृ+ट, गुणादि पूर्ववत्, 'वचनकरः' ।

एजेरिति ण्यन्त एज् धातु से खश् प्रत्यय हो, (खश् प्रत्यय के खकार व शकार इत् संज्ञक है केवल 'अ' शेष रहता है, अतएव यह प्रत्यय खित् और शित् कहलाता है ।)

अरुरिति—अरुष् (मर्मवाचक शब्द) द्विषत् (शत्रु) और अजन्त को मुम् का आगम हो, खिदन्त प्रत्यय परे रहते, परन्तु अव्यय को मुम् का आगम न हो ।

(मुम् में केवल म् शेष रहता है ।)

शित्वेति—खश् प्रत्यय के शित् होने के कारण शप् आदि प्रत्यय होते हैं ।

जनमेजयः—जनमेजयति (जनता को कँपाने वाला) जन+अम्+णिच् प्रत्ययान्त एजि धातु से खश् प्रत्यय, खश् के शित् होने से खश् के पूर्व शप् प्रत्यय,

प्रियवशे वदः खच् ।३।२।३८।।

प्रियंवदः । वशंवदः ।

अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ।३।२।७५।।

मनिन् क्वनिप् वनिप् विच्-एते प्रत्ययाः धातोः स्युः ।

नेड् वशि कृति ।७।२।८।।

वशादेः कृत इण् न स्यात् । शॄ हिंसायाम्-सुशर्मा । प्रातरित्वा ।

(शप् में 'अ' शेष रहता है) जन+अम् एजि अ अ इस स्थिति में 'अतो गुणो' सूत्र से पूर्व अकार का लोप, शप् के शित् होने से सार्वधातुक संज्ञा, "सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से इकार को 'ए' गुण, अयादेश, जन अम् एजय इस स्थिति में उपपद समास, विभक्ति लोप, तब खिदन्त 'एजय' आगे रहने पर प्रकृत सूत्र से नकारोत्तरवर्ती अकार के आगे मुम् (म्) का आगम होकर जनमेजय, प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमैक वचन में 'जनमेजयः' रूप बनता है ।

प्रियेति—प्रिय और वश उपपद रहते वद् धातु से खच् प्रत्यय हो ।

(खच् में केवल 'अ' शेष रहता है, खित् होने के कारण इसके परे रहते भी मुम् आगम होता है ।)

प्रियम्बदः—प्रियं वदति (प्रिय बोलने वाला) प्रिय+अम्+वद (बोलना) धातु से खच् प्रत्यय मुमागम होकर 'प्रियंवदः' यह रूप बनता है ।

वशं दः—वशे वदति-वश में रहने वाला, पूर्ववत् खच् प्रत्यय मुमागम होकर सिद्धि होगी ।

अन्येभ्य इति—मनिन् क्वनिप् वनिप् और विच् प्रत्यय धातु से हों ।

सूत्र में अन्येभ्योऽपि का अर्थ है अन्य धातुओं से भी ये प्रत्यय "दृश्यन्ते" देखे जाते हैं । तात्पर्य यह कि इस सूत्र से पूर्व "आतो मनिन् क्वनिप् वनिपश्च" ३।२।७३।। यह सूत्र है जो कि आकारान्त धातुओं से इन प्रत्ययों का विधान करता है अतएव इस सूत्र द्वारा आकारान्त से भिन्न भी धातुओं से भी इन प्रत्ययों का विधान किया गया है ।

(मनिन् का मन्, क्वनिप् और वनिप् का वन् शेष रहता है, क्वनिप् के कित् होने से गुण वृद्धि निषेध होता है । विच् प्रत्यय का कुछ भी शेष नहीं रहता अर्थात् उसका सर्वापहारी लोप हो जाता है ।)

नेडिति—वश् प्रत्याहार जिसके आदि में है ऐसे कृत् प्रत्यय को इट् का आगम नहीं होता है ।

सुशर्मा—शोभनं शृणाति (अच्छी तरह हिंसा करता है) सु उपसर्ग पूर्वक शॄ (हिंसा करना) धातु से प्रकृत सूत्र से मनिन् प्रत्यय, मनिन् प्रत्यय के बलादि आर्धधातुक

विड्वनोरनुनासिकस्यात् ।६।४।४१।।

अनुनासिकस्यात् स्यात् । विजायत इति विजावा । ओणृ अपनयने-अवावा । विच्—रुष् रिष् हिंसायाम् । रोट्, रेट्, सुगण् ।

क्विप् च ।३।२।७६।।

अयमपि दृश्यते । उखास्रत् । पर्णध्वत् वाहभ्रट् ।

होने से इट् प्राप्त था उसका प्रकृत सूत्र से निषेध, ऋकार को अर् गुण होकर सुशर्मन् शब्द से प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमैक वचन में सुशर्मा रूप बना ।

प्रातरित्वा—प्रातः एति (प्रातः जाने वाला) प्रातर् पूर्वक इण् (जाना) धातु से क्वनिप् प्रत्यय, प्रातर् इ वन् इस स्थिति में कित् होने से गुण का निषेध, "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" से तुक् का आगम होकर प्रातरित्वन् प्रातिपदिक से प्रथमैक वचन में उक्त रूप बना ।

विड्वनोरिति—विट् और वन् प्रत्यय परे रहते अनुनासिक वर्ण को आकार आदेश होता है ।

(विट् प्रत्यय तो केवल वेद में ही देखा जाता है, क्वनिप् और वनिप् का वन् शेष रहता है अतः वन् से इन दो प्रत्ययों का ग्रहण है ।)

विजावा—विजायते (अनेक रूपों में होने वाला अथवा विचित्र प्रकार से उत्पन्न होने वाला) वि उपसर्ग पूर्वक जन् (उत्पन्न होना) धातु से वनिप् प्रत्यय, प्रकृत सूत्र से वनिप् का वन् परे रहते धातुगत अनुनासिक नकार को आकार आदेश होने पर, दीर्घादेश, विजावन् प्रातिपदिक से प्रथमैक वचन में 'विजावा' रूप बना ।

अवावा—ओणति-अपनयति (हटाने वाला) ओणृ (दूर करना) धातु से वनिप् प्रत्यय, ओण+वन्; प्रकृत सूत्र से णकार को आकारादेश 'ओ आ वन्', ओकार को अवादेश, अवावन्, प्र० एक वचन में अवावा, राजन् वत रूप बनेंगे ।

रोट्-रेट—(हिंसा करने वाला) रुष् तथा रिष् (हिंसा करना) धातुओं से विच् प्रत्यय, विच् का सर्वलोप, इकार को 'ए' गुण तथा उकार को ओ गुण होकर रोष् रेष् प्रातिपदिकों से प्र० एक व० में जश्त्व विधि से षकार को डकार तथा चर्त्व विधि से डकार ट्कार होकर रोट्, रेट्, सिद्ध होते हैं ।

सुगण्—सुष्ठु गणयति (अच्छी प्रकार गिनने वाला) सु पूर्वक गण् (गिनती करना) धातु से विच् प्रत्यय, सर्वलोप होकर 'सुगण्' प्रथमैक वचन में रूप बना है ।

क्विप् चेति—धातु से कर्त्ता अर्थ में क्विप् प्रत्यय भी हो ।

(क्विप् प्रत्यय का भी सर्वलोप हो जाता है, कित् होने से गुण वृद्धि निषेध

सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये ।३।२।७८।।

अजात्यर्थे सुपि धातोर्णिनिस्ताच्छील्ये द्योत्ये । उष्णभोजी ।

मनः ।३।२।८२।।

सुपि मन्यते णिनिस्स्यात् । दर्शनीयमानी ।

आत्ममाने खश्च ।३।२।८३।।

तथा धातु के नकार का लोप, पित् होने से ह्रस्वान्त धातुओं को तुक् का आगम भी होता है।)

उखास्रत्—उखायाः स्रंसते (हांडी से गिरने वाला) उखा पूर्वक स्रंस (गिरना) धातु से क्विप् प्रत्यय, सर्वलोप, "अनिदितां हल उपाधायाः क्ङिति" सूत्र से धातुगत नकार का लोप, उपपद समास, विभक्तिलोप, उखास्रस् प्रातिपदिक से प्र० एक वचन में "वसुस्रन्सुध्वंस्वनडुहां दः" सूत्र से सकार को दकार, और 'वावसाने' से, विकल्प से चर्त्व—त् होकर उखास्रत् और उखास्रद् रूप बनते हैं।

पर्णध्वत्—पर्णेभ्यः ध्वंसते (पत्तों से गिरने वाला) पर्ण पूर्वक ध्वंस् (गिरना) धातु से क्विप्, सर्वलोप, न लोप, सकार को दकार, चर्त्वादि पूर्ववत् पर्णध्वत्।

वाहभ्रट्—वाहात् भ्रंशते (अश्व से गिरने वाला) वाह+भ्रंश+क्विप्, सर्वलोप, न लोप, वाहभ्रश् प्रातिपदिक से प्र० एक व० में 'व्रश्चेत्यादि सूत्र से शकार को षकार जश्त्व, चर्त्व आदि होकर वाहभ्रट् रूप बनता है।

सुपीति—जाति वाचक से रहित सुवन्त उपपद रहते धातु से णिनि प्रत्यय हो, जब ताच्छील्य (वैसा करने का स्वभाव) अर्थ द्योतित हो।

उष्ण भोजी—उष्णं भोक्तुं शीलमस्य, अथवा उष्णं 'भुङ्क्ते तच्छीलः (गरम खाने का स्वभाव रखने वाला) उष्णम् इस जाति भिन्न सुवन्त के उपपद रहते भुज् (खाना व पालन करना) धातु से णिनि प्रत्यय (इन् शेष रहा) समास, विभक्ति-लोप, गुण होकर उष्ण भोजिन् प्रातिपदिक से प्र० एक व० में 'उष्ण भोजी' रूप बनता है।

मन इति—सुवन्त उपपद रहने पर मन् धातु से णिनि प्रत्यय हो।

दर्शनीयमानी—दर्शनीयं मन्यते (सुन्दर समझने वाला) दर्शनीयम् इस सुवन्त के उपपद रहते मन (मानना) धातु से णिनि प्रत्यय, णित् होने से धातु की उपधा अकार को आकार वृद्धि, समास, विभक्ति लोप, 'दर्शनीय मानिन्' प्रातिपदिक से प्र० एक व० में 'दर्शनीयमानी' प्रयोग बनता है।

आत्माने इति—स्वकर्मक मनन अर्थ में वर्तमान मन् धातु से सुवन्त उपपद रहते खश् प्रत्यय भी हो।

(स्वकर्मक मनन का अर्थ है—अपने को वैसा मानना।)

स्वकर्मके मनने वर्तमानान्मन्यतेः सुपि खश् स्यात्-चाण्णिनिः। पण्डितमात्मानं मन्यते पण्डितंमन्यः, पण्डितमानी।

खित्यनव्ययस्य।६।३।६६।।

खिदन्ते परे पूर्वपदस्य ह्रस्वः, नत्वव्ययस्य। ततो मुम्। कालिम्मन्या।

करणे यजः।३।२।८५।।

करणे उपपदे भूतार्थ यजेर्णिनिः कर्तरि। सोमेनेष्टवान् सोमयाजी। अग्निष्टोमयाजी।

चाण्णिनिः—सूत्र में चकार ग्रहण से णिनि प्रत्यय भी होता है।

पण्डितम्मन्यः—पण्डितम् आत्मानं मन्यते (अपने को पण्डित मानने वाला) पण्डितम् इस सुवन्त के उपपद रहते मन् (मानना) धातु से खश् प्रत्यय, खश् के शित् होने से, सार्वधातुक संज्ञा, 'दिवादिभ्यः श्यन्' से श्यन् प्रत्यय, पण्डित अम् मन् श्यन् (य) खश् (अ) इस दशा में 'अतोगुणे' यकारोत्तरवर्ती अकार का पर रूप, उपपद समास विभक्ति लोप, 'पण्डित मन्य' इस स्थिति में खिदन्त शब्द-मन्य के आगे रहने पर मुम् (म्) का आगम होकर पण्डितम्मन्य इस प्रातिपदिक से प्रथमैक वचन में 'पण्डितम्मन्यः' रूप बनता है।

खश के अभाव पक्ष में णिनि प्रत्यय करने पर, णित् होने से 'अत उपधायाः' सूत्र से धातु की उपधा को आकार वृद्धि, तथा शेष कार्य पूर्ववत् होने पर पण्डित मानिन् प्रतिपदिक से प्र० एक व० में **पण्डितमानी** रूप बनता है।

खितीति—खिदन्त परे रहते पूर्व पद को ह्रस्व हो, अव्यय को छोड़कर।

कालिम्मन्या—कालीम् आत्मानं मन्यते (अपने आप को काली मानने वाली) कालीम् इस सुवन्त के उपपद रहते मन धातु से आत्ममाने सूत्र से खश् प्रत्यय, शित् होने से श्यन् विकरण, शेष कार्य पूर्ववत्, काली मन्य इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से पूर्वपद काली की ईकार को ह्रस्व, मुम् का आगम होने पर कालिम्मन्य, स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् प्रत्यय, प्र० एक व० में कालिम्मन्या रूप बनता है।

करणे इति—करण उपपद रहते भूतकाल में वर्तमान यज् धातु से णिनि प्रत्यय हो, कर्त्ता अर्थ में।

सोमयाजी—सोमेन इष्टवान् (जिसने सोम नामक यज्ञ किया हो) सोमेन इस तृतीयान्त सुवन्त के उपपद रहते यज् (यज्ञ करना) धातु से प्रस्तुत सूत्र से णिनि प्रत्यय, उपपद समास, विभक्ति लोप, उपधा वृद्धि, सोमयाजिन् प्रतिपदिक से प्र० एक व० में सोमयाजी रूप सिद्ध होता है।

अग्निष्टोमयाजी—अग्निष्टोमेन इष्टवान् (अग्निष्टोम नामक यज्ञ जिसने किया हो) पूर्ववत् अग्निष्टोमयाजिन् प्रातिपदिक से प्र० एक व० में 'अग्निष्टोमयाजी' रूप बनता है।

दृशेः क्वनिप् ।३।२।९४।।

कर्मणि भूते । पारं दृष्टवान्-पारदृश्वा ।

राजनि युधि कृञः ।३।२।९५।।

क्वनिप् स्यात् । युधिरन्तर्भावितण्यर्थः । राजानं योधितवान्-राजयुध्वा । राजकृत्वा ।

सहे च ।३।२।९६।।

कर्मणीति निवृत्तम् । सह योधितवान्-सहयुध्वा । सहकृत्वा ।

दृशेरिति—कर्म उपपद रहते भूतकालवर्ती दृश् धातु से क्वनिप् प्रत्यय हो, कर्त्ता अर्थ में ।

पारदृश्वा—पारं दृष्टवान् (जिसने पार देख लिया हो, अर्थात् पूर्ण) पार अम् दृश् (देखना) धातु से क्वनिप् प्रत्यय, उपपद समास, विभक्ति लोप, (क्वनिप् का वन् शेष रहता है। पारदृश्वन् इस नकारान्त प्रातिपदिक से प्र० एक व० में 'पारदृश्वा' रूप बनता है ।

राजनीति—राजन् कर्म उपपद रहते युध् और कृञ् धातु से क्वनिप् (वन) प्रत्यय हो ।

युधीति—युध् धातु से यहाँ अन्तर्भावितण्यर्थ गृहीत है अर्थात् सूत्र में 'युधि' कहने से जाना जाता है कि यहाँ युध् से णि प्रत्यय करके युधि का ग्रहण किया गया है । अतः युधि इस ण्यन्त धातु से ही प्रत्यय होगा ।

राजयुध्वा—राजानं योधितवान् (जिसने राजा को युद्ध कराया हो) राजन्+अम्+युध् धातु से प्रकृत सूत्र से क्वनिप् प्रत्यय, उपपद समास, विभक्ति लोप, नकार-लोप, राजयुध्वन् इस नकारान्त प्रतिपदिक से प्र० एक व० में 'राजयुध्वा' यह रूप बनता है ।

राजकृत्वा—राजानं कृतवान् (जिसने राजा बनाया हो) राजन् अम् कृ (करना) धातु से क्वनिप्, शेष कार्य पूर्ववत्, राजकृत्वन् प्रातिपदिक से प्र० एक व० में 'राजकृत्वा' बनता है ।

सहेचेति—सह उपपद रहते हुये भी युध् और कृ धातु से क्वनिप् प्रत्यय हो ।

कर्मणीति—'कर्मणि' इसकी निवृत्ति हो गई, अर्थात् इस सूत्र में 'कर्मणि' पद की अनुवृत्ति न होगी, क्योंकि 'सह' के अव्यय होने के कारण, उसका कर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होगा ।

सहयुध्वा—सह योधितवान् (जिसने साथ-साथ लड़ाया हो) सह+युध् धातु से क्वनिप् प्रत्यय होने पर सहयुध्वन् प्रातिपदिक से प्र० एक व० में 'सहयुध्वा' बनता है ।

सप्तम्यां जनेर्डः ।३।२।९७।।

तत्पुरुषे कृति बहुलम् ।३।६।१४।।

ङे रलुक् । सरसिजम् । सरोजम् ।

उपसर्गे च संज्ञायाम् ।३।२।९९।।

प्रजा स्यात् सन्ततौ जने ।

क्तक्तवतू निष्ठा ।१।१।२६।।

सहकृत्वा—सह कृतवान् (जिसने साथ-साथ किया हो) सह+कृ+क्वनिप्= सह कृत्वन्, पूर्ववत् 'सहकृत्वा' यह रूप बनेगा ।

सप्तम्यामीति—सप्तम्यन्त सुवन्त उपपद रहते जन् धातु से ड प्रत्यय हो ।

(ड प्रत्यय का डकार इत् संज्ञक है 'अ' शेष रहता, डित् होने के कारण, इसके परे रहते "टेः" सूत्र से 'टि' का लोप होता है। यह प्रत्यय भी भूतार्थ में होता है।)

तत्पुरुषे इति—तत्पुरुष समास में कृत् प्रत्यय परे रहने पर सप्तमी का लोप नहीं होता, बहुल रूप से ।

ङेरलुक्—अर्थात् सप्तमी विभक्ति एक वचन के प्रत्यय 'ङि' का लोप, जो समास करने पर "सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः" सूत्र से प्राप्त था, नहीं होता है ।

सरसिजम्—सरसि जातम् (सरोवर में उत्पन्न हुआ कमल आदि) सम्यन्त सरस् (सरसि) ङि पूर्वक जन् (उत्पन्न होना) धातु से ड प्रत्यय, डित् होने से 'अन्' इस 'टि' का लोप, सरस् ङि ज् अ इस स्थिति में उपपद समास, विभक्ति लोप प्राप्त था उसका 'तत्पुरुष' सूत्र से निषेध, सरसिज इस प्रातिपदिक से सामान्य में नपुं० प्र० एक व० में 'सरसिजम्' यह रूप बना, अलुक् विकल्प से होता है अतएव पक्ष में विभक्ति लोप होने पर, सरस् के सकार को रुत्व, उत्व तथा गुण करने पर 'सरोजम्' यह रूप बनता है।

उपसर्गे चेति—उपसर्ग उपपद रहते हुये भी संज्ञा अर्थ में जन् धातु से ड प्रत्यय हो ।

प्रजास्यादिति—अर्थात् प्रजा शब्द सन्तति और प्रजाजन के अर्थ में है, अर्थात् इनकी संज्ञा है। प्रजा शब्द का संज्ञा अर्थ बताने के लिये ही, 'अमरकोष' का यह प्रमाण उद्धृत किया गया है।

प्रजा—प्रकर्षेण जाता (सन्तति या जनता) प्र उपसर्ग पूर्वक जन् धातु से संज्ञा अर्थ में ड प्रत्यय, डित् होने से टि लोप, 'प्रज' प्रातिपदिक से स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् प्रत्यय होकर 'प्रजा' शब्द बनता है ।

क्तेति—क्त और क्तवतु प्रत्ययों की निष्ठा संज्ञा होती है ।

एतौ निष्ठा संज्ञौ स्तः ।

निष्ठा ।३।२।१०२।।

'भूतार्थवृत्ते'र्धातोर्निष्ठा स्यात् । तत्र "तयोरेव'—इति भावकर्मणोः क्तः, 'कर्तरि कृद्' इति कर्तरि क्तवतुः । उकावितौ । स्नातं मया । स्तुतस्त्वया विष्णुः । विश्वं कृतवान् विष्णुः ।

निष्ठेति—भूतकालार्थ में वर्तमान धातु से निष्ठा संज्ञक प्रत्यय (क्त और क्तवतु) हों।

तयोरेवेति 'तयोरेव कृत्यक्त खलर्थाः । इस सूत्र के अनुसार क्त प्रत्यय भाव और कर्म में होगा अर्थात् अकर्मक धातुओं से भाव में और सकर्मक धातुओं से कर्म में प्रत्यय होगा । कर्म और भाव में प्रत्यय होने से कर्त्ता में तृतीया विभक्ति होगी । 'कर्तरिकृत्' सूत्र के अनुसार सकर्मक और अकर्मक धातुओं से क्तवतु प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में होगा, अतः इसके कर्त्ता में प्रथमा विभक्ति होगी ।

उकाविताविति—क्त और क्तवतु के ककार का तथा क्तवतु के उकार की इत् संज्ञा है अतः त और तवत् शेष रहते हैं । क्त प्रत्ययान्त शब्द अकारान्त तथा क्तवतु प्रत्ययान्त शब्द तकारान्त होते हैं ।

स्नातं मया—(मैंने स्नान कर लिया) स्ना धातु से (अकर्मक होने के कारण) भाव में, भूतकाल में 'निष्ठा' सूत्र से क्त प्रत्यय होने पर 'स्नात' इसकी कृदन्त होने के कारण प्रातिपदिक संज्ञा, प्रथमा एक वचन में सु प्रत्यय, भाव में प्रत्यय होने के कारण स्वभावतः नपुं० एक वचन होने सु को अम् आदेश होकर 'स्नातम्' रूप बना ।

मया यह तृतीयान्त कर्त्ता है । क्योंकि 'स्नातम्' यह भाववाच्य है, भाव वाच्य या कर्म वाच्य में कर्त्ता के अनुक्त होने से उसमें तृतीया विभक्ति होती है ।

(यद्यपि यहाँ अकर्मक धातुओं से क्त प्रत्यय भाव अथवा कर्म में ही बतलाया गया है, तथापि "गत्यर्थाकर्मक श्लिष्शीङ्स्थासवस जनरुहजीर्यतिभ्यश्च" इस सूत्र के अनुसार गत्यर्थक, अकर्मक, तथा श्लिष्, शीङ् (सोना) स्था, आस्, वस, जन, रुह, (उगना) जॄ (जर्जरित होना) इन धातुओं से कर्त्ता अर्थ में भी क्त प्रत्यय होता है, जैसे तेन गतम् तथा स गतः चलितः ग्लानः आश्लिष्टः आदि प्रयोग होते हैं ।)

स्तुतः त्वया विष्णुः—(तुमने विष्णु की स्तुति की) यहाँ स्तु धातु के सकर्मक होने से क्त प्रत्यय कर्म में हुआ है । क्त प्रत्यय के कित् होने के कारण गुण निषेध होने पर 'स्तुतः' यह रूप बना है ।

इसके आगे 'त्वया विष्णुः' लिखने का तात्पर्य यह है कि स्तु धातु से कर्म में क्त प्रत्यय है, अतएव कर्म के उक्त हो जाने से विष्णुः में प्रथमा और अनुक्त कर्त्ता 'मया' में तृतीया विभक्ति है ।

रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः ।८।२।४२।।

रदाभ्यां परस्य निष्ठा-तस्य नः स्यात् निष्ठापेक्षया पूर्वस्य धातोर्दस्य च । शॄ हिंसायाम्, ॠत इत्, रपरः, णत्वम् शीर्णः । भिन्नः । छिन्नः ।

संयोगादेरातोधातोर्यण्वतः ।८।२।४३।।

निष्ठातस्य नः स्यात् । द्राणः । ग्लानः ।

ल्वादिभ्यः ।८।२।४४।।

विश्वं कृतवान् विष्णुः—(विष्णु ने संसार को बनाया) यहाँ कृ धातु से भूतकाल में क्तवतु (तवत्) प्रत्यय है, क्तवतु प्रत्यय कर्तृवाच्य में होता है। कृतवत् इस प्रातिपदिक से प्रथमा एक वचन से 'कृतवान्' यह रूप बनता है।

यहाँ कर्त्ता में प्रत्यय होने के कारण उक्त कर्त्ता में प्रथमा (विष्णुः) और अनुक्त कर्म में द्वितीया (विश्वम्) है।

रदाभ्यामिति—रेफ और दकार से परे निष्ठा प्रत्यय के तकार को नकार हो, तथा निष्ठा की अपेक्षा पूर्व धातु के दकार को भी नकार हो।

शीर्णः (नष्ट हुआ) शॄ (हिंसा करना) धातु से कर्म में भूतकाल में क्त प्रत्यय, "ॠत इद्धातोः' सूत्र से ॠकार का इत् इकार, तपर, शिर्+त इस स्थिति में 'हलिच' इस सूत्र से इकार को दीर्घ, शीर्+त इस दशा में रेफ से पर निष्ठातकार को प्रकृत सूत्र से नकार तथा उसको णकार होकर शीर्ण प्रातिपदिक ने प्र० एक व० में 'शीर्णः' रूप बनता है।

भिन्नः (फाड़ा हुआ) भिद, (फाड़ना) धातु से क्त प्रत्यय होकर भिद्+त इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से तकार को नकार तथा धातु के दकार को भी नकार आदेश होने से भिन्न इस प्रातिपदिक से 'भिन्नः' रूप बनता है।

छिन्नः (काटा हुआ) छिद् धातु से पूर्ववत् इस रूप की भी सिद्धि होगी।

संयोगादेरिति—संयोग जिनके आदि में हो और जो यण् (य् र् ल् व्) वालीं हों ऐसी आकारान्त धातुओं से निष्ठा के तकार का नकार हो।

द्राणः—(कुत्सित गतिवान्) द्रा धातु से क्त प्रत्यय, तकार को प्रकृत सूत्र से नकार, णत्व, द्राण प्रातिपदित से प्र० एक व० में द्राणः रूप बनता है।

ग्लानः—(दुखी) ग्लै (हर्षक्षय होना, ग्लानि होना) धातु से क्त प्रत्यय, 'आदेच उपदेशेऽशिति' से ऐकार का आकार, प्रकृत सूत्र से तकार को नकार ग्लान प्रातिपदिक से 'ग्लानः' रूप बनता है।

ल्वादिभ्य इति—ल्वादिगण की लूञ् आदि २१ धातुओं से परे निष्ठा तकार को नकार आदेश हो।

एक विंशतेर्लूनादिभ्यः प्राग्वत् । लूनः । ज्या धातुः । ग्रहिज्या इति सम्प्रसारणम् ।

हलः ।६।४।४२।।

अङ्गावयवाद्धलः परं यत्संप्रसारणं तदन्तस्य दीर्घः । जीनः ।

ओदितश्च ।८।२।४५।।

भुजो—भुग्नः । टुओश्वि—उच्छूनः ।

शुषः कः ।८।२।५१।।

निष्ठा-तस्य कः शुष्कः ।

लूनः—(काटा हुआ) लूञ् (काटना, छेदना) धातु से क्त प्रत्यय, प्रकृत सूत्र से तकार को नकारादेश, 'लूनः' यह रूप बनता है ।

हलः—अङ्ग के अवयव हल् (व्यञ्जन वर्ण) से पर जो सम्प्रसारण तदन्त को दीर्घ हो ।

जीनः—(जीर्ण हुआ, क्षीण आयु वाला) ज्या (जीर्ण होना) धातु से क्त प्रत्यय, ल्वादि धातुओं में होने के कारण ल्वादिम्यः सूत्र से तकार को नकारादेश, 'ग्रहिज्या' इत्यादि सूत्र से यकार को इ सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणच्च' सूत्र से आकार का पूर्व रूप, जि+न इस स्थिति में 'हलः' सूत्र से इकार को दीर्घ होकर 'जीन' प्रातिपदिक से प्र० एक व० यें 'जीनः' यह रूप बना ।

ओदितश्चेति—ओदित् (जिनमें से ओकार की इत् संज्ञा हुई हो) धातुओं से परे निष्ठातकार को नकार हो ।

भुग्नः—(टेढ़ा) भुजो (कौटिल्यार्थक) धातु से 'ओ' की इत्संज्ञा होने से यह धातु ओदित् हुआ तब भुज्, धातु से क्त प्रत्यय के तकार को प्रकृत सूत्र से नकारादेश होकर भुज्+न इस स्थिति में 'चोः कुः' इस सूत्र से जकार को कुत्व+गकार होने पर भुग्न प्रातिपदिक से 'भुग्नः' यह रूप बनता है ।

उच्छूनः—(सूजा हुआ) उत्, उपसर्ग पूर्वक टु ओश्वि (गति और वृद्धि) धातु में टु और ओ इत्, संज्ञक होने से 'श्वि' इस ओदित धातु से क्त प्रत्यय के तकार को नकार "वचिस्वपियजादीनां किति" सूत्र से (श्वि धातु के यजादि धातुओं में होने के कारण) वकार का 'उ' सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' सूत्र धातु के इकार का पूर्व रूप, उत्+शु+न इस स्थिति में 'हलः' से उकार को दीर्घ, 'श्वीदिप्तो निष्ठायाम्' सूत्र से इट् का निषेध, श्चुत्वविधि से तकार का च्, शकार का छकार 'उच्छून' प्रातिपदिक से 'उच्छूनः' यह रूप बनता है ।

शुष इति—शुष् धातु से परे निष्ठा तकार को ककार हो ।

शुष्कः (सूखा हुआ) शुष् (सूखना) धातु से क्त के तकार को प्रकृत सूत्र से ककारादेश होने पर 'शुष्कः' यह रूप बनता है ।

पचो वः ।८।२।५२।। पक्वः । क्षै हर्षक्षये—

क्षायो मः ।८।२।५३।। क्षामः ।

निष्ठायां सेटि ।६।४।५२।।

णेर्लोपः । भावितः । भावितवान् । दृह् हिंसायाम्—

दृढ़ः स्थूल बलयोः ।७।२।२०।।

स्थूले बलवति च निपात्यते ।

दधाते र्हिः ।७।४।४२।।

तादौ किति । हितम् ।

दो दद्घोः ।७।४।४६।।

घुसंज्ञकस्य दा इत्यस्य दद् स्यात् । तादौ किति । चर्त्वम् । दत्तः ।

पच इति—पच् धातु से पर निष्ठा तकार को वकार हो ।

पक्वः—(पका हुआ) पच् (पकाना) धातु से क्त के तकार को वकारादेश होने पर 'पक्वः' यह रूप बनता है ।

क्षाम इति—क्षै धातु से पर निष्ठा तकार को मकार हो ।

क्षामः (कृश हुआ) क्षै (क्षीण होना) धातु से क्त प्रत्यय 'आदेच्' इत्यादि सूत्र से ऐकार को आकारादेश, तकार को मकार आदेश होकर 'क्षामः' यह रूप बनता है ।

निष्ठाया मिति—इट् सहित (सेट्) निष्ठा संज्ञक प्रत्यय परे रहने पर णि का लोप होता है ।

भावितः, भावितवान्—यहाँ प्रेरणार्थक णि प्रत्ययान्त भू धातु से वृद्धि, आवादेश करके 'भावि' से क्त और क्तवतु प्रत्यय करने पर, तकार के वलादि आर्ध धातुक प्रत्यय होने से इट् का आगम, भावि इ त, तथा भावि इ तवत् इस स्थिति में प्रस्तुत सूत्र से सेट निष्ठा के आगे रहने पर णि का लोप, प्र० एक व० में भावितः, भावितवान् रूप होते हैं ।

दृढ़ इति—स्थूल और बलवान् अर्थ में दृढ़ शब्द की सिद्धि निपातन से होती है ।

दृह, (हिंसार्थक) धातु से क्त प्रत्यय 'होढः' हकार को ढकार, 'झषस्तथो र्धोऽधः' सूत्र से त को ध, ष्टुत्वविधि से धकार को ढकार ''ढोढ़े लोपः' सूत्र से पूर्व ढकार लोप, 'दृढः' रूप बना ।

दधातेरिति—धा धातु को हि आदेश होता है । तकारादि कित् प्रत्यय परे रहते ।

हितम्: (धारण किया हुआ) धा (धारण करना) धातु से क्त प्रत्यय होने

लिटः कानज्वा ।३।२।१०६।।

क्वसुश्च ।३।२।१०७।।

लिटः कानच् क्वसुश्च वा स्तः । तङानावात्मने पदम् । चक्राणः ।

म्वोश्च ।८।२।६५।।

मान्तस्य धातोर्नत्वं म्वोः परतः । जगन्वान् ।

पर प्रकृत सूत्र से 'धा' को हि आदेश होकर हित प्रातिपदिक से नपुं० प्र० एक व० में 'हितम्' रूप बनता है ।

दो ददिति—घु संज्ञक दा धातु को दद् आदेश हो, तकारादि कित प्रत्यय परे रहते ।

दत्तः (दिया हुआ) दा (देना) धातु से क्त प्रत्यय, धातु को प्रकृत सूत्र से दद् आदेश, दकार को चर्त्वविधि से तकार, 'दत्त' इस प्रातिपदिक से 'दत्तः' यह रूप बनेगा ।

लिट इति—लिट् लकार को कानच् हो विकल्प से ।

क्वसुश्चेति—लिट् लकार को क्वसु, भी आदेश हो विकल्प से ।

(कानच् और क्वसु में क्रम से आन और वस् शेष रहते हैं, शेष अनुबन्धों का लोप हो जाता है ।)

तङनाविति—तङ् अर्थात् त से लेकर महिङ् तक तिङन्त प्रकरण में धातुओं के आगे आने वाले ९ प्रत्यय तथा आन अर्थात् शानच् कानच् आदि वे प्रत्यय जिनमें 'आन' शेष रहता है, इनकी आत्मने पद संज्ञा होती है अर्थात् तङ् और आन प्रत्यय आत्मने पदी धातुओं से होते हैं ।

चक्राणः—(भूतकाल में करता हुआ) कृ (करना) धातु से परे लिट् लकार के स्थान में कानच्, कृ+आन इस स्थिति में, लिट् के स्थान में होने के कारण कानच् परे रहते भी धातु को द्वित्व (कृ कृ) अभ्यास कार्य (पूर्व ऋकार को 'अ') (रपर, र् का लोप, ककार को चकार आदि) करने पर चकृ+आन इस स्थिति में यण् और णत्व होकर 'चक्राणः' यह रूप सिद्ध होता है ।

म्वोश्चेति—मकारान्त धातु को नकारादेश हो, मकार और वकार परे रहते ।

जगन्वान्—(गया हुआ) गम् धातु से परे लिट् को क्वसु (वस्) आदेश होने पर, द्वित्व, अभ्यास कार्य, होने पर जगम्+वस् इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से धातु के अन्त्य मकार को नकारादेश, होने पर जगन्वस् प्रातिपदिक से प्र० एक व में सु प्रत्यय आने पर क्वसु प्रत्यय के उगित् होने के कारण नुम्, दीर्घ, सुलोप, संयोगान्त सकार लोप होकर 'जगन्वान्' रूप बनता है। इसके रूप सकारान्त विद्वस् शब्द की तरह बनेंगे ।

लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे ।३।२।१२४।।

अप्रथमान्तेन समानाधिकरणे लट एतौ वा स्तः । शबादि । पचन्तं चैत्रं पश्य ।

आने मुक् ।७।२।८२।।

अदन्ताङ्गस्य मुगागमः स्याद् आने परे । पचमानं चैत्रं पश्य । लडित्यनुवर्तमाने पुनर्लड्ग्रहणात् प्रथमासमानाधिकरण्येऽपि क्वचित्, सन्, द्विजः ।

लट इति—अप्रथमान्त (प्रथमान्त से भिन्न) से समानाधिकरण होने पर लट् लकार के स्थान में शतृ और शानच् हों ।

शबादीतिः—शतृ (अत्) शानच् (आन) आदि के शित् होने से शप् (अ) आदि प्रत्यय (विकरण) भी होते हैं ।

पचन्तं चैत्रं पश्यः—(पकाते हुये चैत्र को देखो) पच् (पकाना) धातु से लट् लकार के स्थान में शतृ (अत्) आदेश, शित् होने से शप् विकरण, पच् अ अत् इस स्थिति में 'अतो गुणो' से अकार का पर रूप, होकर पचत् प्रातिपदिक से द्वितीयैक वचन में नुम होकर 'पचन्तम्' रूप बनता है ।

आने इति—अदन्त (ह्रस्व अकारात) अङ्ग को मुक् का आगम हो, आन परे रहते ।

पचमानं चैत्रं पश्य—(पकाते हुये चैत्र को देखो) पच् धातु से लट् के स्थान में शानच् (आन) प्रत्यय, शप्, (अ) होने पर अदन्त अंग से पर होने के कारण प्रस्तुत सूत्र से आन परे रहते मुक् का आगम होकर 'पचमान' प्रातिपदिक से द्वितीया एक-वचन में 'पचमानम्' रूप बना ।

(शानच् प्रत्यय केवल आत्मने पदी धातुओं से होता है पच् धातु उभयपदी है, अतः इससे शतृ व शानच् दोनों ही प्रत्यय होंगे । शानच् प्रत्यय आगे रहने पर अदन्त अङ्ग से परे मुक् का आगम होता है, अतः शप् श्यन् श आदि विकरणावाली आत्मने पदी धातुओं से ही मुक् का आगम होगा, अन्य विकरणों वाली धातुओं से नहीं ।)

लडिति—'लटः शतृशानचावित्यादि' सूत्र में जबकि 'वर्तमाने लट्' सूत्र से लट् की अनुवृत्ति आ ही सकती थी, तो फिर पुनः लट् ग्रहण करने के सामर्थ्य से यह सिद्ध होता है कि कहीं-कहीं पर प्रथमान्त से समानाधिकरण रहने पर भी शतृ शानच् प्रत्यय हो जाते हैं ।

सन् द्विजः—(अच्छा ब्राह्मण) अस् (होना) धातु से प्रथमान्त–द्विजः—के साथ समानाधिकरण होने पर भी लट् के स्थान में शतृ (अत्) प्रत्यय होने पर 'श्नसो-रल्लोपः' सूत्र से धातु के आदि अकार का लोप होने पर 'सत्' इस प्रातिपदिक के प्रथ-मैक वचन में सु प्रत्यय, नुम् सुलोप, संयोगान्त तकार लोप आदि विभक्ति कार्य होने पर 'सन्' यह रूप बनता है ।

विदेः शतुर्वसुः ।७।१।३६।।

वेत्तेः परस्य शतुर्वसुरादेशो वा । विदन् । विद्वान् ।

तौ सद् ।३।२।१२७।।

तौ शतृशानचौ सत् संज्ञौ स्तः ।

लृटः सद्वा ।३।३।१४।।

व्यवस्थितविभाषेयम् । तेनाप्रथमासमानाधिकरण्ये प्रत्ययोत्तर पदयोः सम्बोधने लक्षण हेत्वोश्च नित्यम् । करिष्यन्तं करिष्यमाणं पश्य ।

पहिले तो सूत्रानुरोध से द्वितीयान्त ही उदाहरण दिये गये थे पर 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति' आदि प्रथमान्त प्रयोग देखकर 'सन्' यह प्रथमान्त उदाहरण दिया गया गया है । वास्तव में प्रथमान्त प्रयोग वहुत अधिक मिलते हैं, अतएव इस ज्ञापक की आवश्यकता थी ।

विदेरिति—विद् धातु से परे शतृ के स्थान में वसु आदेश हो विकल्प से ।

विदन्—विद्वान् (जानता हुआ) अदादिगण की विद् (ज्ञानार्थक) धातु से लट् के स्थान में शतृ प्रत्यय होने पर प्रकृत सूत्र से शतृ के स्थान में वसु (वस्) आदेश होने पर 'विद्वस्' इस प्रातिपदिक से प्र० एक व० में सु प्रत्यय, नुम, दीर्घ, संयोगान्त लोप, सुलोप आदि विभक्ति कार्य करने पर विद्वान् यह रूप बनता है, वसु आदेश के अभाव पक्ष में विद् से शत् करने पर विदत् इस प्रातिपदिक से प्र० एक व० में नुम् आदि विभक्ति कार्य करने पर विदन् यह रूप वनता है ।

तौ इति—वे शतृ और शानच् सत् संज्ञक हों ।

लृट इति—लृट् लकार के स्थान में सत् संज्ञक प्रत्यय (शतृ और शानच्) विकल्प से हों ।

व्यवस्थेति—यह व्यवस्थित विभाषा है अर्थात् सत् संज्ञक प्रत्ययों का विकल्प व्यवस्था के अनुसार समझना चाहिये । कहीं तो ये नित्य होते हैं और कहीं नहीं भी ।

तेनेति—इसीलिये अप्रथमासमानाधिकरण में, प्रत्यय और उत्तर पद परे रहते, सम्बोधन, लक्षण तथा हेतु अर्थ में तो ये आदेश नित्य होंगे ।

(अप्रथमासमानाधिकरण का उदाहरण तो नीचे दिया गया है पर शेष के उदहारण इस पुस्तक में नहीं दिये गये हैं ।)

करिष्यन्तं करिष्ययाणं पश्य—(आगे-भविष्य में कार्य करने वाले को देखो) यहाँ उभयपदी कृ धातु से लृट् के स्थान में शतृ (अत्) व शानच् (आन) आदेश करने पर स्य और इट् गुण, षत्व आदि होकर करिष्यत् तथा करिष्यमाण प्रातिपदिकों से द्वि० एक व० में उक्त रूप बनते हैं ।

आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु ।३।२।१३४।।

क्विपमभिव्याप्य वक्ष्यमाणाः प्रत्ययास्तच्छीलादिषु कर्तृषु बोध्याः ।

तृन् ।३।२।१३५।।

कर्त्ता कटान् ।

जल्पभिक्षकुट्टलुण्टवृङः षाकन् ।३।२।१५५।।

षः प्रत्ययस्य ।१।३।६।।

प्रत्ययस्यादिः ष इत्संज्ञः स्यात् । जल्पाकः । भिक्षाकः । कुट्टाकः । लुण्टाकः । वराकः-वराकी ।

सनाशंस भिक्ष उः ।३।२।१६८।।

चिकीर्षुः । आशंसुः । भिक्षुः ।

आक्वेरिति—क्विप् प्रत्यय तक कहे जाने वाले प्रत्यय तच्छील, तद्धर्म, तत्साधुकारी कर्त्ता के अर्थ में समझना चाहिये ।

तृनिति—धातु से उक्त कर्त्ता अर्थ में तृन् प्रत्यय हो ।

कर्त्ता—कटान्—(चटाइयाँ बनाने का स्वभाव रखने वाला (तच्छील) चटाइयाँ बनाना अपना धर्म समझने वाला (तद्धर्म) अथवा चटाइयों को अच्छी तरह बनाने वाला (तत्साधुकारी) यहाँ कृ धातु से उक्त अर्थों में प्रकृत सूत्र से तृन् प्रत्यय, गुण होकर कर्तृ प्रातिपदिक से प्र० एक व० में 'कर्त्ता' रूप बना है ।

जल्पेति—जल्प, भिक्ष, कुट्ट, लुण्ट, वृङ् इन धातुओं से षाकन् प्रत्यय हो तच्छीलादि कर्त्ता अर्थ में ।

ष इति—प्रत्यय के आदि के 'ष' की इत्संज्ञा हो ।

जल्पाकः—(जल्पितुं शीलमस्य—बोलना जिसका स्वभाव हो) जल्प् धातु से प्रकृत सूत्र द्वारा षाकन् प्रत्यय, इस सूत्र से षकार की इत् संज्ञा, लोप, 'आक' शेष रहने पर जल्पाक प्रातिपदिक से 'जल्पाकः' रूप बनता है ।

भिक्षाकः (भिक्षा मांगने का स्वभाव वाला) पूर्ववत् भिक्ष+षाकन् (आक) 'भिक्षाकः' रूप सिद्ध होता है ।

कुट्टाकः (कूटने का स्वभाव वाला) 'कुट्टाकः' इसी प्रकार ।

लुण्टाकः (लूटने का स्वभाव वाला) 'लुण्टाकः' इसी प्रकार ।

वराकः (चाहने वाला, या बेचारा) वृङ् धातु से षाकन् 'आक' गुण, 'वराकः' षाकन् प्रत्यय के षित् होने के कारण, स्त्रीत्व विवक्षा में ङीष् प्रत्यय होकर 'वराकी' रूप बनेगा ।

सनेति—सन् प्रत्ययान्त धातुओं, आ+शंस् धातु तथा भिक्ष धातु से उ प्रत्यय होता है ।

भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपृजुग्रावस्तुवः क्विप ।३।२।१७७।।

विभ्राट् । भाः ।

राल्लोपः ।६।४।२१।।

रेफाच्छ्वोर्लोपः क्वौ झलादो क्ङिति ।

धूः । विद्युत् । ऊर्क् । पूः । दृशिग्रहणस्यापकर्षाज्जवतेर्दीर्घः । जूः । ग्रावस्तुत् ।

चिकीर्षुः (करने की इच्छा रखने वाला) कर्तुमिच्छति इस अर्थ में कृ धातु से सन् प्रत्यय होकर 'चिकीर्ष्' यह रूप बनता है अतः सन्नन्त चिकीर्ष् धातु से प्रकृत सूत्र से 'उ' प्रत्यय होकर 'चिकीर्षु' प्रातिपदिक से उक्त रूप बनता है।

आशंसुः (आशा रखने वाला) आ+शंस् धातु से उ प्रत्यय होकर प्र० एक व० में 'आशंसुः' रूप बनता है।

भिक्षुः (मांगने वाला) भिक्ष+उ='भिक्षुः' रूप बनता है।

भ्राजेति—भ्राज्, भास्, धुर्वि, द्युत्, ऊर्ज, पृ, जु तथा ग्राव पूर्वक स्तु धातुओं से क्विप् प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थों में।

विभ्राट्—(विशेष रूप से चमकने वाला) वि+भ्राज् (चमकना) धातु से प्रकृत सूत्र से क्विप् प्रत्यय, सर्वापहारलोप, विभ्राज् प्रातिपदिक से प्र० एक व० में सु प्रत्यय, उसका लोप, व्रश्चभ्रस्जेत्यादि सूत्र से जकार को षकार, जश्त्वविधि से षकार का डकार तब चर्त्वविधि से ट्कार होकर उक्त रूप बना है।

भाः—(दीप्ति-चमक) भास् (चमकना) धातु से क्विप् प्रत्यय, लोप, भास् प्रातिपदिक से प्र० एक व० में सु प्रत्यय, लोप, सकार को रुत्व विसर्ग होकर 'भाः' रूप बनता है।

राल्लोप इति—रेफ से परे च्छ् तथा व् का लोप हो, झलादि कित्, ङित् परे रहते।

धूः—(धुरा) धुर्व् (हिंसार्थक) धातु से क्विप् प्रत्यय, लोप, प्रकृत सूत्र से रेफ से पर धातु के वकार का लोप, धुर् प्रातिपदिक से प्र० एक व० में सु प्रत्यय, उसका लोप "र्वोरुपधायाः" सूत्र से उकार को दीर्घ, र् का विसर्ग होकर 'धूः' रूप बनता है।

विद्युत् (बिजली) वि पूर्वक द्युत् (चमकना) धातु से क्विप् प्रत्यय, लोप, 'विद्युत्' इस कृदन्त प्रातिपदिक से उक्त रूप बनता है।

ऊर्क्—(बलवान्) ऊर्ज, (बल तथा जीवन होना) धातु से क्विप्, लोप्, 'ऊर्ज्' कृदन्त प्रातिपदिक से प्र० एक व० में सु प्रत्यय, लोप, 'चोः कुः' सूत्र से जकार को गकार, वैकल्पिक चर्त्व विधि से पक्ष में क् होकर उक्त रूप बनता है।

(वा) क्विब्वचि प्रच्छ्यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणंच वक्तीति-वाक् ।

च्छ्वोः शूडनुनासिके च ।६।४।१६।।

सतुक्कस्य छस्य वस्य च क्रमात् श ऊठ् इत्यादेशौ स्तोऽनुनासिके क्वौ झलादौ किङ् ति । पृच्छतीति प्राट् । आयतं स्तौति-आयतस्तूः । कटं प्रवते-कटप्रूः । जूरुक्तः । श्रयति हरिम्-श्रीः ।

पूः—(नगर—पुर) पृ (पालन या पूर्ण करना) धातु से क्विप्, लोप, "उदोष्ठ्य पूर्वस्य" सूत्र से ऋकार को उ, रपर, 'पुर्' इस कृदन्त प्रातिपदिक से 'धूः' के समान उक्त रूप बनता है ।

"अन्येभ्योऽपि दृश्यते" सूत्र से 'दृश्यते' में दृश् ग्रहण का फल यह है कि इसके अतिरिक्त अन्य कार्य भी होते हैं । प्रकृत सूत्र में उसी 'दृश्यते' के अपकर्ष करने से यहाँ भी 'जूः' इस प्रयोग में अन्य कार्य—दीर्घ होता है ।

(अनुवृत्ति तो पिछले सूत्रों से आगे के सूत्रों में होती है, पर 'अपकर्ष' आगे के सूत्रों से पिछले सूत्रों में किया जाता है, आवश्यकतानुसार दोनों विधियों से कार्य किया जाता है ।)

जूः (रोगी या वेगवान्) जु (गत्यर्थक) धातु से क्विप्, लोप, दृश्यते, इस अपकर्ष सामर्थ्य से दीर्घ 'जू' इस कृदन्त प्रातिपदिक से 'जूः' रूप बनता है, यह ऊकारान्त शब्द है ।

ग्रावस्तुत्—(पाषाण का गुण गाने वाला या पूजक) ग्राव पूर्वक स्तु (स्तुति करना) धातु से क्विप, लोप, "ह्रस्वस्येत्यादि सूत्र से तुक् का आगम, ग्रावस्तुत् इस कृदन्त प्रातिपदिक से प्र० एक व० में सु लोप होकर उक्त रूप बनता है ।

(वा) **क्विबिति**—वच्, प्रच्छ्, आयत पूर्वक स्तु, कट पूर्वक प्रु, जु तथा श्रि धातुओं से क्विप् प्रत्यय, दीर्घ तथा सम्प्रसारणाभाव हो ।

वाक् (वाणी) वक्ति इति अर्थात् जो बोलती है, वच् (बोलना) धातु से प्रकृत वार्तिक से क्विप्, दीर्घ, होकर 'वाच्' इस कृदन्त प्रातिपदिक से प्र० एक व० में कुत्व होकर उक्त रूप बनता है ।

च्छ्वोरिति—तुक् सहित छकार और वकार को क्रमशः श और ऊठ् हों, अनुनासिक क्वि और झलादि कित् ङित् परे ।

प्राट्—(प्रश्न करने वाला) पृच्छति-इति प्राट्, प्रच्छ् (पूछना) धातु से प्रकृत वार्तिक द्वारा क्विप्, दीर्घ, सम्प्रसारणाभाव प्रकृत सूत्र से च्छ् को शकारादेश, 'प्राश्' इस कृदन्त प्रातिपदिक से प्र० एक व० में 'व्रश्चेत्यादि' सूत्र से शकार को ष, जश्त्व से ड् चर्त्व से ट् होकर 'प्राट्' रूप बनता है ।

दाम्नीशसयु युजस्तु तुदसि सिचमिहपतदशनहः करणे ।३।२।१८२।।

दबादेः ष्ट्रन् स्यात्करणेऽर्थे । दात्यनेन दात्रम् । नेत्रम् ।

तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च ।७।२।६।।

एषां दशानां कृत्प्रत्ययानामिण्न । शस्त्रम् । योत्रम् । योक्त्रम् । स्तोत्रम् । तोत्त्रम् । सेत्रम् । सेक्त्रम् । मेढ्रम् । पत्त्रम् । दंष्ट्रा । नद्ध्री ।

आयतस्तू—(विस्तारपूर्वक गुणगान करने वाला) आयतं स्तौति-इति, आयात पूर्वक स्तु धातु से क्विप्, दीर्घ, 'आयतस्तू' इस प्रातिपदिक से प्र० एक व० में उक्त रूप बनता है ।

कटप्रूः (चटाई बनाने वाला) कटं प्रवते इति, कट पूर्वक प्रु धातु से क्विप तथा दीर्घ होकर पूर्ववत् रूप बनता है ।

जूरुक्तः—'जूः की सिद्धि ऊपर बताई जा चुकी है ।

श्रीः—(लक्ष्मी) श्रयति हरिम्, श्रि (सेवा करना) धातु से क्विप् तथा दीर्घ होकर प्र० एक व० में उक्त रूप बनता है ।

(श्री शब्द इस प्रकार यद्यपि स्त्रीलिङ्ग है, तथापि ङी प्रत्ययान्त न होने से यहाँ सु प्रत्यय का लोप न होकर सकार का रुत्व विसर्ग होकर 'श्रीः' रूप बनेगा ।)

दाम्नीति—दाप्, नी, शस्, यु, युज्, स्तु, तुद्, सि, सिच्, मिह्, पत्, दश्, नह्, धातुओं से ष्ट्रन् प्रत्यय हो, करण अर्थ में ।

(ष्ट्रन् प्रत्यय के षकार नकार इत्संज्ञक हैं, केवल त्र शेष रहता है ।)

दात्रम् (दाँती, दँरांती) दाति अनेन, जिससे काटा जाय, दाप् (काटना) धातु से करण अर्थ में ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय, दात्र प्रातिपदिक से प्र० नपुं० एक व० में 'दात्रम्' रूप बनता है ।

नेत्रम्—नयति अनेन जिससे विषय के प्रति ले जाय जाय, आंख आदि, नी (ले जाना) धातु से ष्ट्रन्, गुण, नेत्र प्रातिपदिक से 'नेत्रम्' रूप बनता है ।

ति इति—ति, तु, त्र, त, थ, सि, सु, सर, क, स, इन दश प्रत्ययों के आगे रहते इट् न हो ।

(इन दश प्रत्ययों में कुछ प्रत्यय उणादि हैं, त्र से तात्पर्य प्रकृत प्रत्यय ष्ट्रन् से है, इन सभी प्रत्ययों के बलादि आर्ध धातुक होने से प्राप्त इट् का यह सूत्र निषेध करता है ।)

शस्त्रम्—(शास्त्र) शस् (मारना)+त्र, इडभाव 'शस्त्रम्' रूप बना ।

योत्रम्—(जोत, बैलों के गले में बांधने की पट्टी) यु+(मिलाना) गुण, होकर 'योत्रम्' रूप बनता है ।

अर्तिलूधूसू खन सहचर इत्रः ।३।२।१८४।।

अरित्रम्, लवित्रम्, धवित्रम्, सवित्रम्, खनित्रम्, सहित्रम्, चरित्रम्, ।

पुवः संज्ञायाम् ।३।२।१८५।। पवित्रम् ।

इति पूर्वकृदन्तम्

योक्त्रम्—(जोत, नहने की रस्सी आदि) युज् (जोड़ना) धातु से ष्ट्रन्, गुण जकार को 'ग' गकार को क् होकर उक्त रूप बनता है।

स्तोत्रम्—(स्तुति, स्तव, स्तुति पाठ के श्लोकों का संग्रह) स्तु (स्तुति करना)+त्र गुण होकर 'स्तोत्रम्' रूप बनता है।

तोत्त्रम्—(चाबुक, आरा आदि) तुदति अनेन, तुद् व्यथित करना+त्र, गुण, चर्त्वविधि से दकार को तकार, उक्त रूप सिद्ध होता है।

सेत्रम् (बाँधने की रस्सी) सि (बाँधना) धातु से ष्ट्रन् गुण 'सेत्रम्' यह रूप सिद्ध होता है।

सेक्त्रम्—(सींचने का पात्र) सिच् (सींचना) धातु से ष्ट्रन् (त्र) गुण, चकार को ककार होकर उक्त रूप बनता है।

मेढ्रम्—(मूत्रेन्द्रिय) मेह्+त्र इस दशा में हकार को ढकार, त् को ध, ष्टुत्व से ध को ढ, पूर्वढकार लोप होकर मेढ्र प्रातिपदिक से 'मेढ्रम्' रूप बनता है।

पत्त्रम्—(सवारी, पंख, पत्ता आदि) पत (गिरना) धातु से 'पत्त्रम्' रूप बनता है।

दंष्ट्रा—(दाढ़) दंश (डँसना) धातु से, दंश्+त्र, श् को ष, ष्टुत्व होकर दंष्ट्र, स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् होकर उक्त रूप सिद्ध होता है, यहाँ षित् कार्य अनित्य होने से, ङीष् न होकर टाप् हुआ है।

नद्ध्री—(नहनी, हल आदि में बाँधने की रस्सी) नह् (बाँधना) धातु से ष्ट्रन्, 'नहो धः' से ह का ध, (झषस्तथेत्यादि सूत्र से ष्ट्रन् के तकार को ध, पूर्व धकार को 'झरोझरीत्यादि' सूत्र से दकार, स्त्रीत्व विवक्षा में ङीष् प्रत्यय होकर 'नद्ध्री' रूप बनता है।

अर्तीति—ऋ, लू, धू, सू, खन, सह, चर इन धातुओं से इत्र प्रत्यय हो।

अरित्रम् (नाव चलाने का डंडा) ऋ (गत्यर्थक) इत्र प्रत्यय, गुण होकर अर्+इत्र, नपुं० प्र० एक वचन में उक्त रूप बनता है।

लवित्रम् (चाकू, छुरी आदि) लू (छेदना-काटना) इत्र, गुण अवादेश होकर 'लवित्रम्' रूप सिद्ध होता है।

धवित्रम्—(पंखा) धूञ् (कँपाना) इत्र, गुण अवादेश होकर 'धवित्रम्' रूप बनता है।

कहीं 'धुवित्रं व्यजनं तद् यद्रचितं मृग चर्मणा' इस कोष के अनुसार धुवित्रम् भी मिलता है। धू+इत्र इस दशा में धू धातु के कुटादिगण में होने से इत्र प्रत्यय को ङित् के समान मान लेने के कारण 'क्ङिति च' से निषेध होने से गुण न होगा तब ऊकार को उवङ् होकर धुवित्रम्, रूप बनेगा।

सवित्रम्—(उत्पत्ति साधन) सू+इत्र गुणावादेश, होकर सवित्रम्, इसी प्रकार खन् (खोदना) खन्+इत्र=**खनित्रम्** सह (सहना) सह+इत्र=**सहित्रम्**, चर्+इत्र=**चरित्रम्**, रूप बनेंगे। इत्र प्रत्ययान्त शब्द नपुं लिङ्ग में आते हैं।

पुव इति—संज्ञा अर्थ में पूञ् धातु से इत्र प्रत्यय हो।

पवित्रम्—(पवित्र करने का साधन) पूञ् (पवित्र करना) धातु से इत्र प्रत्यय पू+इत्र, गुणावादेश होकर **पवित्रम्** रूप बनता है। यह शब्द 'दर्भ की बनी उस पवित्री की संज्ञा है, जो यज्ञादि के समय अनामिका में धारण की जाती है।

इति पूर्वकृदन्तम्

अथोणादयः

कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् ।।१।।

करोतीति कारुः, वातीति वायुः, पायुर्गुदम्, जायुरौषधम्, मायुः पित्तम्, स्वादुः, साध्नोति परकार्यमिति साधुः, आशु शीघ्रम् ।

जिन प्रत्ययों के आदि में उण् प्रत्यय हैं वे उणादि प्रत्यय कहलाते है। यद्यपि ये प्रत्यय भी कृदन्त प्रत्ययों के अन्तर्गत माने जाते हैं। तथापि अष्टाध्यायी से पृथक् लगभग ७५९ सूत्रों द्वारा निर्दिष्ट होते हैं।

कृवेति—कृ (करना) वा (गति) पा (पीना) जि (जीतना) मि (फेंकना) स्वाद् (चखना) साध् (सिद्ध करना, बनाना) अश् (व्याप्त होना) इन धातुओं से उण् प्रत्यय हो।

कारुः (शिल्पी) कृ+उण्, वृद्धि, कारुः, करोतीति कारुः।

वायुः (वाति इति जो बहती है) वा+उण् "आतो युक् चिण् कृतोः" युक् का आगम होकर 'वायुः' इसी प्रकार 'पा' से पायुः।

जायुः (जयति रोगान् जो रोगों को जीतती है) जि+उण्, वृद्धि, आय आदेश होकर 'जायुः' औषधि।

मायुः (मिनोति प्रक्षिपति ऊष्माणं शरीरे) जो शरीर में गर्मी पैदा करे, पित्त। मि (प्रक्षेपण) धातु से उण्, वृद्धि, आयादेश मायुः।

स्वादु—(स्वादिष्ट) स्वदते जो स्वाद में अच्छा लगता है। स्वद्+उण् उपधा वृद्धि, स्वादुः।

साधुः (सज्जन) साध्नोति पर कार्यम् इति जो दूसरे के काम को सिद्ध करता है। साध्+उण्=साधुः।

आशु (अश्नुते-व्याप्नोति-शीघ्र होने वाला) अश+उण्, वृद्धि, आशु, यह

उणादयो बहुलम् ।३।३।१।।

एते वर्तमाने संज्ञायाम् च बहुलं स्युः । केचिदविहिता अप्यूह्याः ।

संज्ञासु धातु रूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।

कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्र मुणादिषु ।।

शब्द शीघ्रता अर्थ में अव्यय है । पर विशेषण रूप में प्रयुक्त होने पर तीनों लिङ्गों में आता है ।

उणादय इति—उण् आदि प्रत्यय वर्तमान काल में और संज्ञा अर्थ में बहुल रूप में होते हैं ।

केचिदिति—यहाँ बहुल ग्रहण सामर्थ्य से कुछ उन प्रत्ययों का भी ग्रहण कर लेना चाहिये जिनका किन्हीं सूत्रों द्वारा विधान नहीं किया गया है ।

संज्ञास्विति—संज्ञा शब्दों में जिस धातु की सम्भावना हो उसकी प्रथम कल्पना करनी चाहिये, तदनन्तर शेष भाग को प्रत्यय समझना चाहिये, प्रत्ययों में भी कार्य अर्थात् गुण वृद्धि सम्प्रसारण आदि देखकर अनुबन्धों की कल्पना कर लेनी चाहिये । उणादि प्रत्यय जानने का यही नियम है ।

उदाहरणार्थ 'शङ्कुला' (सरौता) शब्द में, शब्द के आदि भाग में शङ्क धातु को मानकर उत्तर भाग में उलच् प्रत्यय मानकर इस शब्द की व्युत्पत्ति कर लेनी चाहिये । इसी प्रकार अन्य शब्दों में प्रकृति प्रत्यय तथा अनुबन्धों की कल्पना कर लेनी चाहिए ।

उणादि प्रत्यय यद्यपि अष्टाध्यायी के सूत्रों द्वारा निर्दिष्ट नहीं है, तथापि पाणिनि आचार्य को ये प्रत्यय मान्य है, इसका प्रमाण उनका 'उणादयो बहुलम्' यह सूत्र ही है, जो कि उणादि प्रत्ययों के विषय नियम निर्धारित करता है ।

इति उणादयः

अथोत्तर कृदन्तम्

तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् ।३।४।१०।।

क्रियार्थायां क्रियाया मुपपदे भविष्यदर्थे धातोरेतौ स्तः । मान्तत्वादव्ययत्वम् ।। कृष्णं द्रष्टुं याति । कृष्णं दर्शको याति ।

कृत् प्रत्ययों के लिये पूर्व कृदन्त और उत्तर कृदन्त ये दो प्रकरण हैं । प्रथम में होने वाले प्रत्यय प्राय: किसी न किसी कारक के अर्थ में होते हैं, द्वितीय में वे प्रत्यय हैं जो प्राय: 'भाव' में होते हैं तथा इन प्रत्ययों से अव्यय पद भी बनते हैं ।

तुमुन्निति—एक क्रिया की सिद्धि के लिये दूसरी क्रिया के उपपद रहते, भविष्यत् अर्थ में धातु से तुमुन् और ण्वुल् प्रत्यय हों ।

(यहाँ उपपद का अर्थ है क्रिया का आगे या पीछे समीप में उपस्थित रहना । जिस क्रिया की सिद्धि के लिये अन्य क्रिया की जाती है उससे ही ये प्रत्यय होते हैं ।)

मान्तत्वादिति—मकारन्त होने के कारण तुमुन् (जिसमें केवल 'तुम्' शेष रहता है) प्रत्ययान्त शब्द अव्यय पद बनते हैं । 'कृन्मेजन्त:' सूत्र के अनुसार मान्त एवं एजन्त कृदन्तों की अव्यय संज्ञा होती है । अव्ययकृतो भावे सूत्र नियम के अनुसार तुमुन् प्रत्यय भाव अर्थ में होता है ।

(ण्वुल् प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में होता है ।)

कृष्णं द्रष्टुं याति—(कृष्ण को देखने के लिये जाता है) यहाँ जाना क्रिया दर्शन क्रिया के लिये है । अत: जाना क्रिया (याति) दर्शन क्रिया (दृश्) के लिये है । इसलिये 'याति' इस क्रिया के समीप रहते दृश् धातु से तुमुन् प्रत्यय, "सृजिदृशो र्झल्यमकिति" सूत्र से दृश् धातु स्थित ऋकार के आगे अम् का आगम, ऋकार को 'अ' आगे रहने पर यण्-रेफ होने पर द्रश्+तुम् इस स्थिति में "व्रश्चभ्रस्जेत्यादि" सूत्र से शकार को षकार, ष्टुत्व विधि से 'तुम्' के तकार को टकार होने पर 'द्रष्टुम्' यह अव्यय पद बनता है ।

कालसमयवेलासु तुमुन् ।३।३।१६७।।

कालार्थेषूपपदेषु तुमुन् । कालःसमयो वेला वा भोक्तुम् ।

भावे ।३।३।१८।।

सिद्धावस्थापन्ने धात्वर्थे वाच्ये धातोर्घञ् । पाकः ।

(यहाँ तुमुन् प्रत्यय के भविष्यत् काल में विधान करने का तात्पर्य यह है कि इसके प्रयोग में उपपद क्रिया की अपेक्षा तुमुन्नन्त क्रिया भविष्यत् काल में ही होती है, प्रकृत उदाहरण में याति (वर्तमान) की अपेक्षा दर्शन क्रिया भविष्य में ही होगी। न केवल वर्तमान, भूतकाल में भी प्रयुक्त इन रूपों में भविष्यत् का ही तात्पर्य रहता है—कृष्णं द्रष्टुमगच्छत् । यहाँ भी गमन क्रिया की अपेक्षा दर्शन क्रिया भविष्य में होगी ।)

('न लोकेत्यादि' सूत्र से षष्ठी का निषेध होने पर कृष्णम् यहाँ पर कर्म में द्वितीया विभक्ति है ।)

कृष्णं दर्शको याति—(कृष्ण को देखने वाला जाता है) यहाँ दृश् से ण्वुल् करने पर वु को अक आदेश, ऋकार को अर् गुण, 'दर्शक' इस कृदन्त प्रातिपदिक से 'दर्शकः' रूप बनता है ।

ण्वुल् प्रत्ययान्त शब्दों का प्रयोग लिङ्गत्रय में होता है। "अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः" सूत्र से षष्ठी का निषेध होने पर यहाँ भी कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है ।

कालेति—काल, समय, वेला इन शब्दों के उपपद रहते धातु से तुमुन् प्रत्यय हो ।

(सूत्र में काल समय आदि पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग से तात्पर्य है कि कालार्थक शब्दों के उपपद रहते तुमुन् प्रत्यय हो ।

कालः समयोवेला वा भोक्तुम्—यहाँ इन कालार्थक शब्दों के योग में भी भुज् धातु से तुमुन् प्रत्यय, लघूपध गुण, 'चोः कुः' कवर्ग-गकार तथा उसे चर्त्व ककार होकर 'भोक्तुम्' रूप बनता है ।

भाव इति—उस धातु का अर्थ यदि वाच्य हो जो सिद्ध (पूर्ण) अवस्था को प्राप्त हो चुकी है, तो उस धातु से घञ् प्रत्यय हो ।

अर्थात् 'भाव' साध्यावस्थापन्न तो तिङन्त में रहता है पर कृदन्त में यह भाव सिद्धावस्थापन्न हो जाता है, अतएव भाव में होने वाले घञ् आदि प्रत्ययों से सिद्धावस्थापन्न भाव की प्रतीति होती है जब कि तिङन्त क्रियाओं से वह साध्यावस्था में ही रहता है। 'पचति' इस तिङन्त क्रिया से साध्यावस्था ही प्रतीत होती है, जबकि धात्वर्थ की पूर्ण सिद्धता कृदन्त शब्दों से प्रकट होती है, इसीलिये कृदन्त

अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् ।३।३।१९।।

कर्तृभिन्ने कारके घञ् स्यात् ।

घञि च भाव करणयोः ।६।४।१७।।

रञ्जेर्नलोपः स्यात् । रागः । अनयोः किम्-रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः ।

निवासचिति शरीरोप समाधानेष्वादेश्च कः ।३।३।४१।।

एषु चिनोतेर्घञ् आदेश्च ककारः । उपसमाधानं राशीकरणम् । निकायः । कायः । गोमय-निकायः ।

शब्दों से धात्वर्थ भाव, 'द्रव्य' के रूप में प्रकट होता है, "कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते" फलतः घञन्त आदि कृदन्त शब्दों से लिङ्ग व वचन का भी योग हो जाता है ।

पाकः—(पकने का कार्य) पच् धातु से भाव में घञ् (अ) प्रत्यय, ञित् होने से उपधा वृद्धि, घित् होने से "चजोः कुः घिण्यतोः" से चकार को ककार होकर पाक कृदन्त से 'पाकः' रूप बनता है ।

(घञ् प्रत्ययान्त शब्द पुल्लिङ्ग भाव वाचक संज्ञाएँ होती है ।)

अकर्तरीति—कर्त्ता से भिन्न कारक अर्थ में संज्ञा में धातु से घञ प्रत्यय हो ।

('भावे' सूत्र द्वारा निर्दिष्ट घञ् प्रत्यय भाव में होता है पर इस सूत्र द्वारा विहित घञ् कारक में होता है ।)

घञीति—भाव और करण कारक में विहित घञ् परे रहते रञ्ज् धातु के नकार का लोप हो ।

रागः—भाव में घञ् होने पर इसका अर्थ होगा रंगना और करण में होने पर अर्थ होगा 'रङ्ग' जिससे रँगा जाय । अतः यहाँ 'भावे' सूत्र से 'रञ्जनम् रागः' इस अर्थ में, और रज्यते अनेन इति रागः इस अर्थ में (रँगने का साधन) अकर्तरीति सूत्र से घञ् प्रत्यय होने पर दोनों ही अर्थों में घञि चीति सूत्र से नकार लोप, ञित् परे रहते उपधा वृद्धि, जकार को 'ग' होकर रागः रूप बनेगा ।

अनयोः किमिति—भाव और करण अर्थ में हुये घञ् परे रहते ही नकार का लोप होता है । अतः—

रङ्ग—रज्यति अस्मिन्—जिसमें लोग अनुरञ्जित होते हैं, अर्थात् रङ्ग भूमि या रङ्गशाला) यहाँ अधिकरण में घञ् होने से न लोप न होगा, जकार का 'चजोः' सूत्र से गकार, नकार का अनुस्वार पर सवर्ण होकर रङ्गः यह रूप बनेगा ।

निवासेति—निवास, चिति-चयन, शरीर और उपसमाधान अर्थ में चिञ धातु से घञ् प्रत्यय हो, तथा आदि वर्ण को ककार हो ।

एरच् ।३।३।५६।।

इवर्णान्ताद् अच् । चयः । जयः ।

ॠदोरप् ।३।३।५७।।

ॠदन्तादुवर्णान्ताद् अप् । करः । गरः । यवः । लवः । स्तवः । पवः ।

उपसमाधानमितिः—उपसमाधान का अर्थ है—राशीकरण—ढेर लगाना ।

निकायः—(निवास-घर) नि उपसर्ग पूर्वक चिञ् (चुनना) धातु से निवास अर्थ में प्रकृत सूत्र से घञ्, आदि चकार को ककार, ञित् प्रत्यय परे होने से इकार को ऐ वृद्धि, आय् आदेश होकर निकाय इस कृदन्त प्रातिपदिक से प्र० एक व० में 'निकायः' रूप बनता है ।

कायः—(चीयते-एकत्री क्रियतेऽस्थ्यादिकमत्र अर्थात् जिसमें हड्डी आदि एकत्र किये जायँ अर्थात् शरीर) यहाँ पूर्ववत् चि+घञ्, ककारादेश, वृद्धि, आयादेश होकर 'कायः' रूप बनता है ।

गोमयनिकायः—'गोबर का ढेर' यहाँ गोमय पूर्वक चि धातु से पूर्ववत् कार्य होकर 'गोमयनिकायः' रूप बनता है ।

(चिति=चयन का उदाहरण है 'आकायम् अग्निं चिन्वीत ।)

एरजितिः—इवर्णान्त धातुओं से भाव में अच् प्रत्यय हो ।

चयः—चिञ् धातु से अच् प्रत्यय, गुण अयादेश होकर, चयः, एवम् **जयः**—जि धातु से अच् गुण अयादेश होकर रूप बनते हैं । भाव में प्रत्यय होने के कारण इनका क्रमशः अर्थ है—चुनना, जीतना ।

ॠदोरितिः—दीर्घ ॠकारान्त तथा उवर्णान्त धातुओं से भाव में अप् प्रत्यय हो ।

करः (बिखेरना या हाथ) कॄ (फेंकना) धातु से अप्, गुण,

करः एवं **गरः**—(निगलना) गॄ (निगल जाना) धातु से अप्, गुण,

गरः एवं यवः—(मिलना या जव) यु (मिलना) धातु से अप् गुणावादेश,

यवः एवं लवः—(काटना, लेश या भाग) लू (काटना) धातु से अप्, गुणावादेश,

लवः एवं पवः—(पवित्र करना) पू (पवित्र करना) धातु से अप्, गुणावादेश,

पवः एवं स्तवः—(स्तुति, स्तोत्र) स्तु (स्तुति करना) धातु से अप् गुणावादेश होकर स्तवः रूप बनता है ।

अच् एवं अप् प्रत्यय घञ् के अपवाद हैं, इनसे बने शब्द भी भाववाचक पुल्लिग संज्ञाएँ हैं ।

(वा) घञर्थे क विधानम् । प्रस्थः । विघ्नः ।

ड्वितः क्त्रिः ।३।३।८८।।

क्त्रेर्मम् नित्यम् ।३।३।२०।।

क्त्रि प्रत्ययान्तात् मम् निर्वृत्तेऽर्थे । पाकेन निर्वृत्तं पक्त्रिमम् । डुवप्-उप्त्रिमम् ।

वार्तिकः—घञ् के अर्थ में अर्थात् जिस अर्थ में घञ् प्रत्यय होता है उसी अर्थ में क प्रत्यय भी हो ।

(क प्रत्यय के कित् होने से गुण और वृद्धि का निषेध होगा ।)

प्रस्थः—(प्रतिष्ठन्ते धान्यान्यस्मिन्निति—अर्थात् धान्य जिसमें तोले जायँ—एक तौल का नाम, अथवा यस्मिन् जनाः प्रतिष्ठन्ते—जिसमें लोग प्रतिष्ठित हों—पर्वत शिखर) प्र पूर्वक स्था धातु से प्रकृत वार्तिक द्वारा अधिकरण में क प्रत्यय, प्र स्था+क (अ), कित् परे होने से 'आतो लोप इटि च' से आकार लोप होकर उक्त रूप बनता है ।

विघ्नः—"विशेषेण घ्नन्ति मनांसि यस्मिन्" जिसमें मन विशेष रूप से मर जाते हैं—अर्थात् विघ्न-बाधायें) वि+हन् धातु से क प्रत्यय, 'गमहनजनेत्यादि' सूत्र से हकारोत्तर स्थित अकार लोप 'वि ह् न्+अ' इस स्थिति में 'होहन्तेर्ञ्णिन्नेषु' से हकार को घकार, 'विघ्न' इस अकारान्त कृदन्त प्रातिपदिक से विघ्नः रूप बनता है ।

ड्वित इति—जिस धातु के डु की इत्संज्ञा हुई हो, ऐसी धातु से क्त्रि प्रत्यय हो, भाव में ।

क्त्रेरितिः—क्त्रि प्रत्ययान्त से नित्य मप् प्रत्यय हो, निष्पन्न या सिद्ध होना अर्थ में ।

(क्त्रि प्रत्यय में 'त्रि' शेष रहता है, कित् होने से गुणादि नहीं होते ।)

पक्त्रिमम्—पाकेन निर्वृत्तम् अर्थात् पाक से निष्पन्न या पका हुआ, पच् धातु से 'डु' की इत्संज्ञा होती है, (डुपचष् पाके धातु है) अतः पच् धातु से ड्वितः क्त्रि सूत्र से क्त्रि प्रत्यय, "चोकुः" कुत्व, पक्त्रि से पुनः क्त्रेर्मम् नित्यम् सूत्र से मप् प्रत्यय होने पर 'पक्त्रिम' इस कृदन्त प्रातिपदिक से प्र० एक व० में पक्त्रिमम् रूप बनता है ।

उप्त्रिमम्—वापेन निर्वृत्तम् अर्थात् बोने से निष्पन्न डुवप् (बोना-उगाना) धातु के (डु की इत्संज्ञा होने से) प्रकृत सूत्र से क्त्रि प्रत्यय, तथा क्त्रेरिति सूत्र से मप् होकर वप्त्रिम, प्रत्यय के कित् होने से 'वचिस्व पीत्यादि' सूत्र से वकार को सम्प्रसारण होकर उप्त्रिम प्रातिपदिक से उक्त रूप बनता है ।

ट्वितोऽथुच् ।३।३।८९।।

टुवेपृ कम्पने । वेपथुः ।

यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् ।४।३।९०।।

यज्ञः । याच्ञा । यत्नः । विश्नः । प्रश्नः । रक्षणः ।

स्वपो नन् ।३।३।९१।।

स्वप्नः ।

उपसर्गे घोः किः ।४।४।९२।।

प्रधिः । उपधिः ।

ट्वित इति—टु इत्संज्ञक धातुओं से अथुच् प्रत्यय हो ।

वेपथुः (कम्पन) टुवेपृ (काँपना) धातु से 'टु' इत् होने के कारण प्रकृत सूत्र से अथुच् (अथु) प्रत्यय होकर 'वेपथुः' बनता है ।

यजेतिः—यज्, याच्, यत्, विच्छ, प्रच्छ, रक्ष् धातुओं से नङ् प्रत्यय हो, भाव में ।

यज्ञः—(याग) यज् (हवन करना) धातु से नङ् प्रत्यय, नकार को श्चुत्वविधि से ञकार, ज् तथा ञ् मिलकर 'ज्ञ' बनकर उक्त रूप बनता है ।

याच्ञाः—(माँगना) याच् धातु से पूर्ववत् नङ्, श्चुत्व, न् को ञ् टाप् याच्ञा, एवं **यत्नः** (यत्न) यत् धातु से नङ् प्रत्यय होकर 'यत्नः' रूप बनता है । एवं **विश्नः** (प्रताप-कान्ति गति) विच्छ (जाना) धातु से नङ्, 'च्छ्वोः शूडनुनासिकेच' से च्छ को शकार होकर उक्त रूप बनता है ।

प्रश्नः (पूँछना) प्रच्छ+नङ् पूर्ववत सिद्ध होता है ।

रक्षणः (रक्षा) रक्ष्+नङ्, णत्व होकर 'रक्षणः' रूप बनता है ।

(क्त्रि प्रत्ययान्त शब्दों में विशेष्यानुसार लिङ्ग होता है, पर अथुच् और नङ् प्रत्ययान्त पुल्लिङ्ग होते हैं ।)

स्वप इति—स्वप् धातु से नन् प्रत्यय हो ।

स्वप्नः—स्वप् धातु से नन् प्रत्यय होकर 'स्वप्नः' बनता है ।

उपसर्गे इति—उपसर्ग पूर्वक घु संज्ञक धातुओं से कि प्रत्यय हो ।

(कि प्रत्यय का 'इ' शेष रहता है । दा रूप एवं धा रूप धातुओं की घु संज्ञा होती है । प्रत्ययान्त शब्द भी पुल्लिङ्ग होते हैं ।)

प्रधिः—(पहिये का घेरा) प्र पूर्वक धा धातु से कि प्रत्यय, आकार लोप, होकर प्रधिः रूप बनता है ।

उपधिः—(कपट-छल) उप+धा+कि=उपधिः पूर्ववत् बनेगा ।

स्त्रियां क्तिन् ।४।४।९४।।

स्त्री लिङ्गे भावे क्तिन् स्यात् । घञोऽपवादः । कृतिः । स्तुतिः ।

(वा) ॠल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद् वाच्यः । तेन नत्वम्-कीर्णिः । लूनिः । धूनिः । पूनिः ।

(वा) संपदादिभ्यः क्विप् । संपत् । विपत् । आपत् । क्तिन्नपीष्यते—सम्पत्तिः । विपत्तिः । आपत्तिः ।

स्त्रियामितिः—स्त्रीलिङ्ग में भाव में क्तिन् प्रत्यय हो ।

(यह धञ् प्रत्यय का अपवाद है ।)

कृतिः—(कार्य) कृ धातु से क्तिन् (ति) प्रत्यय, कित् होने से गुणाभाव, कृति इस कृदन्त प्रातिपदिक से प्र० एक व० में में 'कृतिः' रूप बनता है ।

स्तुतिः—(स्तवन) स्तु से क्तिन्, गुणाभाव, 'स्तुतिः' रूप बनता है ।

वार्तिकः—ॠकारान्त और लूञ् आदि धातुओं से क्तिन् प्रत्यय को निष्ठा संज्ञक (क्त क्तवतु) प्रत्ययों के समान कहना चाहिये । अर्थात् निष्ठा प्रत्यय परे जो नकारादि आदेश होते हैं, वे क्तिन् परे भी हों ।

कीर्णिः—(विक्षेप-फैलाना) कॄ (विक्षेपण करना) धातु से क्तिन् (ति) प्रत्यय, 'ॠत् इद्धातोः' ॠकार को इत्, रपर्, किर्+ति इस स्थिति में 'हलि च' से इकार को दीर्घ, निष्ठावद्भाव होने से 'रदाभ्याम्' इत्यादि सूत्र से रेफ परे तकार को नकार, णत्व 'कीर्णिः' रूप बनता है ।

लूनिः—(काटना) लूञ् (छेदन) धातु से क्तिन्, निष्ठावद्भाव, 'ल्वादिभ्यः' से नकारादेश होकर 'लूनिः' रूप बनता है ।

धूनिः (काँपना) पूर्ववत् क्तिन्, नकारादेश, 'धूनिः' इसी प्रकार

पूनिः (पवित्रता) पूञ्+क्तिन्, नकारादेश, पूनिः रूप बनता है ।

वार्तिकः—सम् आदि उपसर्ग पूर्वक पद् धातु से क्विप् प्रत्यय हो ।

संपत्ः—सम् पूर्वक पद् (गति) धातु से क्विप्, सर्वापहार लोप, सम्पद् प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग, प्रथमैक वचन में 'सम्पद्' बनता है । इसकी प्रकार

विपत्— वि+पद्+क्विप्=विपत् ।

आपत्ः—आ+पद्+क्विप्=आपत् ।

क्तिन्नपीतिः—इन उपसर्गों के पूर्व रहते पद् धातु से क्तिन् प्रत्यय भी होता है ।

संपत्तिः—सम्+पद्+क्तिन्, दकार को चर्त्व से तकार, सम्पत्तिः, इसी प्रकार विपत्तिः और आपत्तिः भी रूप बनते हैं ।

ऊति यूति जूति सातिहेति कीर्तयश्च ।४।४।९७।।

एते निपात्यन्ते ।

ज्वरत्वर स्रिव्य विमवामुपधायाश्च ।६।४।२०।।

एषा मुपधावकारयोरुठ् अनुनासिके क्वौ झलादौ किङति च ।

ऊतीति—ऊति, यूति, जूति, साति, हेति और कीर्ति इन क्तिन् प्रत्ययान्त शब्दों का निपातन किया जाता है।

(तात्पर्य यह कि इनमें होने वाले यदि किसी कार्य का विधान किसी सूत्र द्वारा नहीं किया गया है, तो उसे निपातन से सिद्ध किया जाता है।)

ऊतिः—(रक्षा) अव् (रक्षा करना) धातु से क्तिन्, ज्वरत्वर सूत्र से (जिसका व्याख्यान आगे किया जायेगा) अकार तथा वकार को ऊठ आदेश, (यहाँ 'स्त्रियांक्तिन्' से यद्यपि क्तिन् प्रत्यय सिद्ध था तथापि सूत्र में ऊति के ग्रहण का फल है, क्तिन् प्रत्यय परे उदात्त स्वर होना अतः उदात्त स्वर का ही निपातन होता है) इस प्रकार 'ऊतिः' रूप बनता है।

यूतिः (मिश्रण) यु (मिश्रण करना) धातु से क्तिन, होकर यहाँ निपातन से दीर्घ होता है। इसी प्रकार

जूतिः—(वेग) जु धातु से क्तिन् प्रत्यय, निपातन से दीर्घ होकर 'जूतिः' बनता है।

सातिः—(अन्त, अवसान) षो (अन्तःकर्म) धातु से क्तिन् यहाँ 'द्यतिस्यति' इत्यादि सूत्र से इत्व प्राप्त था उसके अभाव का निपातन हुआ, तब 'आदेच' इत्यादि सूत्र से धातुगत ओकार को आकार होकर 'सातिः' रूप बना है। अथवा 'सन्' धातु से क्तिन् "जनसन" सूत्र से आत्व करने पर 'सातिः' रूप बनता है, इस दशा में स्वरार्थ निपातन माना जायेगा।

हेतिः—(अस्त्र शस्त्र) हन् धातु से क्तिन्, निपातन से नकार को इकार करने पर हकरोत्तरवर्ती अकार के साथ गुण होकर 'हेतिः' बनता है। अथवा 'हि' धातु से क्तिन्, गुण निषेध को वाधकर निपातन से गुण करके 'हेतिः' बनता है।

कीर्तिः—(यश) ण्यन्त चुरादि कॄत् (संशब्दन, ख्याति) धातु से, ण्यन्त होने के कारण 'ण्यासश्रन्थो युच्' सूत्र से प्राप्त युच् प्रत्यय का अभाव तथा निपातन से क्तिन्, 'उपधायाश्च' सूत्र से ऋकार को इर् 'हलि च' से दीर्घ होकर 'कीर्त्तिः' रूप बनता है।

ज्वर त्वरेति—ज्वर, त्वर, स्रिव, अव, और मव धातुओं के वकार तथा तद्वत अकार को ऊठ् होता है, अनुनासिक क्वि तथा झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहने पर।

अतः क्विप् । जूः । तूः । स्रूः । ऊः । मूः ।

इच्छा ।३।३।१०१।।

इषेर्निपातोऽयम् ।

अ प्रत्ययात् ।३।३।१०२।।

प्रत्ययान्तेभ्यो धातुभ्यः स्त्रियामकारः प्रत्ययः स्यात् । चिकीर्षा । पुत्र काम्या ।

अतः क्विप्:—इस सूत्र से क्विप् प्रत्यय परे रहते ज्वर् आदि को ऊठ् विधान किया गया है अतः इस सूत्र से क्विप् प्रत्यय भी होगा ।

जूः—(रोग) ज्वर् (रोगे) धातु से क्विप्, सर्वापहार लोप, वकार तथा अकार (उपधा) को ऊठ् आदेश, 'जूर्' कृदन्त प्रातिपदिक से प्र० एक व० वचन में 'जूः' इसी प्रकार 'त्वर' (शीघ्र करना) धातु से क्विप् ऊठ् होकर 'तूः' (शीघ्रकर्त्ता) रूप बनता है ।

स्रूः (शोषक या गन्ता) स्रिव् (गति या शोषण) धातु से क्विप्, लोप, ऊठ् (इकार तथा वकार दोनों को) 'स्रूः' रूप बनता है ।

ऊः (रक्षक) अव् (रक्षा करना) धातु से क्विप् लोप, अकार वकार को ऊठ्, 'ऊः' रूप बनता है ।

मूः (बाँधने वाला) मव् (बाँधना) धातु से क्विप्, लोप, वकाराकार को ऊठ् 'मूः' रूप सिद्ध होता है ।

(इन प्रयोगों में क्विप् प्रत्यय, भाव में न होकर कर्त्ता में होता है, तथा इसका स्त्रीलिङ्ग से भी कोई सम्बन्ध नहीं है।)

इच्छेतिः—इष् (इच्छा करना) धातु से इच्छा शब्द की सिद्धि निपातन से होती है ।

इच्छा—इष् धातु से निपातन द्वारा भाव में श प्रत्यय होता है (श् की इत् संज्ञा होकर 'अ' शेष रहता है) शित् होने से 'सार्वधातुके' यक् से यक् प्राप्त था उसका इससे अभाव निपातन होकर 'इषुगमियमां छः' सूत्र से षकार को छकार होता है, तुक का आगम, श्चुत्व, इच्छ से स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् होकर 'इच्छा' बनता है ।

अप्रत्ययादिति—भाव में तथा कर्तृभिन्न कारक में प्रत्ययान्त धातुओं से स्त्रीलिङ्ग में 'अ' प्रत्यय हो ।

(धातुओं या सुवन्त शब्द से प्रत्यय लगाकर बनी हुई धातुओं से यह प्रत्यय होता है, सुवन्त शब्दों से प्रत्यय लगाकर बनी धातुएँ, नाम धातु कहलाती हैं ।)

चिकीर्षा (करने की इच्छा) कृ धातु से सन् प्रत्यय होकर चिकीर्ष इस प्रत्ययान्त धातु से भाव में 'अ' प्रत्यय होकर चिकीर्ष+अ इस स्थिति में 'अतो लोपः'

गुरोश्च हलः ३।३।१३०।।

गुरुमतो हलन्तात् स्त्रियाम् 'अ' प्रत्ययः स्यात् । ईहा ।

ण्यासश्रन्थो युच् ।३।३।१०७।।

अकारस्यापवादः । कारणा । हारणा ।

नपुंसके भावे क्तः ।३।३।११४।।

ल्युट् च । हसितम् । हसनम् ।

से अकार लोप होकर चिकीर्ष से स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय होने से चिकीर्षा' रूप बनता है ।

पुत्रकाम्या—(पुत्र की इच्छा) 'आत्मनः पुत्रम् इच्छति' इस अर्थ में पुत्र शब्द से काम्यच् प्रत्यय होकर पुत्रकाम्य यह प्रत्ययान्त धातु बनता है, इससे पूर्ववत् 'अ' प्रत्यय होकर 'पुत्रकाम्या' बनता है ।

गुरोरिति—गुरुमान्, (गुरु वर्ण वाला) तथा हलन्त धातु से स्त्रीलिङ्ग में भाव में 'अ' प्रत्यय होता है ।

ईहा: (इच्छा) ईह् (इच्छा करना) धातु दीर्घवर्ण वाला तथा हलन्त भी है । अतः इससे 'अ' प्रत्यय, तथा टाप् होकर 'ईहा' रूप बनता है ।

ण्यासेति—ण्यन्त (जिसके अन्त में णि प्रत्यय हो) आस् तथा श्रन्थ धातुओं से युच् प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्ग, में भाव में ।

कारणाः—(कराना या 'कारणा तु यातना तीव्र वेदना' इस अमर कोष वचन से, यातना) कृ धातु से णिच् प्रत्यय तथा वृद्धि होकर कारि, यह ण्यन्त धातु बनता है, इससे प्रकृत सूत्र से युच् प्रत्यय करके तथा यु को 'युवोरनाकौ' से अन आदेश करने पर कारि+अन इस स्थिति में 'णेरनिटि' सूत्र से णि लोप करने पर कारन, णत्व, टाप् 'कारणा' बनता है ।

हारणाः—(हरण) ण्यन्त हारि+युच्, अन, णि लोप होकर पूर्ववत् 'हारणा' रूप बनता है । आस् धातु से आसना (स्थिति) श्रन्थ से 'श्रन्थना' रूप बनते हैं ।

नपुंसके इतिः—नंपुसकलिङ्ग भाव में क्त प्रत्यय होता है ।

(अब तक भाव में होने वाले प्रत्यय पुल्लिङ्ग व स्त्रीलिङ्ग में बताये गये थे, अब यहाँ से नपुंसक लिङ्ग के भाव प्रत्ययों का निरूपण किया जाता है ।)

ल्युट्चेति—नपुंसक भाव में ल्युट् प्रत्यय भी होता है ।

हसितम्—(हँसना) हस धातु से 'नपुंसके' सूत्र से भाव में क्त प्रत्यय, वलादि आर्ध धातुक 'त' परे रहते इट्, 'हसित' से हसितम् तथा **हसनम्**—(हँसना) 'ल्युट्च' से ल्युट् प्रत्यय करने पर अन आदेश होकर 'हसनम्' भी रूप बनता है ।

पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण ।३।३।११८।।

छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य ।६।४।९६।।

द्विप्रभृत्युप सर्गहीनस्य छादेर्ह्रस्वो घे परे । दन्ताश्छाद्यन्तेऽनेनेति दन्तच्छदः ॥ आकुर्वन्त्य स्मिन्निति-आकरः ।

अवे तृ स्त्रोर्घञ् ।३।३।१२०।

अवतारः कूपादेः । अवस्तारो जवनिका ।

हलश्च ।३।३।१२१।।

हलन्ताद् घञ् । घापवादः । रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः । अपमृज्यतेऽनेन व्याध्यादिरिति—अपामार्गः ।

पुंसीति—पुल्लिङ्ग में संज्ञा अर्थ में प्रायः घ प्रत्यय हो, करण तथा अधिकरण में ।

छादेरिति—दो या दो से अधिक (द्विप्रभृति) उपसर्गों से रहित छादि धातु को ह्रस्व होता है घ परे रहते ।

दन्तच्छदः—(ओष्ठ) दन्ताः छाद्यन्ते अनेन-दांत जिससे ढके जायें) दन्त उपपद छद (अपवारण, ढकना) धातु से णिच् प्रत्यय, वृद्धि होकर छादि धातु बनता है इससे "पुंसि संज्ञायाम्" सूत्र से करण में घ प्रत्यय, होकर "छादेः" सूत्र से धातु के आकार को ह्रस्व, (घ का 'अ' शेष रहता है) 'छाद् इ अ' इस स्थिति में 'णेरनिटि' से णि लोप, छद+अ इस प्रकार दन्तच्छद (छ परे तुक् श्चुत्व होकर) से 'दन्तच्छदः' रूप बनता है ।

आकरः—(खान-खनि) आकुर्वन्ति-सर्वतः आगत्य कार्यं कुर्वन्ति जनाः अस्मिन् अर्थात् जहाँ सब ओर से लोग आकर काम करें । आ+कृ यहाँ अधिकरण अर्थ में "पुंसि" सूत्र से घ प्रत्यय ऋकार-को अर् गुण होकर 'आकरः' रूप बनता है ।

(घ प्रत्ययान्त शब्द भी घञ् की भाँति पुल्लिङ्ग ही होते हैं ।)

अवे इति—अव उपसर्ग पूर्वक तृ और स्तृ धातुओं से घञ् प्रत्यय करण और अधिकरण हों संज्ञा में ।

अवतारः—(कूप आदि का सोपान मार्ग या घाट) अवतरन्ति जना यत्र-जहाँ लोग उतरते हैं । अव पूर्वक तृ (तैरना) धातु से घञ्, ञित् होने से ॠ को आर् वृद्धि होकर 'अवतारः' यह रूप बनता है ।

अवस्तारः—(जवनिका, पर्दा) अव उपसर्ग पूर्वक स्तृ (आच्छादन करना) धातु से घञ् प्रत्यय, ॠकार को आर् वृद्धि होकर 'अवस्तारः' रूप बनता है ।

हलश्चेति—हलन्त धातु से घञ् प्रत्यय हो । सूत्र से प्राप्त घ प्रत्यय का यह अपवाद है ।

ईषद्दुस्सुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् ।३।३।१२६।

करणाधिकरणयोरिति निवृत्तम् । एषु दुःख सुखार्थेषूप पदेषु खल् तयोरेवेति भावे कर्मणि च । कृच्छ्रे—दुष्करः कटो भवता । अकृच्छ्रे—ईषत्करः । सुकरः ।

रामः—(रमन्ते योगिनः अस्मिन् जिसमें योगी जन रमते हैं अर्थात् ब्रह्म) रम् (क्रीडार्थक) धातु से अधिकरण में घञ् प्रत्यय, ञित् होने से उपधा वृद्धि, 'रामः' यह रूप बनता है ।

अपामार्गः—अपमृज्यते व्याध्यादिः अनेन-जिससे व्याधि आदि दूर हो, शुद्ध हो, एक औषधि विशेष, जिसे 'चिरचिट' या 'सरफोंका' कहा जाता है । अप् पूर्वक मृज् (शुद्ध करना) धातु से घञ्, 'मृजेर्वृद्धिः' सूत्र से ऋकार को आर् वृद्धि, 'चजोः' सूत्र से जकार को गकार आदेश, अप मार्ग+अ इस स्थिति में 'उपसर्ग स्य घञ्य मनुष्ये बहुलम्' सूत्र से उपसर्ग अप के अन्त्य 'अ' को दीर्घ होकर अपामार्गः रूप बनता है ।

(यहाँ तक होने वाले भाव प्रत्ययों में क्तिन् आदि स्त्रीलिङ्ग तथा क्त व ल्युट् नपुंसकलिङ्ग में, शेष प्रत्यय घञ् घ अच् अप् आदि पुल्लिङ्ग में होते हैं, इनसे बने शब्द भाव वाचक संज्ञा की तरह प्रयुक्त होते हैं ।)

ईषदिति—कठिनता (दुःख) या सुख बोधक ईषत्, दुस् और सु उपसर्ग उपपद होने पर धातुओं से खल् प्रत्यय हो ।

(खल् प्रत्यय में 'अ' शेष रहता है ।)

करणेति—'करण और अधिकरण अर्थ में, इसकी निवृत्ति हो गई, अर्थात् अब खल् प्रत्यय करण और अधिकरण में न होंगे ।

तयोरिति—'तयोरेव कृत्यक्त खलर्थाः' सूत्र के अनुसार खलर्थ प्रत्यय भाव और कर्म में होंगे ।

दुष्करः—कटो भवताः—(आपका चटाई बनाना कठिन है) यहाँ 'कृच्छ्र' कठिनता अर्थ में कर्म में दुस् पूर्वक कृ धातु से खल् प्रत्यय, अर् गुण होकर, सकार को रुत्व, विसर्ग, षत्व होकर 'दुष्करः' बनता है ।

ईषत्करः—(सहज में ही करने योग्य सरल) यहाँ सुख बोधक ईषत् पूर्वक कृ धातु से पूर्ववत् खल् होकर ईषत्करः बनता है ।

सुकरः—(सुख पूर्वक करने योग्य) सु+कृ+खल्='सुकरः' ।

(यहाँ कृ धातु के सकर्मक होने से कर्म में प्रत्यय है, अतः अनुक्त कर्त्ता में तृतीया विभक्ति है जिसका निर्देश 'भवता' इस शब्द के द्वारा किया गया है, 'कटः' यहाँ प्रथमा विभक्ति है क्योंकि कर्म के उक्त होने से कर्म में प्रथमा विभक्ति होती

आतो युच् ।४।३।१२८।।

खलोऽपवादः । ईषत्पानः सोमो भवता । दुष्पानः । सुपानः ।

अलं खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा ।३।४।१८।।

प्रतिषेधार्थयोऽलं खल्वोरूपपदयोः क्त्वा स्यात् । प्राचां ग्रहणं पूजार्थम् । अमैवाव्ययेनेति नियमान्नोपपद समासः । दो दद्धोः—अलं दत्त्वा घुमास्थेतीत्त्वम्—पीत्वा खलु । अलं खल्वोः किम्—मा कार्षीत् । प्रतिषेधयोः किम्—अलंकारः ।

है । यहाँ 'कर्तृकर्मणोः कृतिः सूत्र से प्राप्त षष्ठी का 'न लोकेत्यादि सूत्र निषेध करता है ।)

आत इति—आकारान्त धातुओं से कठिनता व सरलता बोधक दुस् ईषत् सु उपपद रहते युच् प्रत्यय होता है ।

यह युच् प्रत्यय खल् प्रत्यय का बाधक है ।

ईषत्पानः—सोमो भवता (सोम पान करना आपके लिये सरल है) यहाँ पूर्ववत् ईषत् पूर्वक आकारान्त पा धातु से युच् प्रत्यय, यु को अन आदेश होकर 'ईषत्पानः' बनता है ।

(यहाँ भी प्रथमा व तृतीया का प्रयोग पूर्ववत् समझना चाहिये ।)

दुष्पानः, सुपानः—(कठिनता से तथा सरलता से पीने योग्य) यहाँ भी पूर्ववत् खल् होकर उक्त रूप बनते हैं ।

अलंखल्वोरिति—प्रतिषेधार्थक अलं और खलु शब्द उपपद रहते धातुओं से क्त्वा प्रत्यय हो ।

प्राचामिति—सूत्र में 'प्राचाम्' (पूर्वाचार्यों के मत में) का ग्रहण केवल प्राचीन आचार्यों के प्रति आदर प्रदर्शन के लिये है, न कि विकल्प सूचनार्थ, जैसा कि 'लोपः शाकल्यस्य' अवङ् स्फोटायनस्य' आदि सूत्रों में शाकल्य, स्फोटायन आदि आचार्यों के नाम का ग्रहण विधि विकल्प के लिये होता है, क्योंकि इस प्रकरण में तो 'वासरूप' नियम के अनुसार विकल्प स्वतः सिद्ध है । यहाँ तो ल्युट् आदि प्रत्यय विकल्प से हो ही सकते हैं, अतः 'प्राचाम्' ग्रहण का प्रयोजन केवल आदर प्रदर्शन मात्र है ।

अमैवेति—"अव्यय के साथ यदि उपपद समास हो तो केवल अम् के साथ ही हो अन्य के साथ नहीं" इस नियम के कारण यहाँ उपपद समास नहीं होता, यद्यपि क्त्वा अव्यय है पर वह अम् नहीं है ।

अलं दत्त्वा—(मत दो) यहाँ प्रतिषेधार्थक अलं शब्द के उपपद रहते दा धातु से क्त्वा प्रत्यय होने पर 'दो दद्धोः' सूत्र से दा को दद् (दथ्) आदेश होकर चर्त्व होने पर 'दत्त्वा' बनता है ।

पीत्वा खलु—(मत पिओ) यहाँ भी प्रतिषेधार्थक खलु के उपपद रहते पा

समान कर्तृकयोः पूर्वकाले ।३।४।२१।।

समानकर्तृकयोर्धात्वर्थयोः पूर्वकाले विद्यमानाद्धातोः क्त्वा स्यात् । भुक्त्वा व्रजति । द्वित्वमतन्त्रम् । भुक्त्वा पीत्वा व्रजति ।

धातु से क्त्वा प्रत्यय होकर, उसके कित् होने से (क्त्वा में केवल त्वा शेष रहता है क् इत् संज्ञक है) 'घुमास्था गापेत्यदि सूत्र से आकार को ईत्व होकर 'पीत्वा' बनता है।

(क्त्वा प्रत्ययान्त सभी शब्द "क्त्वात्तोसुनक सुन:" सूत्र से अव्यय होते हैं।

अलंखल्वोः किमिति—प्रकृत सूत्र द्वारा प्रतिषेधार्थक अलं और खलु के ही उपपद रहते क्त्वा प्रत्यय होता है अन्य प्रतिषेधार्थ 'मा' आदि के योग में नहीं अत:—

मा कार्षीत—यहाँ कृ धातु प्रतिषेधार्थक मा (माङ्) उपपद रहते हुये भी क्त्वा प्रत्यय नहीं हुआ है।

प्रतिषेधयोः किमिति—सूत्र द्वारा प्रतिषेधार्थक ही अलम् के योग में क्त्वा प्रत्यय होता है, अलं के अन्य-भूषण आदि अर्थों के साथ नहीं अतः—

अलङ्कारः—(आभूषण) यह अलं पूर्वक कृ धातु से क्त्वा प्रत्यय न होगा क्योंकि यहाँ अलं भूषणार्थक है, प्रतिषेध अर्थ में नहीं।

समान कर्तृकयोरिति—जहाँ दो या अधिक धात्वर्थों में एक (समान) ही कर्त्ता हो, वहाँ पूर्व काल में वर्तमान धातु से क्त्वा प्रत्यय हो, तात्पर्य यह कि जहाँ दो क्रियाएँ एक साथ हो रहीं हों, और उनका कर्त्ता एक ही हो अर्थात् एक ही कर्त्ता दो या तीन क्रियाओं का करने वाला हो तो जो क्रिया पहिले हो उससे क्त्वा प्रत्यय हो।

भुक्त्वा व्रजति—(खाकर जाता है) यहाँ भोजन व गमन क्रियाओं का एक ही कर्त्ता है, तथा भोजन क्रिया, गमन क्रिया से पूर्व काल में हो रही है अतः भुज् धातु से क्त्वा होकर, ज् को ग्, ग को क् होकर 'भुक्त्वा' रूप बनता है।

द्वित्वमिति—सूत्र में 'समान कर्तृकयो:' पद से सूचित दो वचन अविवक्षित है अर्थात् इसका प्रयोग किसी विशेष अभिप्राय से नहीं किया गया है यह आवश्यक नहीं कि जहाँ दो क्रियायें हो उनमें से पूर्वकालिक धातु से क्त्वा हो, अपितु तु जहाँ दो से अधिक भी क्रियायें हों, और उनका कर्त्ता एक ही तो उनमें से जो पूर्वकालिक क्रियायें होंगी उनसे क्त्वा प्रत्यय होगा। अतः—

भुक्त्वा पीत्वा व्रजति—यहाँ भुज् तथा पा दोनों से व्रजति के अपेक्षा पूर्व-कालिक होने के कारण क्त्वा प्रत्यय होगा, 'पीत्वा' में 'घुमास्थेत्यादि सूत्र से ईत्व हुआ है।

न क्त्वा सेट् ।१।२।१८।।

सेट् क्त्वा किन्न स्यात् । शयित्वा । सेट् किम्—कृत्वा ।

रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च ।१।२।२६।।

इवर्णोवर्णोपधाद्धलादेः रलन्तात्परौ क्त्वासनौ सेटौ वा कितौस्तः । द्यु्तित्वा-द्योतित्वा । लिखित्वा-लेखित्वा । व्युपधात् किम्-वर्तित्वा । रलः किम्-सेवित्वा । हलादेः किम्-एषित्वा । सेट किम्—भुक्त्वा ।

न क्त्वेति—सेट् (इट् सहित) क्त्वा कित् नहीं होता अर्थात् क्त्वा प्रत्यय सर्वत्र कित् होता है । पर यदि सेट् धातुओं में क्त्वा के पहिले इट् हो तो ऐसा क्त्वा कित् न होगा जिसका फल गुणादि का निषेध न होना है ।

शयित्वा—(सोकर) शीङ् (सोना, सेट्) धातु से क्त्वा प्रत्यय, इडागम होने से सेट क्त्वा परे प्रकृत सूत्र से कित् होने का निषेध, अतः 'सार्वधातु-कार्धधातुकयोः' से गुण, अयादेश होकर शयित्वा रूप बनता है ।

सेट किम्—सेट् क्त्वा ही अकित् होता है अतः—

कृत्वा—यहाँ इडभाव में अनिट् क्त्वा कित् ही रहा, फलतः यहाँ गुण न हुआ ।

रल इति—इवर्ण और उवर्ण जिनकी उपधा में हो ऐसी हलादि और रलन्त धातुओं से परे सेट् क्त्वा तथा सन् प्रत्यय विकल्प से कित् होते हैं ।

द्यु्तित्वा-द्योतित्वा—(चमक कर) द्युत (दीप्ति करना) धातु से क्त्वा प्रत्यय यहाँ द्यु्त धातु के उपधा में 'उ' है, आदि में द् हल वर्ण है, अन्त में रल् तकार है । इट् का आगम होने पर, प्रकृत सूत्र से सेट् क्त्वा कित् माना गया अतः गुण नहीं हुआ तब द्यु्तित्वा और पक्ष में जब कित् नहीं हुआ तब 'उ' को ओ गुण होकर द्योतित्वा रूप बनते हैं ।

लिखित्वा लेखित्वा—(लिखकर) यहाँ भी इवर्णोपध हलादि और रलन्त धातु लिख से पूर्ववत् कार्य होने से उक्त रूप बनते हैं ।

व्युपधात्किम्—सूत्र में इवर्णोवर्णोपध धातुओं से पर ही सेट् क्त्वा को कित् विधान किया गया है अतः—

वर्तित्वा—यहाँ वृत् धातु के ऋवर्णोपध न होने से कित् न होने के कारण गुण होकर 'वर्तित्वा' रूप बनता है ।

रलः किम्—सूत्र में रलन्त धातु से पर ही सेट् क्त्वा को कित् किया गया है अतः—

सेवित्वा में सिव् धातु के रलन्त न होने के कारण (रल् प्रत्याहार में वकार नहीं आता) क्त्वा के कित् न होने से गुण होकर सेवित्वा रूप बनता है ।

उदितो वा ।७।२।५६।।

उदितः परस्य क्त्व इड् वा । शमित्वा-शान्त्वा । देवित्वा द्यूत्वा । दधातेर्हिः-हित्वा ।

जहातेश्च क्त्वि ।७।४।४३।।

हित्वा । हाङ्स्तु-हात्वा ।

समासेऽनञ् पूर्वे क्त्वो ल्यप् ।७।३।३७।।

हलादेः किम्—सूत्र में हलादि धातु से परे ही क्त्वा को कित् किया गया है अतः—

एषित्वा—यहाँ इष् धातु से क्त्वा, इट् होने पर धातु के हलादि न होने से, कित् न होगा अतः गुण होकर 'एषित्वा' बनेगा ।

सेट किम्—सूत्र में सेट् क्त्वा को ही कित् किया जाता है । अतः—

भुक्त्वा—यहाँ अनिट् होने से क्त्वा परे रहते कित् विकल्प न होने से, नित्य कित् रहने के कारण गुण निषेध होकर एक ही रूप बनेगा ।

उदित इति—उदित (जिनमें उकार इत् हो) धातुओं से परे क्त्वा को इट् विकल्प से हो ।

शमित्वा-शान्त्वा—(शान्त होकर) शमु (शान्त होना) धातु से (यह उकारेत्संज्ञक है) क्त्वा होने पर प्रकृत सूत्र से जब पक्ष में इट् हुआ तो शमित्वा यह रूप बना, जब इट् न हुआ तो शम्+क्त्वा इस स्थिति में 'अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति" सूत्र से धातु के उपधा अकार को दीर्घ, मकार का अनुस्वार परसवर्ण होकर 'शान्त्वा' रूप बनता है ।

देवित्वा-द्यूत्वा—दिवु (खेलकर आदि) धातु से ('उ' की इत्संज्ञा होने यह भी उदित धातु है) क्त्वा, प्रकृत सूत्र से इट् होने पर गुण होकर देवित्वा, इडभाव पक्ष में 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च" से वकार को ऊठ् होने पर दि+ऊ+क्त्वा इस स्थिति में इ को यण्-यकार होकर 'द्यूत्वा' रूप बनते हैं ।

हित्वा—(धारण कर) धा धातु से क्त्वा, 'दधातेर्हिः' सूत्र 'धा को हि आदेश होकर हित्वा रूप बनता है ।

जहातेरिति—ओहाक् त्यागे धातु को भी हि आदेश हो क्त्वा परे रहते ।

हित्वा—(त्यागकर) हा धातु से क्त्वा, प्रकृत सूत्र से हि आदेश होकर हित्वा रूप बनता है ।

हात्वा—'ओहाङ् गतौ' धातु के हा को उक्त सूत्र से हि आदेश न होगा अतः इसका रूप हात्वा (जाकर) होगा ।

समास इति—जिस समास में अव्यय पूर्व पद हो, पर नञ् समास न हो, उसमें क्त्वा को ल्यप् आदेश हो ।

अव्यय पूर्व पदेऽनञ् समासे क्त्वो ल्यवादेशः स्यात् ।
तुक्—प्रकृत्य । अनञ् किम्-अकृत्वा ।

आभीक्ष्ण्ये णमुल् च ।३।४।२२।।

आभीक्ष्ण्ये द्योत्ये पूर्व विषये णमुल् स्यात्, क्त्वा च ।

नित्य वीप्सयोः ।८।३।४।।

आभीक्ष्ण्ये वीप्सायां च द्योत्ये पदस्य द्वित्वं स्यात् । आभीक्ष्ण्यं तिङन्तेष्वव्यय संज्ञकेषु कृदन्तेषु । स्मारं स्मारं नमति शिवम् । स्मृत्वा स्मृत्वा । पायं पायम् । भोजं भोजम् । श्रावं श्रावम् ।

प्रकृत्य—(करके) प्र पूर्वक कृ धातु से क्त्वा प्रत्यय करके प्र+कृत्वा इस स्थिति में कृत्वा का प्र उपसर्ग रूप से अव्यय के साथ 'कुगति प्रादयः' सूत्र से समास होता है अतः इस अव्यय पूर्वपद समास में प्रकृत सूत्र से क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश होकर, ल्यप् के पित् होने से उसके परे रहते 'ह्रस्वस्येत्यादि सूत्र से तुक् (त्) का आगम होकर उक्त रूप बनता है ।

अनञ् किम्—सूत्र में नञ् समास में ल्यवादेश नहीं होता, अतः—

अकृत्वा—(न करके) यहाँ नञ् समास होने से क्त्वा को ल्यप् आदेश नहीं होता है ।

आभीक्ष्ण्ये इति—(आभीक्ष्ण्य का अर्थ है—बार-बार करना या लगातार करना—पौनः पुन्य-पुनः पुनः होना) जहाँ निरन्तरता बतलानी हो, वहाँ क्त्वा प्रत्यय के विषय में धातु से णमुल् प्रत्यय हो और क्त्वा भी ।

नित्येति—नित्यता अर्थात् निरन्तरता और वीप्सा (प्रत्येक वस्तु में होना) प्रकट करना हो तो पद को द्वित्व (दो बार प्रयोग) होता है ।

आभीक्ष्ण्यमिति—तिङन्त प्रयोगों (क्रियापदों) में तथा अव्यय संज्ञक कृदन्त पदों में क्रिया का बार-बार होना या लगातार होना आभीक्ष्ण्य प्रकट करता है ।

स्मारं स्मारं नमति शिवम् (याद कर करके शिव जी को नमस्कार करता है) यहाँ स्मरण क्रिया का बार-बार होना रूप आभीक्ष्ण्य प्रकट करने के लिये स्मृ (स्मरण करना) धातु से आभीक्ष्ण्ये सूत्र से णमुल् (अम्) प्रत्यय होता है। णमुल् के णित् होने से ऋकार को आर्, वृद्धि, स्मारम्, नित्यवीप्सयोः सूत्र से द्वित्व होकर 'स्मारं स्मारम्' रूप बनते हैं । पक्ष में क्त्वा प्रत्यय होकर स्मृत्वा भी रूप बनते हैं ।

पायं पायम्—(बार-बार पीकर या रक्षा कर) पा धातु से आभीक्ष्ण्य अर्थ में णमुल् होकर, णमुल् के णित् होने से 'आतो युक्' इत्यादि सूत्र युक् का आगम होने पर द्वित्व होकर पायं पायम्, पक्ष में पीत्वा पीत्वा रूप बनते हैं।

भोजं भोजम्—(खा-खाकर) भुज+णमुल्, गुण होकर भोजं भोजम्, पक्ष में भुक्त्वा, भुक्त्वा रूप बनते हैं ।

अन्यथैवं कथमित्थंसु सिद्धाऽप्रयोगश्चेत् ।३।४।२७।।

एषु कृञो णमुल् स्यात्, सिद्धोऽप्रयोगोऽस्य एवम्भूतश्चेत् कृञ् । व्यर्थत्वात् प्रयोगानर्ह इत्यर्थः । अन्यथा कारम् । एवं कारम् । इत्थंकारं भुङ्क्ते । सिद्धेति किम्—शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते ।

इत्युत्तर कृदन्तम्

श्रावं श्रावम्—(सुन-सुनकर) श्रु+णमुल्, वृद्धि, आव् आदेश होकर श्रावं श्रावम् । पक्ष में श्रुत्वा श्रुत्वा रूप बनते हैं ।

(आभीक्ष्य और वीप्सा में विशेष अन्तर नहीं है, प्रथम में क्रिया की निरन्तरता रहती है और द्वितीय में अनेक पदार्थों का एक साथ क्रिया या गुण के साथ अन्वय दिखाने की इच्छा रहती है जैसे ग्रामो ग्रामो रमणीयः ।

अन्यथेतिः—अन्यथा एवं कथं और इत्थम् इन अव्ययों के पूर्व रहते कृञ् धातु से णमुल् प्रत्यय हो) यदि कृञ् का अप्रयोग सिद्ध हो अर्थात् कृञ के प्रयोग न करने पर भी यदि इष्टार्थ की प्रतीति हो सकती हो ।

व्यर्थत्वादिति——सिद्धा प्रयोग का अर्थ है—व्यर्थ होने के कारण जहाँ कृञ् धातु का प्रयोग आवश्यक न हो, तात्पर्य यह कि प्रयोग तो हो पर उसकी कोई उपयोगिता न हो ।

अन्यथा कारम् भुङ्क्ते—(अन्य प्रकार से खाता है) यहाँ अन्यथा पूर्वक कृञ् धातु से णमुल्, वृद्धि होकर, अन्यथा कारम् बनता है । यहाँ जो अर्थ अन्यथा भुङ्क्ते का है, वही अन्यथाकारं भुङ्क्ते का है, अतः कृञ् का अप्रयोग सिद्ध होने से उसका प्रयोग व्यर्थ है । इसी प्रकार एवंकारम्, कथंकारम्, इत्थंकारम् भी रूप बनते हैं ।

सिद्धेति किम्—सूत्र में कृञ् धातु में णमुल् प्रत्यय का विधान उसी अवस्था में किया गया है जबकि कृञ् का प्रयोग व्यर्थ हो अतः—

शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते (शिर को अन्यथा करके खाता है) यहाँ कृञ् का प्रयोग आवश्यक है अन्यथा वाक्य ही पूर्ण न होगा, अतएव णमुल् न होकर केवल क्त्वा प्रत्यय होगा । इसी प्रकार एवम् कथम् पूर्वक कृञ्, धातु का प्रयोग जहाँ आवश्यक होगा वहाँ णमुल् न होगा ।

इत्युत्तर कृदन्तम्

अथ तद्धित प्रकरणम्

साधारण प्रत्ययाः

समर्थानां प्रथमाद्वा ।४।१।८२।।

इदं पदत्रय मधिक्रियते । प्राग्दिश इति यावत् ।

अथ तद्धितेति—तद्धित यह अन्वर्थ संज्ञा है, तेभ्यः प्रयोगेभ्य; हिता; तद्धिताः, जो प्रत्यय उन-उन प्रयोगों के लिये हितकर हों, अर्थात् प्रयोगों के अनुसार ही तद्धित प्रत्ययों का प्रयोग होता है।

समर्थानामिति—"प्राग्दिशो विभक्तिः' इस सूत्र से पूर्व तक समर्थानाम्, प्रथमात वा, इन तीनों पदों का अधिकार है।

'समर्थानाम्' का अर्थ है—अर्थ कथन-योग्यता रखने वाले पदों से। प्रथमात्= प्रथमोच्चरित पद से, वा=विकल्प से अर्थात् प्रयोग के योग्य-अर्थ-कथन योग्यता रखने वाले, तद्धित प्रत्यय विधायक सूत्रों में प्रथमात्=पहिले उच्चरित पद से जिसका बोध हो उस पद से अर्थात् प्रयोग योग्य प्रथमोच्चरित पदों से तद्धित प्रत्यय हो विकल्प से। सभी तद्धित प्रत्यय विकल्प से होते हैं अतः एक पक्ष में वाक्य भी रहता है, उदाहरणार्थः—'उपगोः अपत्यम् औपगवः' यहाँ इस विग्रह वाक्य में प्रयोग योग्य 'उपगु' शब्द से 'तस्यापत्यम्' सूत्र से अण् प्रत्यय होगा क्योंकि इस सूत्र में 'तस्य' यह प्रथमोच्चरित शब्द है, इससे बोध्य पद उपगु है। विकल्प से होने के कारण एक पक्ष में ऐसा ही विग्रह वाक्य भी प्रयुक्त हो सकेगा।

समर्थानाम्, प्रथमात्, वा इन तीनों पदों का समस्त तद्धित प्रत्यय विधायक सूत्रों में अधिकार जायेगा।

अश्वेति—प्राग्दीव्यतीय अर्थों में अश्वपति आदि शब्दों से अण् प्रत्यय हो।

"तेन दीव्यति खनति"—इत्यादि सूत्र से पूर्व के अपत्यार्थ, रक्ताद्यर्थ, चतुरर्थ,

अश्वपत्यादिभ्यश्च ।४।१।८४।।

एभ्योऽण् स्यात् । प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु । अश्वपतेरपत्यादि आश्वपतम् । गाणपतम् ।

दित्य दित्या दित्य पत्युत्तर पदाण्ण्यः ।४।१।८५।।

दित्यादिभ्यः पत्युत्तरपदाच्च प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु ण्यः स्यात् । अणोऽपवादः । दितेरपत्यं दैत्यः । अदितेरादित्यस्य वा (अपत्यम्) ।

शैषिक, तथा विकारार्थ आदि अर्थों में अण् आदि प्रत्यय होते हैं, यही अर्थ प्राग्दीव्यतीय अर्थ कहलाते हैं ।"

आश्वपतम्—अश्वपतेः अपत्यादि (अश्वपति का अपत्य आदि, 'अश्वपति ङस्' प्रकृत सूत्र से अण् प्रत्यय, 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से तद्धितान्तत्वात् प्रातिपदिक संज्ञा "सुपो धातु प्रातिपदिकयोः' से विभक्ति लोप 'अश्वपति+अ' इस स्थिति में 'तद्धितेष्वचामादेः' से आदि अच् अकार को आकार वृद्धि, 'यस्येति च' इकार लोप होकर आश्वपत इस तद्धितान्त प्रातिपदिक से प्रथमैक वचन में अर्थानुसार नपुं० में 'आश्वपतम्' बनता है ।

इस प्रकरण में वृद्धि तथा 'यस्येति च' द्वारा लोप होना ये दोनों कार्य विशेष आवश्यक हैं। प्रायः सर्वत्र प्रयोग सिद्धि में इनका काम पड़ता है । "तद्धितेष्वचामादेः" यह सूत्र ञित् या णित् प्रत्ययों के आगे रहते स्वरों के आदि स्वर को वृद्धि करता है, दूसरा सूत्र है 'किति च' यह कित् प्रत्ययों के आगे रहते वृद्धि करता है, अतः कित् णित् ञित् तद्धित प्रत्ययों के आगे रहते साधारणतया सर्वत्र वृद्धि होगी जब तक कि कोई विशेष विधान या निषेध न मिले । इसी प्रकार यकारादि और अजादि प्रत्ययों के आगे रहने पर पूर्व की भ संज्ञा होती है और 'यस्येति च' इस सूत्र से ईकार और तद्धित प्रत्यय पर रहते भ संज्ञक अंग के इवर्ण और अवर्ण का लोप होता है अर्थात् यकारादि और स्वरादि तद्धित प्रत्ययों के आगे रहते पूर्व के इवर्ण और अवर्ण का लोप हो जाता है । यहाँ 'इ' और 'अ' से ह्रस्व व दीर्घ दोनों का ग्रहण है ।

गाणपतम्—गणपतेः अपत्यादि, यहाँ भी पूर्ववत् सभी कार्य होकर उक्त रूप सिद्ध होता है ।

दित्येति—दिति, अदिति, आदित्य तथा पतिशब्दान्त शब्दों से प्राग्दीव्यतीयार्थों में ण्य प्रत्यय हो ।

यह सामान्यतः प्राप्त अण् का बाधक है ।

दैत्यः—दितेः अपत्यम् (दिति की सन्तान) दिति शब्द से अपत्यार्थ में ण्य प्रत्यय, णित् होने से आदि अच् को ऐ वृद्धि, यस्येति चेति, इकार लोप होकर दैत्यः रूप बनता है ।

हलो यमां यमि लोपः ।८।४।६४।।

इति यलोपः । आदित्यः । प्राजापत्यः ।

(वा) देवाद्यञञौ । दैव्यम् । दैवम् ।

(वा) वहिषष्टि लोपो यञ् च । वाह्यः ।

(वा) ईकक् च ।

किति च ।७।२।११८।।

आदित्यः—अदितेः, आदित्यस्य वा अपत्यम् (अदिति या आदित्य की सन्तान) यहाँ अदिति शब्द से प्रकृत सूत्र से ण्य प्रत्यय, णित् होन से आदि वृद्धि, इकार लोप होकर आदित्यः रूप बनता है, और आदित्य शब्द से ण्य प्रत्यय होने पर आदित्य+य इस स्थिति में 'यस्येति च' से यकारोत्तर वर्ती अकार का लोप होने पर आदित्य्+य् इस दशा में ।

हल इति—हल वर्ण से परे यम् (प्रत्याहार) का लोप हो यम् (प्रत्याहार) परे रहते ।

इस सूत्र से हल वर्ण तकार से परे, यम्—य्—का लोप हो गया, क्योंकि यम् वर्ण यकार आगे है । अतः इस दशा में भी 'आदित्यः' रूप बनता है ।

प्राजापत्यः—प्रजापते रपत्यम् पुमान् (प्रजापति की पुरुष सन्तान) यहाँ पति उत्तर पद होने से प्रजापति शब्द से प्रकृत सूत्र से ण्य प्रत्यय, वृद्धि, इकार लोप होकर उक्त रूप बनता है ।

बार्तिक-देवादिति—देव शब्द से अपत्यादि अर्थों में यञ् तथा अञ् प्रत्यय हों ।

दैव्यम्-दैवम्—देवस्य अपत्यम्—देव की सन्तान । यहाँ प्रकृत वार्तिक से, देव शब्द से यञ् प्रत्यय करने पर, वृद्धि, यस्येतिच' अकार लोप होकर 'दैव्यम्' बनेगा और अञ् प्रत्यय करने पर 'दैवम्' रूप बनेगा ।

वार्तिक-वहिष इति—वहिस् शब्द से अपत्यादि अर्थों में यञ् प्रत्यय हो तथा टि लोप हो ।

वाह्यः—वहिर्भवः (बाहर होने वाला) वहिस् शब्द से प्रकृत वार्तिक से यञ् प्रत्यय, 'इस्' इस 'टि' का लोप, आदि वृद्धि, 'वाह्यः' रूप बनता है ।

वार्तिक-ईकक् चेति—वहिस् शब्द से उक्तार्थों में ईकक् प्रत्यय भी होता है और 'टि' का लोप भी ।

कितीति—कित् तद्धित परे रहते स्वरों में आदि स्वर को वृद्धि हो । ('ईकक्' के अन्त्य 'क्' की इत्संज्ञा है ।)

किति तद्धिते चाचामादेरचो वृद्धिः स्यात् । वाहीकः ।

(वा) गोरजादि प्रसंगे यत् । गोरपत्यादि-गव्यम् ।

उत्सादिभ्योऽञ् ।४।१।८६।।

औत्सः ।

इत्यपत्यादि विकारान्तार्थाः साधारण प्रत्ययाः ।

वाहीकः—वहिर्भवः (बाहर होने वाला) वहिस् शब्द से प्रकृत वार्तिक से ईकक् प्रत्यय, 'इस्' इस 'टि' का लोप, 'किति च' सूत्र से ईकक् प्रत्यय के कित् होने से वृद्धि होकर 'वाहीकः' रूप बनता है ।

वार्तिक गोरजादीति—अजादि अर्थात् अण् आदि स्वरादि प्रत्यय प्राप्त होने पर गो शब्द से यत् प्रत्यय हो ।

गव्यम्—गोः अपत्यादि (गौ की सन्तान आदि) यहाँ गो शब्द से प्रकृत वार्तिक से, अण् प्रत्यय प्राप्त होने पर, यत् प्रत्यय होकर गो+य इस स्थिति में (वान्तो यि प्रत्यये) सूत्र से ओ को अव् आदेश होकर 'गव्यम्' रूप बनता है ।

उत्सादिभ्य इति—उत्स आदि शब्दों से उक्त अर्थों में अञ् प्रत्यय हो ।

औत्सः—उत्सस्य अपत्यं पुमान् (उत्स की पुरुष सन्तान) यहाँ उत्स शब्द से अञ् प्रत्यय, ञित् होने से आदि स्वर को वृद्धि होकर 'औत्सः' रूप बनता है ।

(यहाँ तक यञ् अण् अञ् आदि साधारण प्रत्ययों का अपत्यादि अर्थों में प्रयोग दिखलाया गया है, अब इसके आगे के प्रकरणों में विशेष विशेष अर्थों में इन प्रत्ययों का निर्देश किया जायेगा ।)

इति साधारण प्रत्यय प्रकरणम्

अथ अपत्याधिकारः

स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् ।४।१।८७।।

'धान्यानां भवन' इत्यतः प्रागर्थेषु स्त्रीपुंसाभ्यां क्रमान्नञ्स्नञौ स्तः । स्त्रैणः । पौंस्नः ।

तस्यापत्यम् ।४।१।९२।।

षष्ठयन्तात् कृतसन्धे समर्थादपत्येऽर्थे उक्ता वक्ष्यमाणाश्च प्रत्यया वा स्युः ।

स्त्रीपुंसाभ्यामिति—स्त्री और पुंस् शब्दों से क्रमशः नञ् और स्नञ् प्रत्यय हों 'धान्यानां भवने' इत्यादि सूत्र से पूर्व के अर्थों में ।

स्त्रैणः—स्त्रिया अपत्यं पुमान् स्त्रीषु भवः, स्त्रीणां समूहः (स्त्री की पुरुष सन्तान, स्त्रियों में होने वाला, स्त्रियों का समूह आदि) इन विग्रहों में, अपत्यादि अर्थों में स्त्री शब्द से प्रकृत सूत्र से नञ् प्रत्यय 'ञित्वात्' प्रत्यय के ञित् संज्ञक होने से आदि अच् ईकार को ऐ वृद्धिः, नकार का णकार होकर 'स्त्रैणः' रूप बनता है ।

पौंस्नः—पुंसः अपत्यादि (पुरुष का अपत्य आदि) यहाँ भी पूर्ववत् पुंस् शब्द से स्नञ् प्रत्यय, वृद्धि होकर पौंस्नः' रूप बनता है । यहाँ पुंस्+स्न इस स्थिति में 'संयोगान्तस्य लोपः' सूत्र से पुंस् के स् का लोप हो जाता है ।

तस्येति—षष्ठयन्त कृत सन्धि समर्थ पद से अपत्य अर्थ में पूर्वोक्त तथा आगे कहे जाने वाले प्रत्यय विकल्प से हों ।

यहाँ इस सूत्र में 'समर्थानां प्रथमा द्वा' का अधिकार होने 'समर्थ पद से, विकल्प से, यह अर्थ किया गया है, प्रथमोच्चरित, 'तस्य' यह षष्ठयन्त पद है, इसी से प्रत्यय होंगे । यहाँ यह 'तस्य' पद सभी षष्ठयन्तो का परामर्शक है। 'कृत सन्धि' का तात्पर्य यह है कि सन्धि किये हुये पद से अन्यथा 'सूत्थितस्य अपत्यं सौत्थितिः' यह रूप न बनता क्योंकि सु उत्थित इस अकृत सन्धि पद से इञ् प्रत्यय करने पर आदि वृद्धि-

ओर्गुणः ।६।४।१४६।।

उवर्णान्तस्य भस्य गुणः स्यात्, तद्धिते । उपगोरपत्य मौपगवः । आश्वपतः । दैत्यः । औत्सः । स्त्रैणः । पौंस्नः ।

अपत्यं पौत्र प्रभृति गोत्रम् ।४।१।१६२।।

अपत्यत्वेन विवक्षितं पौत्रादिगोत्र संज्ञं स्यात् ।

एको गोत्रे ।४।१।९३।।

गोत्रे एक एवापत्य प्रत्ययः स्यात् । उपगोर्गोत्रापत्यम्-औपगवः ।

गर्गादिभ्यो यञ् ।४।१।१०५।।

गोत्रापत्ये । गर्गस्य गोत्रापत्यम्-गार्ग्यः । वात्स्यः ।

औ, आवादेश होकर 'सावुत्थितिः' रूप बनने लगता अतएव कृत सन्धि समर्थ पद से प्रत्ययों का विधान है ।

ओरिति:—उवर्णान्त भसंज्ञक को गुण हो, तद्धित प्रत्यय परे होने पर ।

औपगवः—(उपगोरपत्यम्-उपगु की सन्तान) यहाँ षष्ठयन्त समर्थ उपगु शब्द से 'तस्यापत्यम्' सूत्र से अपत्यार्थ में अण् प्रत्यय, प्रातिपदिक संज्ञा, विभक्ति लोप, आदिवृद्धि, भसंज्ञक अन्त्य उकार को 'ओ' गुण, अव् आदेश होकर 'औपगवः, रूप बना है ।

आश्वपतः—इत्यादि अन्य उदाहरणों की सिद्धि भिन्न-भिन्न प्रत्ययों द्वारा ऊपर दिखाई जा चुकी है । यहाँ केवल अपत्य अर्थ में इनका प्रयोग दिखाने के लिये इनका उल्लेख है ।

अपत्यमितिः—अपत्य रूप में विवक्षित अर्थात् जब पौत्र आदि दूसरी पीढी की सन्तान को भी अपत्य कहना हो तो उनकी गोत्र संज्ञा हो ।

एक इति—गोत्र अर्थ में एक ही अपत्य प्रत्यय हो । अर्थात् यद्यपि गोत्रापत्य संज्ञा दूसरी पीढी के पौत्र आदि की है तथापि इनसे एक ही अपत्य प्रत्यय होगा और उसी से सभी पीढियों के दूसरी से लेकर सौवीं तक पौत्रादि का बोध होगा, प्रत्येक पीढी के लिये भिन्न-भिन्न अण् इञ्, यञ्, अञ् आदि प्रत्यय न करने पड़ेंगे ।

औपगवः—उपगोर्गोत्रापत्यम् (उपगु का गोत्रापत्य पौत्र प्रपौत्र आदि) यहाँ पूर्ववत् अण् प्रत्यय होकर 'औपगवः यही रूप बनेगा जो कि अपत्यार्थ में बन चुका है और यही अन्य पीढियों के प्रपौत्रादि का भी बोधक होगा ।

गर्गादिभ्य इति—गर्गादि षष्ठयन्त सुवन्त से गोत्रापत्य अर्थ में यञ् प्रत्यय हो ।

गार्ग्यः—गर्गस्य गोत्रापत्यम्-गर्ग का गोत्रापत्य । यहाँ गर्ग शब्द से यञ् प्रत्यय, वृद्धि तथा अकार लोप होकर 'गार्ग्यः' रूप बनेगा ।

यञञोश्च ।२।४।६४।।

गोत्रे यद्यञन्त मञन्तं च तदवयवयोरेतयोर्लुक् स्यात्तत्कृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम् । गर्गाः । वत्साः ।

जीवति तु वंश्ये युवा ।४।१।१६३।।

वंश्ये पित्रादौ जीवति पौत्रादेर्यदपत्यं चतुर्थ्यादि तद्युव संज्ञ मेव स्यात् ।

गोत्राद्यू न्यस्त्रियाम् ।४।१।९४।।

यून्यपत्ये गौत्रप्रत्ययान्ता देव प्रत्ययः स्यात् । स्त्रियां तु न युव संज्ञा ।

यञिञोश्च ।४।१।१०१।।

गोत्रे यौ यञिञौ तदन्तात् फक् स्यात् ।

आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् ।७।१।२।।

प्रत्ययादेः फस्य आयन्, ढस्य एय्, खस्य ईन्, छस्य ईय्, घस्य इय् स्युः । गर्गस्य युवापत्यम्-गार्ग्यायणः । दाक्षायणः ।

वात्स्यः—वत्सस्य गोत्रापत्यम्-यहाँ भी पूर्ववत् यञ् प्रत्यय, वृद्धि, अकार लोप होकर 'वात्स्यः' बनेगा ।

यञञोश्चेतिः—गोत्र अर्थ में जो यञ् प्रत्ययान्त और अञ् प्रत्ययान्त पद उनके अवयव यञ् और अञ् का लोप हो, यदि उन्हीं के अर्थ अर्थात् गोत्रार्थ का बहुत्व बताना इष्ट हो, पर स्त्रीलिङ्ग में नहीं होता ।

गर्गाः—यहाँ गर्ग शब्द से गोत्रापत्यार्थ में यञ् प्रत्यय करके गार्ग्य रूप बना था, यदि इसी अर्थ में इसका प्रयोग बहुवचन में किया जाना इष्ट होगा तो प्रकृत सूत्र से यञन्त पद-गार्ग्य के अवयव-य् का लोप हो जायेगा, तन्निमित्तक वृद्धि भी न रहेगी अतः गर्ग का बहुवचन में गर्गाः इसी प्रकार वत्साः (बहुवचन में) बनेगा ।

इस प्रकार गर्ग शब्द से निष्पन्न गोत्रापत्य के रूप गार्ग्यः, गार्ग्यौ, गर्गाः आदि होंगे, द्वितीयादि में भी इसी प्रकार गर्गान् आदि बहुवचनान्त रूप होंगे ।

जीवतीतिः—वंश के पिता, पितामह के जीवित रहते जो पौत्र आदि का अपत्य चौथी पीढी आदि में हो तो उसकी युव संज्ञा हो, अर्थात् पिता पितामह के जीवित रहते पौत्र की सन्तान (प्रपौत्र) युवापत्य कही जायेगी ।

गोत्रादिति—युवापत्य अर्थ में गोत्र प्रत्ययान्त से ही प्रत्यय हो । परन्तु स्त्री-लिङ्ग में यह युवापत्य संज्ञा नहीं होती ।

यञिञोरितिः—गोत्र अर्थ में जो यञ् और अञ् प्रत्यय तदन्त शब्द से फक् प्रत्यय हो ।

आयन्निति—प्रत्यय के आदि फकार को आयन्, ढकार को एय्, खकार को ईन्, छकार को ईय्, और घकार को इय् आदेश हों ।

अत इञ् ।४।१।९५।।

अपत्येऽर्थे । दाक्षिः ।

बाह्वादिभ्यश्च ।४।१।९६।।

बाहविः । औडुलोमिः ।

गार्ग्यायणः—गर्गस्य युवापत्यम् (गर्ग का युवापत्य) इस अर्थ में गोत्रादिति सूत्र के नियम के अनुसार गोत्र प्रत्ययान्त से युवापत्यार्थ में प्रत्यय होता है। अतः पहिले गर्ग शब्द से गोत्रापत्य अर्थ मे यञ् प्रत्यय करके गार्ग्य शब्द से युवापत्य अर्थ में 'यञिञोश्च' सूत्र से फक् प्रत्यय होगा, गार्ग्य + फ इस स्थिति में "आयने" इत्यादि सूत्र से फकार को आयन् आदेश होने पर भ संज्ञक अकार का 'यस्येतिच' से लोप, तथा न, को ण् होकर 'गार्ग्यायणः' रूप बनता है।

(यहाँ गार्ग्यायण का अर्थ है-गर्ग की चतुर्थ पीढी की सन्तान जो युवापत्य कहलाती है, पर इसकी युवापत्य संज्ञा तभी होगी जब उस वंश के पिता पितामह जीवित होंगे अन्यथा नहीं, मृत पिता या पितामह की चतुर्थ पीढी की सन्तान युवापत्य न कहलायेगी और न इससे युवापत्यार्थ मे होने वाले फक् आदि प्रत्यय ही हो सकेंगे उस दशा में तो गोत्रापत्य अर्थ का प्रत्यय ही रहेगा जैसे गर्ग का गोत्रापत्य गार्ग्य ही रहेगा और इसी से चतुर्थ पीढी का भी बोध होगा।)

दाक्षायणः—दक्षस्य युवापत्यम्, यहाँ दक्ष से गोत्रापत्य में 'अत इञ्' सूत्र से इञ् प्रत्यय, वृद्धि होकर 'दाक्षि' यह गोत्रापत्य का रूप पहिले बनेगा तब 'यञिञोश्च' सूत्र से फक् तथा उसको आयन् आदेश, इकार लोप, णत्व होकर 'दाक्षायणः' रूप बनेगा।

अत इतिः—अदन्त षष्ठयन्त समर्थ से अपत्यार्थ में इञ् प्रत्यय हो।

दाक्षिः—दक्षस्य अपत्यम्। यहाँ दक्ष से इञ् प्रत्यय, वृद्धि, अकार लोप होकर 'दाक्षिः' रूप बनता है।

बाह्वादिभ्यश्चेति—बाहु आदि षष्ठयन्त समर्थ से अपत्यार्थ में इञ् प्रत्यय हो।

बाहविः—बाहोः (अपत्यम्) बाहु शब्द से इञ् प्रत्यय, पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः न्याय से अनावश्यक होते हुए भी आदिवृद्धि, 'ओर्गुणः' ओ गुण, अवादेश होकर 'बाहविः' बनता है।

औडुलोमिः—उडूनि (नक्षत्राणि) लोमानि यस्य स उडुलोमाः तस्य अपत्यम्- उडुलोमन् की सन्तान) उडुलोमन् से इञ्, आदिवृद्धि, नस्तद्धिते अन् (टि) का लोप 'औडुलोमिः।

(वा) लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः । उडुलोमाः । आकृति गणोऽयम् ।

अनृष्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ् ।४।१।१०४।।

ये त्वत्रानृषयस्तेभ्योऽपत्ये अन्यत्र तु गोत्रे । विदस्य गोत्रं वैदः । वैदौ । विदाः । पुत्रस्या पत्यम्-पौत्रः, पौत्रौ, पौत्राः । एवं दौहित्रादयः ।

शिवादिभ्योऽण् ।४।१।११२।।

अपत्ये । शैवः । गाङ्गः ।

वार्तिक-**लोम्न इति**—लोमन् से अपत्यार्थ में बहुवचन में 'अ' प्रत्यय हो ।

उडुलोमाः—उडुलोम्नः अपत्यानि । यहाँ उडुलोमन् से अपत्यार्थ में बहुत्व की विवक्षा में 'अ' प्रत्यय, 'नस्तद्धिते' से टि लोप, उडुलोम इस अकारान्त शब्द से बहुवचन में 'उडुलोमाः' ।

यह बाह्वादिगण आकृतिगण है । अतः इन प्रयोगों के अतिरिक्त जहाँ अन्यत्र इञ् प्रत्ययान्त शब्द मिलते हैं और उनका किसी अन्य सूत्र से विधान नहीं किया गया है उन्हें इसी गण में समझ लेना चाहिये ।

अनृषीति—विद आदिकों से गोत्रापत्य में अञ् प्रत्यय हो, पर इन विदादिकों में जो ऋषि नहीं हैं उनसे तो केवल अपत्यार्थ में हो, गोत्रा पत्य में नहीं ।

वैदः—विदस्य गोत्रापत्यम्—यहाँ ऋषि होने के कारण विद शब्द से गोत्रापत्य में अञ् प्रत्यय, वृद्धि, प्रथमैक वचन में 'वैदः' यह रूप बनता है, द्विवचन में वैदौ पर बहुवचन में 'विदाः' रूप बनेगा; क्योंकि गोत्रापत्यार्थक अञ् प्रत्यय का बहुवचन में 'यञिञोश्च' से लोप हो जायेगा ।

पौत्रः—पुत्रस्य अपत्यम् (पुत्र की सन्तान) यहाँ पुत्र, ऋषि नहीं है, अतएव यहाँ गोत्रापत्य में प्रत्यय न होकर केवल अनन्तरापत्य अर्थात् शुद्ध अपत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय होकर वृद्धि द्वारा एक वचन में पौत्रः, द्वि० पौत्रौ और बहुवचन में भी पौत्राः ही रूप बनेगा क्योंकि यहाँ गोत्रापत्यार्थक अञ् प्रत्यय न होने से उसका लोप न होगा ।

इसी प्रकार 'दुहितृ' से दौहित्र आदि रूप बनेंगे ।

शिवादिभ्य इति—शिव आदि (गण) से अपत्यार्थ में अण् प्रत्यय हो ।

शैवः—शिवस्यापत्यम्, यहाँ शिव से अण् प्रत्यय वृद्धि होकर शैवः रूप बनता है ।

गाङ्गः—गङ्गाया अपत्यम् (गंगा का पुत्र) गङ्गा शब्द से अण् वृद्धि, अन्त्याकार लोप 'गाङ्गः' ।

ऋष्यन्धक वृष्णि कुरुभ्यश्च ।४।१।११४।।

ऋषिभ्यः—वासिष्ठः, वैश्वामित्रः । अन्धकेभ्यः—श्वाफल्कः । वृष्णिभ्यः—वासुदेवः । कुरुभ्यः—नाकुलः । साहदेवः ।

मातु रुत्संख्यासंभद्र पूर्वायाः ।४।१।११५।।

संख्यादिपूर्वस्य मातृशब्दस्य उदादेशः स्यादण् प्रत्ययश्च । द्वैमातुरः । षाण्मातुरः । सांमातुरः । भाद्रमातुरः ।

ऋष्यन्धकेति—ऋषि, अन्धक, (यादव) वृष्णि और कुरु इन से अपत्यार्थ में अण् प्रत्यय हो ।

ऋषिभ्य इति—ऋषि के नामों से :—

वासिष्ठः—वसिष्ठस्यापत्यम्, यहाँ अण् प्रत्यय, आदि वृद्धि, अन्त्याकार लोप होकर वासिष्ठः । इसी प्रकार 'विश्वामित्रस्यापत्यम्—**वैश्वामित्रः** ।

अन्धकेभ्य इति—अन्धक वंश वालों से :—

श्वाफल्कः—श्वफल्कस्यापत्यम् यहाँ श्वफल्क से अण् वृद्धि, अकारलोप होकर 'श्वाफल्कः' बनता है ।

वृष्णिभ्य इति—वृष्णि वंश वालों से :—

वासुदेवः—वसुदेवस्यापत्यम् (वसुदेव का पुत्र) यहाँ वसुदेव से अण् वृद्धि, अकार लोप होकर वासुदेवः बनता है ।

कुरुभ्य इति—कुरुवंशधरों से :—

नाकुलः—नकुलस्यापत्यम् (नकुल की सन्तान) यहाँ नकुल से अण्, वृद्धि, अकार लोप होकर 'नाकुलः' इसी प्रकार सहदेवस्यापत्यम् '**साहदेवः**' बनता है ।

मातुरिति—संख्या, सम्, और भद्र पूर्वक मातृ शब्द को उत् आदेश हो और अण् प्रत्यय भी हो अपत्य अर्थ में ।

द्वैमातुरः—द्वयोर्मात्रोरपत्यं द्वैमातुरः (दो माताओं का पुत्र) यहाँ 'द्विमातृ' इस संख्या पूर्वक शब्द से प्रकृत सूत्र से अण् प्रत्यय, तथा मातृ के अकार को उत् आदेश एवं रपर्, आदिवृद्धि होकर 'द्वैमातुर' इस अकारान्त प्रातिपदिक से प्रथमैक वचन में 'द्वैमातुरः' बनता है ।

षाण्मातुरः—षण्णाम् मातृणामपत्यम्—छः माताओं की सन्तान । यहाँ 'षण्मातृ' से अण् आदि सभी कार्य पूर्ववत् होंगे ।

सांमातुरः—सांमातु रपत्यम् इस विग्रह में पूर्ववत् 'सांमातुरः' तथा भद्रमातुरपत्यम् इस विग्रह में पूर्ववत् '**भाद्र मातुरः**' बनेगा ।

स्त्रीभ्यो ढक् ।४।१।१२०।।

स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यो ढक् । वैनतेयः ।

कन्यायाः कनीन च ।४।१।११६।।

चादण् । कानीनो व्यासः कर्णश्च ।

राजश्व शुराद्यत् ।४।१।१३७।।

(वा) राज्ञो जातावेवेति वाच्यम् ।

येचाभावकर्मणोः ।६।४।१६८।।

यादौ तद्धिते परेऽन् प्रकृत्या स्यात् । न तु भाव कर्मणोः । राजन्यः । श्वशुर्यः जातावेवेति किम्—

स्त्रीभ्य इति—स्त्री प्रत्ययान्त शब्दों से ढक् प्रत्यय हो ।

वैनतेयः—विनताया अपत्यम् (विनता की सन्तान-गरुड़) यहाँ स्त्रीप्रत्ययान्त 'विनता' से ढक् प्रत्यय, और ढकार को एय् आदेश, प्रत्यय के कित् होने से 'किति च' से आदि वृद्धि, 'यस्येति च' से आकार लोप होकर 'वैनतेयः । रूप बनता है ।

कन्याया इति—कन्या शब्द से अपत्यार्थ में कन्या को कनीन आदेश हो और सूत्र में चकार ग्रहण से अण् प्रत्यय भी हो ।

कानीनः—कन्यायाः अपत्यम् पुमान्—कन्या की पुरुष सन्तान-कर्ण अथवा व्यासदेव । कन्या शब्द से अण् प्रत्यय, कन्या को कनीन आदेश, आदिवृद्धि, 'कानीनः' यह बनता है ।

राजेति—राजन् और श्वशुर शब्द से अपत्यार्थ में यत् प्रत्यय हो ।

वार्तिक-राज्ञः इति—राजन् शब्द से जाति (अर्थ) में ही यत् प्रत्यय कहना चाहिए ।

तात्पर्य यह कि राजन् शब्द से यत् होकर बने शब्द से जाति का बोध होना चाहिये, अपत्यादि का नहीं ।

येचेति—यकारादि तद्धित परे रहते अन् प्रकृति से रहता है अर्थात् उसमें कोई लोपादि विकार नहीं होते । किन्तु यह प्रकृतिभाव भाव और कर्म में नहीं होता ।

राजन्यः—राज्ञः अपत्यं जातिः—राजा की सन्तान-क्षत्रिय जाति । यहाँ इस वार्तिक की सामर्थ्य से जाति अर्थ में राजश्वेति सूत्र से यत् प्रत्यय, 'नस्तद्धिते' सूत्र से प्राप्त भसंज्ञक 'अन्' इस टि लोप के ये चेति सूत्र द्वारा प्रकृतिभाव करने पर 'राजन्यः' रूप बनता है ।

जातावेति—राजन् शब्द से 'जाति' में ही यत् प्रत्यय होता है इसलिये जातिभिन्न अर्थ में यत् प्रत्यय न होगा ।

अन् ।६।४।१६७।।

अन् प्रकृत्या स्यादणि परे । राजनः ।

क्षत्राद् घः ।४।१।१३८।।

क्षत्त्रियः । जाताविथ्येव—क्षात्त्रिरन्यत्र ।

रेवत्यादिभ्यष्ठक् ।४।१।१४६।।

ठस्येकः ।७।३।५०।।

अङ्गात् परस्य ठस्येकादेशः स्यात् । रैवतिकः ।

राजनः—राज्ञोऽपत्यम्—(राजा की सन्तान) यहाँ अपत्यार्थ में यत् प्रत्यय न होने से अण् प्रत्यय होगा और 'नस्तद्धिते' से प्राप्त टि लोप का 'अन' इस सूत्र से प्रकृतिभाव होने पर 'राजनः' रूप बनेगा ।

श्वशुर्यः—श्वशुरस्यापत्यम् पुमान्—श्वशुर की पुरुष सन्तान । यहाँ श्वशुर शब्द से राजश्वेत्यादि सूत्र से यत् प्रत्यय, अन्त्याकार लोप होकर श्वशुर्यः रूप बनता है ।

अन् इति—अण् प्रत्यय परे रहते 'अन्' का प्रकृति भाव होता है ।

क्षत्रादिति—क्षत्र शब्द से जाति अर्थ में घ प्रत्यय हो ।

क्षत्रियः—क्षत्रस्यापत्यं जातिः—क्षत्र की सन्तान जाति । क्षत्र शब्द से घ प्रत्यय, घकार को इय् आदेश अकार लोप होकर क्षत्रियः रूप बनता है ।

जाताविति—क्षत्र से घ प्रत्यय जाति अर्थ में होता है अतः जातिभिन्न अर्थ में 'क्षत्रस्यापत्यम्' इस अर्थ में 'अत इञ्' से इञ् प्रत्यय तथा वृद्धि होकर 'क्षात्रिः' रूप बनेगा ।

रेवत्यादिभ्य इति—रेवती आदि शब्दों से अपत्य अर्थ में ठक् प्रत्यय हो ।

ठस्येति—अङ्ग संज्ञक से परे ठ् को इक् आदेश होता है (जिस शब्द से जो प्रत्यय किया जाता है, वह जिस समुदाय के आदि में है, ऐसे शब्दस्वरूप की उस प्रत्यय से परे रहने पर अंग संज्ञा होती है ।)

रैवतिकः—रेवत्या अपत्यं पुमान् (रेवती की पुरुष सन्तान) रेवती शब्द से "रेवत्यादिभ्यः" सूत्र से ठक् प्रत्यय, ठकार को इक् आदेश, आदि वृद्धि, 'यस्येति च' ईकार लोप होकर 'रैवतिकः' रूप बनता है ।

जनपदेतिः—जनपद वाचक शब्द से जो कि क्षत्रिय का भी वाचक हो अपत्यार्थ में अञ् प्रत्यय होता है ।

पाञ्चालः—पञ्चालानामपत्यं पुमान्—पञ्चाल—एक जनपद तथा क्षत्रिय जाति भी, उसकी पुरुष सन्तान । यहाँ पञ्चाल शब्द से अञ् प्रत्यय, आदिवृद्धिः, 'पाञ्चालः' सिद्ध होता है ।

जनपद शब्दात् क्षत्रियादञ् ।४।१।१६८।।

जन पद क्षत्रिय वाचकाच्छब्दादञ् स्यादपत्ये । पाञ्चालः ।

(वा) क्षत्रिय समान शब्दाज्जन पदात्तस्य राजन्य पत्यवत् । पञ्चालानां राजा-पाञ्चालः ।

(वा) पूरोरण् वक्तव्यः । पौरवः ।

(वा) पाण्डोर्ड्यण् । पाण्डलः ।

कुरुनादिभ्यो ण्यः ।४।१।१७२।।

कौरव्यः । नैषध्यः ।

ते तद्राजाः ।४।१।१७४।।

अञादय स्तद्राजसंज्ञाः स्युः ।

तद्राजस्य बहुषु तेनैवाऽस्त्रियाम् ।२।४।६२।।

वार्तिक-क्षत्रिय समानेति—जो जनपद वाचक शब्द समान रूप से क्षत्रिय जातिवाचक भी हो उससे अपत्यार्थ के राजा अर्थ में प्रत्यय हो ।

पाञ्चालः—पञ्चालानां राजा (पञ्चालों का राजा) यहाँ राजा अर्थ में जन-पद एवं क्षत्रिय जातिवाचक पञ्चाल शब्द से अञ् प्रत्यय, वृद्धि, पाञ्चालः ।

वार्तिक-**पूरोरिति**—पूरु शब्द से राजा अर्थ में अण् प्रत्यय हो ।

पौरवः—पुरुणां राजा—पुरु क्षत्रियों का राजा, यहाँ पुरु शब्द से अण् प्रत्यय, आदिवृद्धि, ओ र्गुणः, अवादेश होकर 'पौरवः' रूप बनता है ।

वार्तिक-पाण्डोरितिः—पाण्डु शब्द से राजार्थ में ड्यण् प्रत्यय हो (इस प्रत्यय में केवल य शेष रहता है, डित् होने से 'टि' का लोप होता है ।)

पाण्डयः—पाण्डूनांराजा-(याण्डुजनपद और उसके निवासी क्षत्रियों का राजा) पाण्डु से ड्यण् प्रत्यय, डित् होने से उकार इस 'टि' का लोप, वृद्धि होकर, पाण्डयः बनता है ।

कुरुनादिभ्य इतिः—कुरु और नकारादि जनपद तथा तत्रत्य क्षत्रिय शब्दों से सजा अर्थ में ण्य प्रत्यय हो ।

कौरव्यः—कुरुणां राजा इस विग्रह में कुरु शब्द से ण्य प्रत्यय, णित्त्वात् आदि वृद्धि, 'ओर्गुणः' गुण्, अवादेश होकर 'कौरव्यः' इसी प्रकार **नैषध्यः**—निषधानां राजा-निषध जनपद व तत्रत्य क्षत्रियों का राजा पूर्ववत् ण्य, वृद्धि, अन्त्याकार लोप होकर 'नैषध्यः' बनता है । (यह नकारादि जनपद वाचक है)

ते इतिः—अञ् आदि प्रत्ययों की तद्राज संज्ञा होती है ।

तद्राजस्येतिः—बहुत्व की विवक्षा में तद्राज संज्ञक प्रत्यय का लोप हो, यदि यह बहुत्व तद्राज संज्ञक प्रत्यय का ही हो । किन्तु स्त्रीलिङ्ग में नहीं होता ।

बहुष्वर्थेषु तद्राजस्य लुक्; तदर्थंकृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम् । इक्ष्वाकवः । पञ्चालाः इत्यादि ।

कम्वोजाल्लुक् ।४।१।१७५।।

अस्मात्तद्राजस्य लुक् । कम्वोजः । कम्वोजौ ।

(वा) कम्वोजादिभ्य इति वक्तव्यम् । चोलः । शकः । केरलः । यवनः ।

इत्यपत्याधिकारः

इक्ष्वाकवः—इक्ष्वाकूणां जनपद विशेषाणां राजा यहाँ जनपद शब्दादिति सूत्र से अञ् प्रत्यय, वृद्धि, उकार को गुण, अवादेश होकर एक वचन में 'ऐक्ष्वाकवः' रूप बनता है, पर इसका बहुवचन में तद्राजस्येति सूत्र से अञ् का लोप होने से वृद्धि की निवृत्ति भी हो जाती है तब इक्ष्वाकु इस शब्द का वहुवचन में रूप इक्ष्वाकवः वनता है। इसी प्रकार पञ्चाल शब्द का एक वचन में पाञ्चालः पर वहुवचन में अञ् के लोप होने पर पञ्चालाः रूप बनता है ।

कम्वोजादितिः—कम्वोज शव्द से तद्राज संज्ञक प्रत्यय का लोप होता है ।

कम्वोजः—कम्वोजानां राजा—कम्वोजों का राजा (कम्वोज शव्द जनपद एवं क्षत्रिय का भी वाचक है) यहाँ 'जनपद शव्दादिति' अञ् प्रत्यय उसका प्रकृत सूत्र से लोप होने से कम्वोजः ऐसा रूप वनेगा, अन्य वचनों में भी कम्वोज ही रहेगा कम्वोजौ कम्वोजा इत्यादि ।

वार्तिक-कम्वोजादिभ्य इति—कम्वोज आदिकों से तद्राज प्रत्यय का लोप कहना चाहिये ।

चोलः शकः—चोलानां शकानां जनपदानां क्षत्रियाणाम् व राजा, इस विग्रह में 'द्व्यञ मगध' इत्यादि सूत्र से अण् उसका प्रकृत वार्तिक से लोप होकर उक्त रूप बनेंगे ।

केरलः यवनः इन दोनों प्रयोगों जनपद शब्दादिति सूत्र से अञ् प्रकृत वार्तिक से उसका लोप होने पर उक्त रूप वनेंगे ।

इति अपत्याधिकारः

अथ रक्ताद्यर्थकाः

तेन रक्तं रागात् ।४।२।१।।

अण् स्यात् । रज्यतेऽने नेति-रागः । कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायम् ।

नक्षत्रेण युक्तः कालः ।४।२।३।।

अण् स्यात् ।

(वा) तिष्य पुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम् । पुष्येण युक्तम्—पौषम्-अहः ।

रक्ताद्यर्थक से तात्पर्य है कि इस प्रकरण में 'रँगा हुआ' इत्यादि अर्थो में तद्धित प्रत्यय बतलाये गये हैं ।

तेनेति—रागात् अर्थात् रंग विशेष वाची शब्द से 'उससे रँगा हुआ' इस अर्थ में अण् प्रत्यय हो ।

रज्यत इति—इससे रँगा जाता है अतएव रंग को राग कहा जाता है । सूत्र में राग शब्द का अर्थ है—रंगने की वस्तु—नीला पीला आदि रंग ।

काषायम्—कषायेण रक्तं वस्त्रम् (गेरुआ रंग से रंगा हुआ वस्त्र) इस विग्रह में कषाय शब्द से अण्, आदिवृद्धि, अन्त्याकार लोप होकर 'काषायम् रूप बनता है ।'

नक्षत्रेणेति—नक्षत्र से युक्त (सम्बद्ध) काल अर्थ में नक्षत्र वाचक शब्द से अण् प्रत्यय हो ।

वार्तिक—**तिष्येति**—उक्त अर्थ में नक्षत्र वाचक शब्द से विहित अण् परे रहते तिष्य और पुष्य शब्दों के यकार का लोप हो ।

पौषम्—पुष्येण युक्तम् (अहः) अर्थात् पुष्य नक्षत्र युक्त चन्द्रमा से युक्त दिन) यहाँ पुष्प (नक्षत्र वाचक) शब्द से नक्षत्रेणेति सूत्र से अण् प्रत्यय, आदिवृद्धि, अन्त्याकार लोप, पौष्य्+अ इस स्थिति में प्रकृत वार्तिक से यकार लोप होकर 'पौषम्' रूप बनता है ।

लुबविशेषे ।४।२।४।।

पूर्वेण विहितस्य लुप् स्यात् । षष्टि दण्डात्मकस्यकालस्यावान्तर विशेषश्चेन्न गम्यते । अद्य पुष्यः ।

दृष्टं साम ।४।२।७।।

तेनेत्येव । वसिष्ठेन दृष्टं वासिष्ठं साम ।

वामदेवाड्डयड्डयौ ।४।२।९।।

वामदेवेन दृष्टं साम वामदेव्यम् ।

परिवृतो रथः ।४।२।१०।।

अस्मिन्नर्थेऽण् प्रत्ययो भवति । वस्त्रेण परिवृतो वास्त्रो रथः ।

लुविति—पूर्व सूत्र से विहित (अण् प्रत्यय) का लोप हों, यदि साठ घड़ी (दण्ड) रूप काल का अवान्तर भेद (रात या दिन) का ज्ञान न हो ।

अद्य पुष्यः—अद्य पुष्येण युक्तः कालः—आज पुष्य-नक्षत्र युक्त चन्द्र युक्त काल है । इस अर्थ में पुष्य शब्द से नक्षत्रेणेति सूत्र से अण् प्रत्यय, प्रकृत सूत्र से उसका लोप होता है, यहाँ अद्य पुष्यः कहने से किसी रात या दिन आदि काल विशेष का पता नहीं लगता ।

दृष्टमिति—तेन—उसके द्वारा, दृष्टम्—देखा गया साम । इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ से अण् प्रत्यय हो ।

वासिष्ठम्—साम वसिष्ठेन दृष्टम् (वसिष्ठ के द्वारा ज्ञान द्वारा प्राप्त साम) इस विग्रह में अण्, वृद्धि अन्त्याकार लोप होकर वासिष्ठम् रूप बनता है ।

वामदेवादिति—पूर्वोक्त अर्थ में वामदेव शब्द से डयत् और डय प्रत्यय हो ।

वामदेव्यम्—वामदेवेन दृष्टं साम (वामदेव के द्वारा ज्ञान से उपलब्ध साम) पूर्ववत् डयत् एवं डय प्रत्यय करने पर वामदेव्यम् रूप बनता है । यहाँ डित्व सामर्थ्य से 'टेः' सूत्र से वकारोत्तरवर्ती 'अकार' इस 'टि' का लोप होता है । डयत् और डय दोनों में 'य' शेष रहता है, तित् होने से डयत् के परे 'स्वरित' होता है और डय के परे उदात्त स्वर होता है ।

'साम' मन्त्रविशेष का नाम है जिस ऋषि के द्वारा जो साम दृष्ट (ज्ञान दृष्टि से प्राप्त हुआ है) वह उसी के नाम से प्रचलित है ।

परिवृत इति—'तेन' की इसमें अनुवृत्ति है, अतः तेन=उसके द्वारा परिवृत्त (ढका हुआ) इस अर्थ में तृतीयान्त से अण् प्रत्यय होता है ।

वास्त्रो रथः—वस्त्रेण परिवृतः—वस्त्र से ढका हुआ रथ । यहाँ वस्त्र शब्द से अण्, वृद्धि, अन्त्याकारलोप होकर 'वास्त्रः' प्रयोग बना है ।

तत्रोद्धृत ममत्रेभ्यः ।४।२।१०।।

शरावें उद्धृतः शाराव ओदनः ।

संस्कृतं भक्षाः ।४।२।१३।।

सप्तम्यन्तादण् स्यात् संस्कृतेऽर्थे, यत्संस्कृतं भक्षाश्चेत्ते स्युः । भ्राष्ट्रेषु संस्कृता भ्राष्ट्राः यवाः ।

साऽस्य देवता ।४।२।२४।।

इन्द्रो देवताऽस्येति ऐन्द्रं हविः । पाशुपतम् । वार्हस्पत्यम् ।

शुक्राद्घन् ।४।२।२६।। शुक्रियम् ।

तत्रेति—अमत्र अर्थात् पात्र । 'जिसमें उठाकर रखा हुआ हो, इस अर्थ में पात्र वाचक शब्दों से अण् प्रत्यय हो ।

शाराव ओदन—शरावे उद्धृतः—सकोरे में उठाकर रखा गया ओदन इस अर्थ में शराब शब्द से अण् प्रत्यय, वृद्धि, अन्त्याकारलोप 'शारावः' रूप बनता है ।

संस्कृतमिति—'उसमें संस्कृत किया गया' इस अर्थ में सप्तम्यन्त समर्थ से अण् प्रत्यय हो, यदि संस्कृत किया गया पदार्थ भक्ष्य (खाने योग्य) हो ।

भ्राष्ट्रायवाः—भ्राष्ट्रेषु संस्कृताः—भाड़ में संस्कृत अर्थात् भुने हुये यव) इस अर्थ में सप्तम्यन्त भ्राष्ट्र शब्द से अण् प्रत्यय होकर 'भ्राष्ट्राः' बनता है, यहाँ भी अनावश्यक होते हुये भी पर्जन्य वल्लक्षण प्रवृत्तिः' न्याय के अनुसार आदि वृद्धि, तथा अन्त्याकार लोप होगा ।

सास्येति—वह इसका देवता है । इस अर्थ में प्रथमान्त देव वाची समर्थ पद से अण् प्रत्यय हो ।

ऐन्द्रंहविः—इन्द्रो देवता अस्य इन्द्र जिस का देवता हो ऐसा हवि) यहाँ इन्द्र शब्द से अण् प्रत्यय, आदि वृद्धि, अन्त्याकार लोप होकर 'ऐन्द्रम्' रूप बनता है ।

पाशुपतम्—पशुपतिः देवता अस्य-पशु पति शिव जिसके देवता हो ऐसा अस्त्र। यहाँ पशुपति शब्द से अण्, आदि धृद्धि, 'यस्येति च इकार लोप होकर उक्त रूप बनता है ।

वार्हस्पतम्—'वृहस्पतिः देवता अस्य'—वृहस्पति जिसके देवता हो ऐसा शास्त्र । यहाँ वृहस्पति शब्द से अण् ऋकार को आर् वृद्धि, इकार लोप होकर उक्त रूप बनता है ।

शुक्रादिति—शुक्र शब्द से उक्त अर्थ में घन् प्रत्यय हो ।

शुक्रियम्—शुक्रो देवताऽस्य—शुक्र जिसका देवता है । इस अर्थ में शुक्र शब्द से घन् प्रत्यय, 'आयन्—इत्यादि सूत्र से घ को इय् आदेश, अन्त्याकार लोप होकर 'शुक्रियम्' रूप बनता है ।

सोमाट्ट्यण् ।४।२।३०।। सौम्यम् ।

वाय्वृतुपित्रुषसो यत् ।४।२।३१।।

वायव्यम् । ऋतव्यम् ।

रीङ् ऋतः ।७।४।२७।।

अकृद्यकारे असार्वधातुके यकारे च्वौ च परे ऋदन्ताङ्गस्य रीङ्गादेशः स्यात् । 'यस्येति च' । पित्र्यम् । उषस्यम् ।

पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः ।४।२।३४।।

एते निपात्यन्ते । पितुर्भ्राता पितृव्यः । मातु र्भ्राता मातुलः । मातुः पिता मातामहः । पितुः पिता पितामहः ।

सोमादिति—सोम शब्द से उक्त अर्थ में ट्यण् प्रत्यय हो ।

सौम्यम्—सोमो देवताऽस्य—सोम जिसका देवता हो । इस अर्थ में सोम शब्द से ट्यण् प्रत्यय, आदि वृद्धि तथा अन्त्याकार लोप होकर 'सौम्यम्' रूप बनता है ।

वायु इति—वायु, ऋतु, पितृ और उषस् शब्दों से पूर्वोक्त अर्थ में यत् प्रत्यय हो ।

वायव्यम्—वायुः देवता अस्य, वायु जिसका देवता हो । इस अर्थ में प्रकृत सूत्र से यत् प्रत्यय, 'ओर्गुणः' उकार को ओ गुण, 'वान्तो यि प्रत्यये' से अवादेश होकर 'वायव्यम्' रूप बनता है ।

ऋतव्यम्—ऋतु देवता अस्य—जिसका देवता ऋतु हो । इस अर्थ में यत्, पूर्ववत गुणावादेश होकर उक्त रूप बनता है ।

रीङ् इति—कृत् तथा सार्वधातुक से भिन्न यकार और च्वि प्रत्यय परे रहने पर ह्रस्व ऋकारान्त अंग को रीङ् आदेश हो ।

पित्र्यम्—पितरो देवता अस्य पितर जिसका देवता हो, इस अर्थ में 'वायु' सूत्र से यत् प्रत्यय, ऋकारान्त अंग पितृ के ऋकार को प्रकृत सूत्र से रीङ् आदेश, 'पित् रीङ् यत्, पित्री+य इस दशा में 'यस्येति च' सूत्र से ईकार लोप होकर 'पित्र्यम्' रूप बनता है ।

उषस्यम्—उषाः देवता अस्य हविषः जिस हवि का उषा देवता है । इस अर्थ में 'वायु' इति सूत्र से यत् प्रत्यय हाकर 'उषस्यम्' रूप बनता है ।

पितृव्येतिः—पितृव्य (चाचा) मातुल (मामा) मातामह (नाना) पितामह (बावा या दादा) ये शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं ।

पितृव्यः—पितुर्भ्राता (पिता का भाई) यहाँ पितृ शब्द से निपातन से व्यत् प्रत्यय होकर 'पितृव्यः' बनता है ।

तस्य समूहः ।४।२।३७।।

काकानां समूहः काकम् ।

भिक्षादिभ्योऽण् ।४।२।३८।।

भिक्षाणां समूहो भैक्षम् । गर्भिणीनां समूहः—गार्भिणम् । इह—

(वा) भस्याढे तद्धिते । इति पुंवद्भावे कृते—

इन् अण्यनपत्ये ।६।४।१६४।।

(निपातन पाणिनीय पारिभाषिक शब्द है, जहाँ सूत्रों में शब्द के सिद्ध रूपों का पाठ कर दिया जाता है, वहाँ उन सिद्ध रूपों में प्रकृति, प्रत्यय, आदेश लोप आदि की आवश्यकतानुसार कल्पना कर ली जाती है और उन रूपों को सिद्ध मान लिया जाता है, इसी विधि का नाम निपातन है ।)

मातुलः—मातुः भ्राता (माता का भाई) यहाँ मातृ शब्द से निपातन से डुलच् प्रत्यय होता है और उसका 'उल' शेष रहता है डित् होने से 'ऋकार' इस 'टि' का लोप होकर 'मातुलः' रूप बनता है ।

मातामहः—मातुः पिता (माता का पिता) यहाँ मातृ शब्द से डामहच् प्रत्यय का निपातन किया जाता है, प्रत्यय का 'आमह' शेष रहता है, पूर्ववत् टि लोप होकर मातामहः, इसी प्रकार पितुः पिता (पिता का पिता) यहाँ डामहच् प्रत्यय होकर पूर्ववत् पितामहः रूप बनता है ।

तस्येतिः—'उसका समूह' इस अर्थ में षष्ठयन्त समर्थ से अण् प्रत्यय हो ।

काकम्—काकानां समूह (कौवों का समूह) काक शब्द से अण् प्रत्यय, आदि वृद्धि, अन्त्याकार लोप होकर 'काकम्' यह रूप सिद्ध होता है ।

भिक्षादिभ्य इति—भिक्षा आदि षष्ठयन्त शब्दों से समूह अर्थ में अण् प्रत्यय हो ।

'भैक्षम्'—भिक्षाणां समूहः (भिक्षा का समूह) यहाँ भिक्षा शब्द से अण्, वृद्धि, अन्त्याकार लोप होकर 'भैक्षम्' बनता है ।

गार्भिणाम्—गर्भिणीनां समूहः (गर्भिणियों का झुण्ड) गर्भिणी शब्द से अण्, आदि वृद्धि होकर । इह=यहाँ—

वार्तिक-भस्येतिः—ढभिन्न प्रत्यय परे रहते भसंज्ञक अंग को पुंवद्भाव हो ।

इस वार्तिक से गर्भिणी का पुंवद्भाव होने पर गार्भिन्+अ इस स्थिति में 'नस्तद्धिते' से इन् इस 'टि' का लोप प्राप्त था—

इनितिः—अपत्यार्थं भिन्न अण् परे रहते इन् प्रकृति से रहता है अर्थात् उसका

अनपत्येऽर्थेऽणि परे इन प्रकृत्या स्यात् । तेन 'नस्तद्धिते' इति टिलोपो न । युवतीनां समूहः—यौवनम् ।

ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् ।४।२।४३।।

तलन्तं स्त्रियाम् । ग्रामता, जनता, बन्धुता ।

(वा) गजसहायाभ्यां चेति वक्तव्यम् । गजता । सहायता ।

(वा) अह्नः खः क्रतौ । अहीनः ।

लोप नहीं होता । अत एव 'नस्तद्धिते' से टि लोप नहीं हुआ । तब नकार को णकार करने पर 'गार्भिणम्' रूप बनता है ।

यौवनम्—युवतीनाम् समूहः (युवतियों का समूह) यहाँ 'यूनस्ति' सूत्र से युवन शब्द से ति प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुये युवति शब्द से समूह अर्थ में अण् प्रत्यय, उक्तवार्तिक से पुंवद्भाव होकर युवन्+अण् इस स्थिति में णित्वात् आदि वृद्धि, तथा 'अन्' सूत्र से 'अन्' इस 'टि' का प्रकृतिभाव होकर 'यौवनम्' रूप बनता है ।

(यौवतम्—का भी प्रयोग इसी अर्थ में होता, अतः वहाँ शतृ प्रत्ययान्त युवत् शब्द से स्त्रीत्व विवक्षा में ङीप् प्रत्यय होकर यह 'युवती' दीर्घ ईकारान्त शब्द बनता है, इससे समूहार्थ में अण् प्रत्यय, तथा पुंवद्भाव होने से युवत्+अण् तब आदि वृद्धि होकर 'यौवतम्' भी रूप बनेगा ।)

ग्रामेतिः—ग्राम जन और बन्धु शब्दों से तल् प्रत्यय हो, समूह अर्थ में ।

तलन्तमितिः— तल् प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं अतः इनसे टाप् प्रत्यय जोड़ा जाता है ।

ग्रामताः—ग्रामणां समूहः (गावों का समूह) यहाँ ग्राम से तल् (त) स्त्रीलिङ्ग होने से टाप् (आ) होकर ग्रामता, इसी प्रकार जनताः—जनानां समूहः इस अर्थ में तल् प्रत्यय, टाप् होकर जनता, इसी प्रकार बन्धुताः—बन्धूनां समूहः इस अर्थ में तल् प्रत्यय, टाप् होकर उक्त रूप बनता है ।

वार्तिक-गजेतिः—गज और सहाय शब्दों से उक्त अर्थ में तल् प्रत्यय हो ।

गजताः—गजानां समूहः यहाँ गज शब्द से तल्, टाप् होकर गजता, इसी प्रकार सहाय शब्द से तल् तथा टाप् होकर सहायता रूप बनता है ।

वार्तिक—अह्नः इतिः—अहन् शब्द से समूह अर्थ में ख प्रत्यय हो, यदि उसका यज्ञ अर्थ वाच्य हो ।

अहीनः—अह्नां समूहेन साध्यः क्रतुः (अनेक दिनों में किया जाने वाला यज्ञ) यहाँ अहन् शब्द से ख प्रत्यय, 'आयन्' इत्यादि सूत्र से 'ख' को 'ईन' आदेश, 'नस्तद्धिते' से 'अन्' इस 'टि' का लोप होकर 'अहीनः' रूप बनता है ।

अचित्त हस्तिधेनोष्ठक् ।४।२।४७।।

इसु सुक्तान्तात् कः ।७।३।५१।।

इस्, उस्, उक्, तान्तात्परस्य ठस्य कः स्यात् । साक्तुकम् । हास्तिकम् । धैनुकम् ।

तदधीते तद्वेद ।४।२।५९।।

न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच् ।७।३।३।।

पदान्ताभ्यां यकारवकाराभ्यां परस्य न वृद्धिः किन्तु ताभ्यां पूर्वौक्रमा दैचावागमौ स्तः । व्याकरणमधीते वेद वा वैयाकरणः ।

अचित्तेति:—अचेतन वाची तथा हस्ति और धेनु शब्द से ठक् प्रत्यय हो, समह अर्थ में ।

इसितिः—जिन शब्दों के अन्त में इस्, उस्, उक् या तकार हों उनसे परे ठकार का ककार आदेश हो ।

साक्तुकम्—सक्तूनां समूहः (सक्तुओं का समूह) यहाँ सक्तु शब्द (अचित्त वाची शब्द) से ठक् प्रत्यय, 'उगन्त' (उक् प्रत्याहार इ उ) से परे ठक् प्रत्यय के ठकार को "इसु सु" इत्यादि सूत्र से क आदेश, 'किति च' से आदि वृद्धि होकर, साक्तुकम्' रूप बनता है ।

हास्तिकम्—हस्तिनां समूहः (हाथियों का समूह) यहाँ उगन्त (इकारान्त) हस्ति शब्द से उक्त सूत्र से ठक् प्रत्यय, 'इसुसु' सूत्र से ठकार को क आदेश, आदि वृद्धि, 'हास्तिकम्' रूप बनता है ।

धैनुकम्—धेनूनां समूहः (गायों का समूह) धेनु शब्द से ठक्, क आदेश, वृद्धि, 'धैनुकम्' रूप सिद्ध होता है ।

(यदि हास्तिकम् का विग्रह—हस्तिनीनां समूह यह किया जाय तो ठक् प्रत्यय होने पर 'भस्याढे तद्धिते से पुंवद्भाव होकर 'हास्तिकम्' ही रूप बनेगा ।)

तदधीतेः—'उसको पढ़ता या जानता है, इस विग्रह में द्वितीयान्त समर्थ से अण् आदि प्रत्यय होते हैं ।

न य्वाभ्यामितिः—पदान्त में स्थित यकार व वकार से परे अच् को वृद्धि न हो, अपितु उनसे (यकार वकार) से पूर्व क्रमशः ऐ, औ का आगम हो ।

वैयाकरणः—व्याकरणमधीते वेद वा—व्याकरण पढ़ता है या जानता है । इस अर्थ में तदधीते सूत्र से अण् प्रत्यय, णित् होने से प्राप्त आदिवृद्धि का "न य्वाभ्यामिति" से निषेध और यकार से पूर्व 'ऐ' का आगम, अन्त्याकार लोप होकर उक्त रूप बनता है ।

क्रमादिभ्यो वुन् । ।४।२।६१।।

क्रमकः । पदकः । शिक्षकः । मीमांसकः ।

(वि+आकरण' इस स्थिति में वि (उपसर्ग) पद है 'इ' को ही य् हुआ है, अतएव यहाँ यकार पदान्त है, उसके पूर्व को ऐच् का आगम हुआ अर्थात् व् ऐ य् आकरण इस स्थिति में वृद्धि भी आकार को प्राप्त थी। ऐचागमाभाव में वैयाकरणः रूप न बनता।)

क्रमदिभ्य इति—क्रम आदि द्वितीयान्त समर्थ पदों से उक्त अर्थ में वुन् प्रत्यय हो।

क्रमकः—क्रम मधीते वेद वा—क्रम (क्रम पाठ) पढ़ता या जानता है। यहाँ प्रकृत सूत्र से वुन् प्रत्यय, वु को अक आदेश अन्त्याकार लोप होकर क्रमकः रूप बनता है।

पदकः—पदमधीते वेद वा—'जो पद पाठ पढ़ता या जानता है। यहाँ पूर्ववत् सब कार्य होकर पदकः बनता है।

शिक्षकः—शिक्षामधीते वेद वा—जो शिक्षाशास्त्र पढ़ता या जानता है। यहाँ शिक्षा शब्द से वुन्, अकादेश, अन्त्यआकार लोप होकर शिक्षकः, मीमांसा मधीते वेद वा मीमांसक भी इसी प्रकार बनता है।

इति रक्ताद्यर्थकाः

अथ चातुरर्थिकाः

तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि ।४।२।६७।।

उदुम्वराः सन्त्यस्मिन् देशे औदुम्वरो देशः ।

तेन निर्वृत्तम् ।४।२।६८।।

कुशाम्वेन निर्वृत्ता नगरी कौशाम्वी ।

तस्य निवासः ।४।२।६९।।

चतुर्णाम् अर्थानां समाहारः—चतुरर्थी तत्र भवा चातुरर्थिकाः । इस प्रकरण में वह इसमें है वह देश' १. 'उसने वसाया' २. 'उनका निवास' ३. 'उससे जो दूर नहीं है' ४. इन चार अर्थों में प्रत्यय होंगे, अतएव इस प्रकरण का नाम चातुरर्थिक है ।

तदिति—'वह (वस्तु) इसमें (इस देश में) है ।' इस अर्थ में उस वस्तु वाचक प्रथमान्त समर्थ पद से, उक्त तथा वक्ष्यमाण अण् आदि प्रत्यय हो यदि प्रत्ययान्त शब्द देश वाचक हों ।

औदुम्वरो देश—उदुम्वराः सत्यस्मिन् देशे (गूलर इस देश में हैं) इस अर्थ में उदुम्वर इस प्रथमान्त शब्द से अण् प्रत्यय, आदिवृद्धि, अन्त्याकार लोप 'औदुम्वरः' रूप बनता है ।

तेनेति—उसके द्वारा निर्वृत्त=वसाया हुआ (देश विशेष) इस अर्थ में अण् आदि प्रत्यय हों ।

कौशाम्वी—कुशाम्वेन निर्वृत्ता नगरी (कुशाम्व नामक राजा द्वारा वसाई हुई नगरी) यहाँ कुशाम्व शब्द से अण् प्रत्यय आदि वृद्धि, अन्त्याकार लोप, ङीप् प्रत्यय होकर 'कौशाम्वी' रूप वनता है ।

तस्येति—षष्ठयन्त समर्थ पदों से 'निवास' इस अर्थ में अणादि प्रत्यय हों ।

शिबीनां निवासो देशः शैबः ।

अदूर भवश्च ।४।२।७०।।

विदिशाया अदूरभवं नगरम्—वैदिशम् ।

जनपदे लुप् ।४।२।८१।।

जनपदे वाच्ये चातुर्थिकस्य लुप् ।

लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने ।१।२।५१।।

लुपि सति प्रकृतिवल्लिङ्गवचने स्तः । पञ्चालानां निवासो जनपदः—पञ्चालाः । कुरवः । अङ्गाः । वङ्गाः । कलिङ्गाः ।

शैबः—शिबीनां निवासो देशः (शिबि नामक राजाओं का निवास-देश) यहाँ शिबि षष्ठयन्त पद से अण् प्रत्यय, आदिवृद्धि, अन्त्याकार लोप होकर 'शैबः' यह रूप बनता है ।

अदूरेति—अदूरभवः अर्थात् जो दूर न हो । इस अर्थ में पञ्चम्यन्त समर्थ पद से अण् आदि प्रत्यय हो ।

वैदिशम्—विदिशाया अदूरभवं नगरम्—विदिशा नामक नगरी से दूर न होने वाला नगर, यहाँ विदिशा शब्द से 'अदूरभव' इस अर्थ में अण् प्रत्यय आदि वृद्धि, अन्त्य आकार लोप होकर 'वैदिशम्' रूप बनता है ।

जनपदे इति—जनपद रूपी देश विशेष के वाच्य होने पर चातुर्थिक प्रत्यय का लोप हो ।

लुपीति—प्रत्यय का लोप होने पर प्रकृति के समान ही लिङ्ग और वचन हों ।

(सूत्र में 'युक्त' का अर्थ प्रकृति, व्यक्ति का लिङ्ग तथा वचन का वचन अर्थ है)

पञ्चालाः—पञ्चालानां निवासो जनपदः (पञ्चाल निवास जनपद) यहाँ पञ्चाल शब्द से 'तस्य निवासः' सूत्र से अण् प्रत्यय, यहाँ निवास जनपद है अतः 'जनपदे लुप्' सूत्र से अण् का लोप होने पर, शब्द के एक जनपद का नाम होने से एक वचन प्राप्त था पर लुपीति सूत्र से प्रकृतिवत् लिङ्ग और वचन का विधान होने से पञ्चाल शब्द के पुल्लिङ्ग होने, पुल्लिङ्ग और बहुवचन होने से बहुवचन होकर 'पञ्चालाः' ही रूप बनेगा ।

(पञ्चाल आदि जन पदों के नाम सदा पुल्लिङ्ग और बहुवचन में आते हैं)

इसी प्रकार कुरुणां निवासो जनपदः, अङ्गानां, वङ्गानाम्, कलिङ्गानाम् वा निवासो जनपदः इन विग्रहों में पूर्ववत् अण् प्रत्यय, लोप प्रकृतिवत् लिङ्ग, वचन होकर सभी उक्त रूप बनेंगे ।

वरणादिभ्यश्च ।४।२।८२।।

अजनपदार्थ—आरम्भः । वरणाना मदूरभवं नगरम्—वरणाः ।

कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप् ।४।२।८७।।

झयः ।८।३।१०।।

झयन्तान्मतो मस्य वः । कुमुद्वान् । नड्वान् ।

मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ।८।२।९।।

मवर्णावर्णान्तान्मवर्णा वर्णोपधाच्च यवादिवर्जितात्परस्य मतोर्मस्य वः । वेतस्वान् ।

वरणादिभ्य इति—वरण आदि शब्दों से परे चातुरर्थिक प्रत्यय का लोप हो ।

अजनेति—जनपद वाचक से भिन्न अर्थ में लोप करने के लिये यह सूत्र वनाया गया है (अन्यथा उक्त सूत्र से लोप सिद्ध ही था ।)

वरणाः—वरणाना मदूरभवं नगरम्—यहाँ 'वरण' से अण् प्रकृत सूत्र से उसका लोप, शेष कार्य पूर्ववत् होकर 'वरणाः' रूप वनता है ।

कुमुदेति—कुमुद नड और वेतस शब्दों से सप्तम्यर्थ में ड्मतुप् (मत्) प्रत्यय होता है ।

झयः इतिः—झयन्त से परे 'मतु' के मकार को वकार होता है ।

कुमुद्वान्—कुमुदाः सन्त्यस्मिन्न देशे (जिस देश में कुमुद हों) यहाँ कुमुद शब्द से ड्मतुप् (मत्) प्रत्यय, प्रत्यय के डित् होने से 'टेः' से दकारोत्तरवर्ती अकार का लोप, 'झयः' सूत्र से प्रत्यय के मकार को वकार होकर 'कुमुद्वत्' इस तकारान्त शब्द से प्र० एक व० में 'कुमुद्वान्' रूप वनता है ।

नड्वान्—नडाः सन्ति अस्मिन्न देशे, जिस देश में नड=नरकुल होते हैं । यहाँ नड शब्द से पूर्ववत् 'नड्वान' रूप वनता है ।

मादिति—मवर्णान्त और अवर्णान्त तथा मवर्णोपध और अवर्णोपध शब्दों से परे 'मतु' के मकार को वकार हो यवादि परे रहते न हो ।

(सूत्र में 'मात्' का अर्थ मकार और अवर्ण है क्योंकि यहाँ मकारश्च अकारश्च अनयोः समाहारः मः तस्मात् 'मात्' यह विग्रह है ।)

वेतस्वान्—वेतसाः सन्ति यत्र देशे जिस देश में वेतस (बेंत) हों । यहाँ वेतस शब्द से प्रकृत सूत्र से ड्मतुप् (मत्) प्रत्यय डित्वसामर्थ्य से सकारोत्तरवर्ती अकार का लोप, तब अवर्णोपध होने से प्रवृत सूत्र से मकार को वकार 'वेतस्वत्' शब्द से वेतस्वान्' रूप वनता है ।

नडशादाड्ड्वलच् ।४।२।८८।।

नड्वलः । शाड्वलः ।

शिखाया वलच् ।४।२।८९।।

शिखावलः ।

इति चातुरर्थिकाः

नडेति—नड और शाद शब्द से उक्त अर्थ में ड्वलच् प्रत्यय हो ।

नड्वलः—नडाः सन्त्यस्मिन् देशे (नड जिस देश में हों) नड शब्द से प्रकृत सूत्र ड्वलच् (वल) प्रत्यय, डित्वसामर्थ्य से अकार 'टि' लोप होकर नड्वलः, इसी प्रकार शाद शब्द से शाड्वलः शादाः सन्त्यस्मिन् देशे (जिस देश में हरी घास अधिक हो) रूप बनता है।

शिखाया इति—शिखा शब्द से उक्तार्थ में वलच् प्रत्यय हो ।

शिखावलः—शिखाः सन्त्यस्मिन् देशे (जिस देश में शिखा अधिक हों) शिखा शब्द से वलच् (वल) प्रत्यय होकर 'शिखावलः' रूप बनता है ।

इति चातुरर्थिकाः

अथ शैषिकाः

शेषे ।४।२।९२।।

अपत्यादि चतुरर्थ्यन्तादन्योऽर्थः शेष स्तत्राणादयः स्युः। चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषम्-रूपम्। श्रावणः-शब्दः। औपनिषदः पुरुषः। दृषदि पिष्टा दार्षदाः-सक्तवः चतुर्भिरुह्यते चातुरं-शकटम्। चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशम्-रक्षः। 'तस्य विकारः' इत्यतः प्राक् शेषाधिकारः।

शेष अर्थों में होने वाले प्रत्यय शैषिक कहलाते हैं।

शेष इति—अपत्य अर्थ से लेकर चतुरर्थी तक के प्रत्ययों से भिन्न अर्थ शेष है, उस शेष अर्थ में अण् आदि प्रत्यय हों।

चाक्षुषम्—चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषम्-रूपम् जो चक्षु से ग्रहण किया जाय वह रूप चाक्षुष कहलाता है। यहाँ इस विग्रह में चक्षुप् शब्द से ग्रहण अर्थ में अण् प्रत्यय तथा आदि वृद्धि होकर 'चाक्षुषम्' रूप बनता है।

श्रावणः—श्रवणेन गृह्यते (जो श्रवण-कान-से गृहीत होता है वह शब्द) श्रवण+अण्, वृद्धि='श्रावणः'।

औपनिषदः—उपनिषद्भिः प्रतिपादितः—जिसका उपनिषदों द्वारा प्रतिपादन किया गया हो वह पुरुष) उपनिषद्+अण् आदिवृद्धि, 'औपनिषदः'।

दार्षदाः—दृषदि पिष्टाः—पत्थर से पिसे हुये सत्तू। दृषद्+अण्, वृद्धि (ऋकार को आर्) 'दार्षदाः सक्तवः'।

चातुरम्—चतुर्भिरुह्यते—जो चार से ले जाया जाता है ऐसा शकट। चतुर्+अण्, वृद्धि, 'चातुरम्'।

चातुर्दशम्—चतुर्दश्यां दृश्यते—चतुदर्शी में दिखाई देने वाला राक्षस। चतुर्दशी+अण्, वृद्धि, 'यस्येति च' अन्त्य ईकार लोप होकर 'चातुर्दशम्' रूप बनता है।

राष्ट्राऽवारपाराद्घखौ ।४।२।९३।।

आभ्यां क्रमाद् घखौ स्तः शेषे । राष्ट्रे जातादिः-राष्ट्रियः । अवारपारीणः ।

(वा) अवार पाराद्वि गृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम् ।

अवारीणः । पारीणः । पारावारीणः । इह प्रकृति विशेषाद् घादयष्टयुट्युलन्ताः प्रत्यया उच्यन्ते, तेषां जातादयोऽर्थ विशेषाः समर्थ विभक्तयश्च वक्ष्यन्ते ।

ग्रामाद् यखञौ ।४।२।९४।।

ग्राम्यः । ग्रामीणः ।

'तस्य विकारः इति'—'तस्य विकारः' इस सूत्र से पहिले तक 'शेषे' इस सूत्र का अधिकार है ।

राष्ट्रेति—राष्ट्र और अवारपार शब्द से क्रमशः घ और ख प्रत्यय हों ।

राष्ट्रियः—राष्ट्रे जातः भवः आदि (राष्ट्र में उत्पन्न हुआ) राष्ट्र शब्द से घ 'प्रत्यय, 'आयन्' इत्यादि सूत्र से घकार को इय् आदेश, अन्त्याकार लोप, 'राष्ट्रियः' रूप सिद्ध होता है ।

अवारपारीणः—अवारपारंगतः—वार पार जो जा चुका हो—पारङ्गत । अवार पार शब्द से ख प्रत्यय, ख को ईन आदेश, अन्त्याकार लोप, णत्व होकर 'अवारपारीणः' रूप बनता है ।

वार्तिक—अवारपरादिति—पृथक् किये हुये अवारपार (अवार और पार) तथा विपरीत किये हुये (पार और अवार) शब्दों से भी ख प्रत्यय कहना चाहिये ।

अवारीणाः—अवारे जातः, अवार+ख, ईन, णत्व, अवारीणः, पारे जातः—पारीणः' पारावारे जातः पारावारीणः रूप बनते हैं ।

इहेति—यहाँ प्रकृति विशेष (राष्ट्र आदि) से घ आदि प्रत्ययों से लेकर टयु-टयुल् (सायं चिरं०) सूत्र पर्यन्त जितने प्रत्यय कहे गये हैं, उनके लिये 'तत्र जातः' आदि सूत्रों द्वारा केवल अर्थ एवं उनके लिये समर्थ विभक्तियों का आगे निर्देश किया जायेगा अर्थात् आगे के सूत्रों का, प्रत्यय विधायक एवं अर्थ विधायक सूत्रों की एक वाक्यता से, अर्थ किया जायेगा अतः सर्वत्र प्रकृति प्रत्यय अर्थ आदि का एक ही सूत्र में विधान न मिलने से कोई अर्थ विप्रतिपत्ति न समझनी चाहिए ।

ग्रामेति—सप्तम्यन्त समर्थ ग्राम शब्द से जातः, भवः, आदि अर्थ में य और खञ् प्रत्यय हों ।

ग्राम्यः—ग्रामे जातादिः (ग्राम में उत्पन्न हुआ) ग्राम शब्द से यत् प्रत्यय, अन्त्याकार लोप होकर ग्राम्यः, खञ् प्रत्यय तथा ईन आदेश होकर ग्रामीणः रूप बनता है ।

नद्यादिभ्यो ढक् ।४।२।९७।।

नादेयम् । माहेयम् । वाराणसेयम् ।

दक्षिणा पश्चात् पुरसस्त्यक् ।४।२।९८।।

दाक्षिणात्यः । पाश्चात्यः । पौरस्त्यः ।

द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् ।४।२।१०१।।

दिव्यम् । प्राच्यम् । अपाच्यम् । उदीच्यम् । प्रतीच्यम् ।

अव्ययात्त्यप् ।४।२।१०४।।

नद्यादिभ्य इति—नदी आदि शब्दों से ढक् प्रत्यय हो ।

नादेयम्—नद्यां जातं भवं वा (नदी में उत्पन्न नदी शब्द से ढक् प्रत्यय, किरवात् आदि वृद्धि, ढकार को एय् आदेश, ईकार लोप होकर नादेयम्, इसी प्रकार मह्यां जातं भवं वा (पृथिवी में उत्पन्न) मही+ढक्, आदि वृद्धि, एय् आदेश, ईकार लोप=माहेयम्, 'वाराणस्यां जातं भवं वा' । वाराणसी+ढक्, एय् आदेश, ईकार लोप 'वाराणसेयम्' रूप बनते हैं ।

दक्षिणेति—दक्षिणा पश्चात् पुरस् शब्दों से शैषिकत्यक् प्रत्यय हो ।

दाक्षिणात्यः—दक्षिणा जातः दाक्षिणात्यः (दक्षिण में उत्पन्न हुआ) यहाँ दक्षिणा शब्द से त्यक् प्रत्यय, किरवात् आदि वृद्धि होकर 'दाक्षिणात्यः' रूप बनता है । यहाँ 'दक्षिणादाच्' सूत्र से आच् प्रत्यायान्त दक्षिणा शब्द अव्यय है ।

पाश्चात्त्य—पश्चात् भवः जातः वा यहाँ पश्चात् से त्यक्, वृद्धि, पाश्चात्यः, 'पुरो भवः जातः वा' (पूर्व में हुआ) यहाँ पुरस् से त्यक्, आदिवृद्धि होकर 'पौरस्त्यः' बनता है ।

द्युप्रागिति—दिव्, प्राच्, अपाच्, उदच्, और प्रतीच् इन सप्तम्यन्त शब्दों से भवादि अर्थ में यत् (शैषिक) प्रत्यय हो ।

दिव्यम्—दिवि जातम् आदि (स्वर्ग में हुआ) दिव् शब्द से यत् प्रत्यय होकर दिव्यम् रूप बनता है ।

प्राच्यम्—प्राच्यां प्राग् वा भवं जातं वा (पूर्व में होने वाला पूर्वीय) प्राच्+यत्=प्राच्यम् । इसी प्रकार अपाच्यां भवं (दक्षिण दिशा में उत्पन्न होने वाला) अपाच्+यत्=अपाच्यम्, उदीच्यां भवम् आदि—(उत्तर दिशा में होने वाला) उदीच्+यत्=उदीच्यम्, प्रतीच्यां भवम् इत्यादि (पश्चिम दिशा में होने वाला) प्रतीच्+यत्=प्रतीच्यम् आदि रूप बनते हैं ।

अव्ययादिति—अव्यय शब्दों से भवादि अर्थ में त्यप् प्रत्यय हो ।

(वा) अमेहक्वतसित्रेभ्य एव । अमात्यः । इहत्यः । क्वत्यः । ततस्त्यः । तत्रत्यः ।

(वा) त्यब्नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम् । नित्यः ।

'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् ।१।१।७३।।

यस्य समुदायस्याचां मध्ये आदिर्वृद्धिस्तद् वृद्ध संज्ञं स्यात् ।

त्यदादीनि च ।१।१।४७।।

वृद्ध संज्ञानि स्युः ।

वृद्धाच्छः ।४।२।१४४।।

शालीयः । मालीयः । तदीयः ।

वार्तिक—अमेहेति—अमा (सह) इह (यहाँ) क्व, तसिल् प्रत्ययान्त-यतः अतः आदि, और त्र प्रत्ययान्त तत्र अत्र आदि अव्ययों से ही त्यप् प्रत्यय कहना चाहिये ।

अमात्यः—अमा=सह भवः (साथ होने वाला अर्थात् मन्त्री, क्योंकि वह सामयिक परामर्श के लिये सदा राजा के साथ रहता है) अमा+त्यप्=अमात्यः । इसी प्रकार,

इहत्यः—इह भवः (यहाँ वाला) इहत्यः क्व+त्यप्=क्वत्यः (कहाँ का) तसन्त-ततः से ततस्त्यः (वहाँ का) त्र-प्रत्ययान्त—तत्र से तत्रत्यः (वहाँ होने वाला) रूप बनते हैं।

वार्तिक—त्यब्नेरिति—नि उपसर्ग से ध्रुव अर्थ में त्यप् प्रत्यय हो ।

नित्यः—(स्थायी) नि+त्यप्—'नित्यः' बनता है ।

वृद्धिरिति —जिस समुदाय के स्वरों में आदि स्वर वृद्धि संज्ञक (आ ऐ औ) हो उस समुदाय (शब्द) को वद्ध संज्ञा हो ।

त्यदादीनीति—त्यद् आदि शब्दों की भी वृद्ध संज्ञा हो ।

वृद्धादिति—वृद्ध संज्ञक से छ प्रत्यय हो ।

शालीयः—शालायां भवः जातः वा (शाला में होने वाला) यहाँ शाला शब्द के आदि शा में आकार वृद्ध संज्ञक होने इस शाला शब्द की वृद्धिरिति सूत्र से वृद्ध संज्ञा है अतः प्रकृत सूत्र से छ प्रत्यय, छकार को ईय आदेश, अन्त्य आकार लोप होकर शालीयः । इसी प्रकार माला शब्द से माला+छ, ईय्, आकार लोप, मालीयः रूप बनेगा ।

तदीयः—तस्य अयम् (उसका यह) तद् शब्द के त्यद् आदि शब्दों में पठित होने के कारण तद् शब्द की प्रकृत सूत्र से वृद्ध संज्ञा होने से वृद्धाच्छः सूत्र से छ प्रत्यय, छ, को ईय् आदेश होकर 'तदीयः' रूप बनता है ।

(वा) वा नामधेयस्य वृद्ध संज्ञा वक्तव्या । देवदत्तीयः । दैवदत्तः ।

गहादिभ्यश्च ।४।२।१३८।।

गहीयः ।

युस्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च ।४।३।१।।

चाच्छः, पक्षेऽण् । युवयोर्युस्माक् वाऽयम् । युष्मदीयः । अस्मदीयः ।

तस्मिन्नणि च युस्माकास्माकौ ।४।३।६।।

युस्मदस्मदो रेतावा देशौ स्तः खञि अणि च । यौष्माकीणः । आस्माकीनः यौस्माकः । आस्माकः ।

वार्तिक वा नामधेयस्येति—किसी व्यक्ति विशेष के नाम की वृद्ध संज्ञा विकल्प से हो ।

देवदत्तीयः—देवदत्तस्य अयम् इस अर्थ में प्रकृत वार्तिक से वृद्ध संज्ञा, वृद्धाच्छः से छ प्रत्यय, ईय्, आकारलोप होकर 'देवदत्तीयः', वृद्ध संज्ञाभाव पक्ष में अण् प्रत्यय, आदिवृद्धि, अकारलोप होकर 'दैवदत्तः' रूप बनेगा ।

गहादिभ्य इति—गह आदि शब्दों से भी छ प्रत्यय हो ।

गहीयः—गहे जातः (गह एक देश विशेष है, वहाँ होने वाला) गह+छ, ईय्, अकारलोप होकर उक्त रूप बनता है ।

युस्मदस्मदोरिति—युस्मद् और अस्मद् शब्द से विकल्प से खञ् प्रत्यय हो ।

चादिति—चकार ग्रहण करने से छ प्रत्यय भी हो और पक्ष में अण् प्रत्यय भी हो ।

युष्मदीयः—युवयाः युष्माकं वा अयम् (तुम दोनों का या तुम सब का) इस अर्थ में युष्मद् शब्द से छ प्रत्यय ईय् आदेश होकर 'युष्मदीयः' आवयोरस्माकं वा अयम् इस विग्रह में अस्मद् शब्द से छ प्रत्यय होकर 'अस्मदीयः' बनेगा ।

तस्मिन्निति—उस खञ् और अण् प्रत्यय परे रहते युस्मद् और अस्मद् शब्दों को क्रमशः युष्माक और अस्माक आदेश हों ।

यौस्माकीणः—युवयोर्युष्माकं वा अयम् इस विग्रह में पूर्व सूत्र से युष्मद् शब्द से खञ् प्रत्यय होने पर प्रकृत सूत्र से युस्मद् शब्द को युष्माक आदेश, खकार को ईन आदेश, आदिवृद्धि, अकारलोप, णत्व होकर 'यौष्माकीणः' इसी प्रकार अस्मद् शब्द से खञ्, अस्माक आदेश, वृद्धि, अकारलोप होकर 'आस्माकीनः' पक्ष में अण् होने पर युस्मद्+अण्, प्रकृत सूत्र से युष्माक आदेश, वृद्धि, अन्त्याकारलोप होकर यौष्माकः, अस्मद् शब्द से अण् प्रत्यय होकर पूर्ववत् अस्माक आदेश, वृद्धि आदि होकर 'आस्माकः' इस प्रकार छ, खञ् अण् इन तीन प्रत्ययों के परे युस्मद् अस्मद् शब्दों

तवकममकावेक वचने ।४।३।३।।

एकार्थवाचिनोर्युस्मदस्मदोस्तवकममकौ स्तः खञि अणि च । तावकीनः, तावकः । मामकीनः, मामकः । छेतु—

प्रत्ययोत्तरपदयोश्च ।७।२।९८।।

मपर्यन्तयोरेकार्थ वाचिनो स्त्वमौ स्तः प्रत्यये उत्तरपदे च परतः । त्वदीयः । मदीयः त्वत्पुत्रः । मत्पुत्रः ।

मध्यान्मः ।४।३।८।।

मध्यमः ।

के द्विवचन और बहुवचन से क्रमशः युस्मदीयः, अस्मदीयः, यौष्माकीणः, अस्माकीनः । यौष्माकः, आस्माकः' ये रूप बनते हैं ।

तवकेति—एकार्थ वाचक युस्मद् और अस्मद् शब्द को तवक और ममक आदेश हों खञ् और अण् परे रहते ।

तावकीनः, तावकः—तव अयम्, यहाँ युस्मद् से खञ् तथा अण् प्रत्यय, प्रकृत सूत्र से तवक आदेश, खकार को ईन आदेश, आदिवृद्धि, तावकीनः, अण् परे भी आदिवृद्धि, अन्त्याकारलोप होकर तावकः, इसी प्रकार अस्मद् शब्द से खञ् प्रत्यय होने पर प्रकृत सूत्र से ममक आदेश, वृद्धि आदि होकर मामकीनः, अण् प्रत्यय होने पर वृद्धि आदि होकर पूर्ववत् 'मामकः' रूप बनते हैं ।

छे तु—छ प्रत्यय होने पर तोः—

प्रत्ययोत्तर पदयोरिति—एकार्थ वाचक युस्मद् तथा अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त भाग को त्व और म आदेश हों प्रत्यय और उत्तर पद परे रहते ।

त्वदीयः मदीयः—तव अयम्, मम अयम् इस विग्रह युस्मद् तथा अस्मद् से छ प्रत्यय, प्रत्यय परे रहते प्रकृत सूत्र से दोनों के मपर्यन्त भाग को क्रमशः त्व और म आदेश त्वद्+छ, मद्+छ, ईय आदेश होकर त्वदीयः मदीयः रूप बनते हैं ।

(युस्मद् और अस्मद् शब्द त्यदादि शब्दों के अन्तर्गत हैं अतः इनकी 'त्यदादीनि च' सूत्र से वृद्ध संज्ञा होकर 'वृद्धाच्छः' सूत्र से छ प्रत्यय होता है ।)

त्वत्पुत्रः मत्पुत्रः—(तेरा पुत्र, मेरा पुत्र) ये दोनों उत्तर पद के उदाहरण हैं, वास्तव में उत्तरपद समास के चरमावयव में रूढ़ है अतः तद्धित में उसके उदाहरण न मिलेंगे, इसलिये यहाँ षष्ठी तत्पुरुष समास होने पर उत्तर पद पुत्र के परे रहते प्रकृत सूत्र से मपर्यन्त युस्मद् और अस्मद् को क्रमशः त्व और म आदेश करने पर त्वत्पुत्रः और मत्पुत्रः रूप बनते हैं ।

मध्यादिति—मध्य शब्द से भवादि अर्थ में शैषिक म प्रत्यय हो ।

कालाट् ठञ् ।४।३।११।।

कालवाचिभ्यष्ठञ् स्यात् । कालिकम् । मासिकम् । सांवत्सरिकम् ।

(वा) अव्ययानां भमात्रे टिलोपः । सायंप्रातिकः । पौनः पुनिकः ।

प्रावृष एण्यः ।४।३।१७।।

प्रावृषेण्यः ।

सायं चिरं प्राह्णे प्रगेऽव्ययेभ्यष्टयुटयुलौ तुट् च ।४।३।२३।।

सायमित्यादिभ्यश्चतुर्भ्योऽव्ययेभ्यश्चकालवाचिभ्यष्टयुटयुलौ स्तस्तयो स्तुट् च । सायन्तनम् । चिरन्तनम् । प्राह्णे-प्रगेऽनयो रेदन्तत्वं निपात्यते । प्राह्णेतनम् । प्रगेतनम् । दोषातनम् ।

मध्यमः—मध्ये भवः यहाँ मध्य शब्द से म प्रत्यय होकर 'मध्यमः' बनता है ।

कालादिति—काल शब्द से और काल वाचक सप्तम्यन्त शब्द से उक्तार्थ में ठञ् प्रत्यय हो ।

कालिकम्—काले भवम् जातम् वा (समय पर होने वाला) काल शब्द से प्रकृत सूत्र से ठञ् प्रत्यय, 'ठस्येकः' से ठकार को इक् आदेश, वृद्धि, अकारलोप होकर 'कालिकम्' इसी प्रकार मासे भवम् मासिकम्, मास+ठञ्, इक्, वृद्धि, अन्त्याकार लोप होकर "मासिकम्" सम्वत्सरे भवम् (सम्वत्सर में होने वाला) सम्वत्सर+ठञ्, इक, वृद्धि, आकारलोप होकर साम्वत्सरिकम् रूप बनता है ।

वार्तिक अव्ययानामिति—भ संज्ञा होने पर सर्वत्र अव्ययों की टि का लोप हो ।

सायंप्रातिक—सायंप्रातर्भवः—सांझ सवेरे होने वाला । सायंप्रातर् अव्यय से कालाट्ठञ् सूत्र से ठञ् प्रत्यय, इक् आदेश, भ संज्ञा, आदिवृद्धि, प्रकृत वार्तिक से 'अर्' इस 'टि' का लोप होकर 'सायंप्रातिकः' सिद्ध होता है ।

पौनः पुनिकः—पुनः पुनर्भवः—वार-वार होने वाला । पुनः पुनर् अव्यय से ठञ्, इक्, वृद्धि, वार्तिक से अर् टि लोप होकर पौनःपुनिकः रूप बनता है ।

प्रावृष इति—काल वाचक प्रावृष् (वर्षा ऋतु) शब्द से एण्य प्रत्यय हो ।

प्रावृषेण्यः—प्रावृषि भवः (वर्षा में होने वाला) प्रावृष् शब्द से प्रकृत सूत्र से एण्य प्रत्यय होकर 'प्रावृषेण्यः' रूप बनता है ।

सायमिति—सायं चिरं प्राह्णे प्रगे और काल वाचक अव्ययों से भवार्थ में टयु तथा टयुल् प्रत्यय हों और उनको तुट् का आगम भी हो ।

(इन दोनों प्रत्ययों का यु शेष रहता है उसे अन आदेश होता है । दोनों प्रत्ययों से स्वरों में भेद है । तुट् आगम में जो कि टयु टयुल् प्रत्ययों के यु के स्थान में अन आदेश करने पर उसके आदि में होता है, केवल 'त्' शेष रहता है ।

तत्र जातः ।४।३।२५।।

सप्तमी समर्थाज्जात इत्यर्थेऽणादयो घादयश्च स्युः । स्रुघ्ने जातः स्रौघ्नः । उत्से जातः औत्सः । राष्ट्रे जातः राष्ट्रियः । अवार पारे जातः—अवारपारीणः इत्यादि ।

प्रावृषष्ठप् ।४।३।२६।।

एण्यापवादः । प्रावृषिकः ।

सायम् और चिरम् शब्द अव्यय भी हैं और साय तथा चिर सुवन्त भी । जब सुवन्त साय और चिर से प्रत्यय (टयु टयुल्) होते हैं तो ये निपातन से मान्त हो जाते हैं, और जब ये सायम् एवम् चिरम् ये अव्यय है तब भी इन से प्रत्यय होकर वही रूप बनते हैं, सुवन्त साय आदि तथा अव्यय सायम् आदि समानार्थक ही है ।

सायन्तनम्—साये भवं—(सायं काल में होने वाला) यहाँ सुवन्त साय से टयु टयुल् प्रत्यय होने पर, प्रत्ययों के साथ निपातन से साय का मकारान्त रूप हो जाता है तब सायम्+टयु या टयुल् इस स्थिति में यु को अन आदेश, अन के आदि तुट् का आगम, सायम्+त्+अन=सायन्तन से सायन्तनम् रूप बनता है और जब सायम् यह मान्त अव्यय ही है तब भी प्रत्ययादि सब कार्य पूर्ववत् होकर 'सायन्तनम्' बनेगा, इसी प्रकार चिरे भव—(देर में होने वाला) इस अर्थ में चिरन्तनम् रूप बनेगा ।

प्राह्णेतनः—प्राह्णे भवम् जातम् वा (पूर्वाह्ण में हुआ) प्राह्ण शब्द से टयु टयुल् प्रत्यय करने पर निपातन से एकारान्तता होगी अर्थात् प्राह्णे ऐसा रूप बन जायेगा शेष कार्य पूर्ववत् होकर प्राह्णेतनम् और इसी प्रकार प्रगेतनम् (प्रगेप्रातः काले जातम्) रूप बनेगा ।

प्राह्णे और प्रगे ये दोनों निपातन से एकारान्त हो जाते हैं ।

दोषातनम्—दोषा जातम् (रात में होने वाला) कालवाचक अव्यय दोषा शब्द से टयु टयुल् प्रत्यय तथा तुट् आगम होकर पूर्ववत् 'दोषातनम्' रूप बनेगा ।

तत्रेतिः—सप्तम्यन्त समर्थ से 'उत्पन्न हुआ' इस अर्थ में अण् आदि और घ आदि प्रत्यय हों ।

स्रौघ्नः—स्रुघ्ने जातः (स्रुघ्न नामक देश में उत्पन्न हुआ) इस अर्थ में अण् प्रत्यय होकर 'स्रौघ्नः' रूप बना है ।

औत्सः—उत्से जातः (उत्स उस गर्त या कुण्ड को करते हैं जहाँ पर्वत से पानी गिरकर एकत्र होता है, वहाँ उत्पन्न हुआ) यहाँ भी अण् होकर 'औत्सः' रूप बनेगा ।

राष्ट्रियः—राष्ट्रे जातः इस विग्रह में घ प्रत्यय होकर पूर्ववत् रूप बनेगा ।

प्रावृष इतिः—प्रावृषि जातः (वर्षा में उत्पन्न हुआ) प्रावृष् शब्द से प्रकृत सूत्र से ठप् प्रत्यय, 'ठस्येकः' से ठ को इक् आदेश होकर प्रावृषिकः रूप बनेगा ।